गोकुलदास-संस्कृत-ग्रन्थमालायाः
द्वितीयं पुष्पम्

महाकविश्रीहर्षप्रणीतम्

नैषधचरितमहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृतजीवातुसहितम्

[प्रथमः सर्गः]

व्याख्याकार एवं टीकाकार
आचार्य डॉ० सुरेन्द्र देव शास्त्री

…म्भा ओरियन्टालिया
मूल्य रु० ६-००   भारत

गोकुलदास-संस्कृत-ग्रन्थमालायाः

द्वितीयं पुष्पम्

महाकविश्रीहर्षप्रणीतम्

नैषधचरितमहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृतजीवातुसहितम्

[प्रथमः सर्गः]

[आलोचनात्मक भूमिका, सान्वय संस्कृत, हिन्दी व्याख्या एवं आवश्यक टिप्पणियों सहित]

व्याख्याकार एवं टीकाकार

आचार्य डॉ० सुरेन्द्र देव शास्त्री

'शिरोमणि', बी० ए० एम० एस०,

एम० ए० (संस्कृत), एम० ए० (हिन्दी), पी-एच० डी०

अध्यक्ष

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

श्री मु० म० टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया

चौखम्भा ओरियन्टालिया

वाराणसी भारत

GOKULDAS SANSKRIT SERIES
No. 2

NAIṢADHACARITA

(MAHĀKĀVYA)

OF

ŚRĪHARṢA

With

THE JĪVĀTU COMMENTARY OF MALLINĀTHA

CANTO I

Edited with

Introduction, Prose order, Sanskrit & Hindi

Commentaries and Notes

BY

Dr. SURENDRA DEVA ŚĀSTRĪ

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
VARANASI INDIA

प्राक्कथन

'नैषध महाकाव्य' के प्रथम सर्ग की व्याख्यात्मक टीका लिखने का प्रयास मुझे अनेक कारणोंवश करना पड़ा। एम० ए० के छात्रों का तो इसके लिये आग्रह था ही, साथ ही मेरे द्वारा लिखित [१—काव्य-मीमांसा, २—कठोपनिषद्, ३—ईशोपनिषद्, ४—माण्डूक्योपनिषद्, ५—अभिज्ञानशाकुन्तल, ६—अभिज्ञानशाकुन्तल एक अध्ययन, ७—चन्द्रालोक (पंचममयूख), ८—कुमारसंभव (पंचम सर्ग), ९—रघुवंश (द्वितीय सर्ग), १०—विश्रुतचरित, ११—संस्कृत रचना भाग १, १२—वैदिक साहित्य का इतिहास तथा १३—नाट्यकला की दृष्टि से महाकवि कालिदास और भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन (मेरा अपना शोध-प्रबन्ध) आदि] पुस्तकों में प्रयुक्त मेरी लेखन-शैली के आधार पर मेरे विद्वान् मित्रों का भी यह बार २ अनुरोध था कि मैं 'नैषध महाकाव्य' पर भी लिखने का प्रयास करूँ। तदनुसार मुझे 'नैषध महाकाव्य' की व्याख्यात्मक टीका तथा आलोचनात्मक-भूमिका लिखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। एतदर्थ उन सभी मित्रों का ऋणी हूँ।

व्याख्यात्मक-टीका में मैंने प्रत्येक श्लोक से पूर्व तत्सम्बन्धी प्रसङ्ग और तदनन्तर (मूल) श्लोक, उसका अन्वय, नवीन प्रणाली पर आधारित उसकी संस्कृत टीका, हिन्दी-टीका, भावार्थ, अलङ्कार, व्याकरण, समास, तथा श्लोक सम्बन्धी आवश्यक टिप्पणियों को तो स्थान प्रदान किया ही है, साथ ही साथ स्थान-स्थान पर कवि के वैशिष्ट्य सम्बन्धी भावों का भी उल्लेख किया है। यदि कहीं पर अन्तर्कथा आ गयी है तो उसका भी स्पष्टीकरण सूक्ष्म रूप में कर दिया गया है।

अपनी भूमिका में मैंने महाकवि श्रीहर्ष की जीवनी, उनकी बहुज्ञता एवं उनके पाण्डित्य और उनकी काव्य-प्रतिभा सम्बन्धी विश्लेषण के साथ ही उनकी शैली का विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत किया है। उनके सम्बन्ध में कही गयी सूक्तियों का भी विशदीकरण करते हुये उनकी महाकाव्य सम्बन्धी नवीनताओं तथा न्यूनताओं का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

इसके लिखने में मुझे अनेक विद्वानों द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थों से सहायता भी लेनी पड़ी है। अतएव मैं उन सभी लेखकों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

आजतक मेरे द्वारा लिखित सभी प्रकाशनों में मुझे सर्वाधिक प्रेरणा तथा सहायता मेरी अर्धाङ्गिनी श्रीमती मेधावती देवी 'शास्त्री' द्वारा सदैव प्राप्त होती रही है। मुझे विश्वास है कि वे अपने जीवन-काल-पर्यन्त इसी भाँति मुझे लेखन-कार्यों के प्रति उत्साहित तथा प्रेरित करती रहेंगी।

मुझे अपने विद्वान् मित्रों पर पूर्ण विश्वास है कि वे इसमें विद्यमान न्यूनताओं से मुझे अवगत कराने का कष्ट अवश्य करेंगे ताकि उनका समाधान भी मेरे द्वारा आगामी संस्करण में किया जा सके। साथ ही उनसे मेरी यह प्रार्थना भी है कि वे इस पुस्तक के सम्बन्ध में यदि किसी नूतन भाव आदि को समाविष्ट कराने की आवश्यकता समझते हों तो उससे भी मुझे सूचित करने का कष्ट करें। उनके द्वारा प्राप्त प्रेरणाओं, सुझावों आदि के लिये मैं सदैव उनका कृतज्ञ रहूँगा।

अन्त में मुझे यही कहना है कि यदि यह पुस्तक इसके अध्येताओं को कुछ भी सन्तोष प्रदान कर सकी तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

रामनवमी
वि० सं० २०३२

विनीत
सुरेन्द्र देव शास्त्री

भूमिका

संस्कृत महाकाव्यों के अन्तर्गत जिन महाकाव्यों को बृहत्त्रयी में स्थान प्राप्त हो सका है वे हैं :—१—महाकवि भारवि रचित 'किरातार्जुनीयम्' २—महाकवि माघ विरचित 'शिशुपालवधम्' और ३—महाकवि श्रीहर्ष रचित 'नैषधीयचरितम्'। निम्नलिखित उक्ति के अनुसार इन तीनों महाकाव्यों में 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया गया है—

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

इस महाकाव्य के रचयिता हैं महाकवि श्रीहर्ष। सर्व प्रथम उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

महाकवि श्रीहर्ष का जीवनवृत्त

महाकवि श्रीहर्ष ने स्वरचित 'नैषधीयचरित' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में अपने माता-पिता का नाम, अपनी कृतियों का उल्लेख तथा महाकाव्य के अन्त में अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत किया है। इसके अतिरिक्त सन् १३४८ ई० में स्वरचित 'प्रबन्ध कोष' में राजशेखर सूरि ने श्री-हर्ष के संक्षिप्त जीवन का भी वर्णन किया है। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर उनके जीवन-वृत्त के बारे में यह कहा जा सकता है कि—

उनके पिता का नाम 'श्री हीर' तथा माता का नाम 'मामल्ल देवी' था—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतम्।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्॥
[नैषध के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक की पंक्तियाँ]

श्री हीर काशी के राजा गहरवार-वंशी विजयचन्द्र की राजसभा के प्रधान पण्डित थे। एक बार इनको राजसभा में राजा के समक्ष मिथिला के प्रसिद्ध पंडित श्री उदयनाचार्य ने पराजित कर दिया। 'प्रथमं तावत्कविर्जिगीषुकथायां

स्वपितृपरिभावुकमुदयनमत्यमर्षणतया कटाक्षयंस्तद्ग्रन्थग्रन्थीनुद्ग्रन्थयितुं खण्डनं प्रारिप्सुश्चतुर्विधपुरुपार्थैरभिमानमनवधीयमानमवधीर्य मानसमेकतानतां निनाय' इन पंक्तियों से उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है। राजसभा में पराजित 'श्रीहीर' को सुपुत्र श्रीहर्ष से कहा—'हे पुत्र ! यदि तुम वस्तुतः सच्चे सुपुत्र हो तो मेरे विजेता को पराजित कर मेरे मनस्ताप को दूर करना।' तदनुसार श्रीहर्ष ने अपने पिता की आज्ञा पालन करने के उद्देश्य से सद्गुरु के समीप जाकर तर्क, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्तदर्शन, योगदर्शन तथा मन्त्रशास्त्र का भली भाँति अध्ययनकर चिन्तामणि मन्त्र ("अवामावामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद् द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्। तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुरममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते ! सिद्ध्यतु स ते"॥ १४।८५ ॥) का एकवर्षपर्यन्त जप करने से प्रत्यक्षदर्शन देने वाली त्रिपुरादेवी के वरदान से ऐसी विद्वत्ता उपलब्ध हुयी कि इनके कथन को कोई भी विद्वान् पुरुष समझ ही नहीं पाता था। इस स्थिति में अपने को पाकर श्रीहर्ष ने त्रिपुरादेवी का पुनः साक्षात्कार किया और कहा—"हे माता ! आपके वरदानस्वरूप प्राप्त मेरा ज्ञान दोषपूर्ण ही रहा क्यों कि कोई भी विद्वान् मेरे कथन को समझ नहीं पाता है। अतः आप ऐसा वर प्रदान कीजिये कि जिससे मेरे कथन को विद्वान् भली भाँति समझने लगें। यह सुनकर देवी ने कहा कि—अर्धरात्रि के समय गीले वस्त्र को मस्तक पर रखना तथा मठ्ठा पीना जिससे कफ की प्रबलता होकर जाड्यवृद्धि होने पर तुम्हारे कथन को सभी लोग समझने लगेंगे। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया। परिणामस्वरूप विद्वज्जन इनकी बात को भलीभाँति समझने लगे।

इसके पश्चात् इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। तदनन्तर वे कन्नौजनरेश के यहाँ गये। राजा ने उनका यथोचित सत्कार किया। गुणों के प्रति प्रेम रखने वाले राजा से अति प्रसन्न होकर उनकी प्रशस्ति में श्रीहर्ष ने निम्नलिखित श्लोक पढ़ा—

गोविन्दनन्दनतया च वपुः श्रिया च
माऽस्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विषये स्मरः स्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः॥

[अर्थात्—हे युवतियो ! गोविन्द-पुत्र होने तथा असीम शारीरिक सौन्दर्य के कारण तुम लोग इस राजा को काम देव समझो। कामदेव तो विश्वविजय की

दृष्टि से स्त्रियों को अस्त्र बनाता है किन्तु यह राजा युद्ध में पुरुषों को भी स्त्री (स्त्रियों के सदृश असहाय) बना देता है ।]

और तदनन्तर उसकी विस्तृत व्याख्या भी की । यह श्रवणकर राजा अति-प्रभावित हुये और सन्तुष्ट भी हुये ।

इसके पश्चात् उन्होने अपने पिता के विजेता नैयायिक उदयनाचार्य को लक्ष्यकर कटाक्ष करते हुये यह श्लोक पढ़ा—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती ।
शय्या वाऽस्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

[अर्थात्—चाहे सुकोमल वस्तुसंपन्न साहित्य की रचना हो अथवा दृढ़ न्याय की ग्रन्थियों से परिपूर्ण तर्कशास्त्र की, मेरे रचयिता होने पर सरस्वती समानरूप से क्रीडा करती हैं । यदि पति मन को अच्छा लगने वाला हो तो चाहे कोमल विछौने से युक्त शय्या हो अथवा दर्भ के अंकुरों से आवृत भूमि, स्त्रियों के लिये रति समानरूप से (आनन्ददायक) होती है ।

इस श्लोक को श्रवणकर श्रीहर्ष के पिता पर विजय प्राप्त करने वाले पण्डित उदयनाचार्य ने कहा—हे भारतीसिद्ध वादिगजकेसरी विद्वद्वर ! आप सदृश कोई भी विद्वान् नहीं है फिर अधिक होने की तो संभावना करना ही बेकार है । क्योंकि—

हिंस्राःसन्ति सहस्रशोऽपि विपिनेशौण्डीर्यवीर्योद्धता—
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
केलिः कौलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहङ्कृते हुङ्कृते ॥

[अर्थात्—वन में स्वाभिमानी एवं शक्तिसंपन्न सहस्रों जन्तु निवास किया करते हैं किन्तु हम केवल सिंह के ही लोकोत्तर तेज की प्रशंसा किया करते हैं जिसके अहंकार पूर्ण हुंकार करने पर शूकरों का समूह केलि को, मदोन्मत्त प्राणी मद को, बाघ गर्जन को और महिष अतिहर्ष का त्याग कर दिया करते हैं ।]

यह सुनकर श्रीहर्ष का क्रोध शान्त हो गया । राजा (जयन्तचन्द्र) ने दोनों विद्वानों में परस्पर स्नेहपूर्वक गाढ़ालिङ्गन कराया और दोनों को राजभवन में

में ले जाकर उचित सत्कार किया। उन्होंने श्रीहर्षको एक लक्ष सुवर्णमुद्रायें भी दीं।

इसके अनन्तर श्रीहर्ष ने कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र की राजसभा का सदस्य होना स्वीकार कर लिया। कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन राजा ने महाकवि श्रीहर्ष से अनुरोध किया—हे कवीन्द्र ! किसी प्रबन्ध-काव्य की रचना कीजिये। श्रीहर्ष ने उनकीं प्रार्थना स्वीकार कर ''नैषधीयचरित'' महाकाव्य की रचनाकर राजा को दिखलाया। इस महाकाव्य को देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुये और उन्होंने श्रीहर्ष से कहा—''आप कश्मीर जाइये। वहाँ शारदा-पीठ में सरस्वती निवास करती हैं। अपने इस महाकाव्य को सरस्वती के हाथों में रख दीजिये। वे दोषरहित ग्रंथ का शिरःकम्पनपूर्वक अभिनन्दन करती हैं। किन्तु यदि ग्रंथ सदोष होता है तो वे उसे कूड़े की भाँति फेंक देती हैं। इस प्रकार सरस्वती द्वारा अभिनन्दित अपने ग्रन्थ का वहाँ के राजा से प्रमाणपत्र भी लाइये। यह कहकर विपुल धन के साथ श्रीहर्ष को राजा ने कश्मीर भेज दिया।

कश्मीर पहुँचकर श्रीहर्ष ने राजपण्डितों को अपना ग्रंथ दिखलाया और तदनन्तर उसे सरस्वती के हाथों में रखा। सरस्वती ने उनके ग्रंथ को दूर फेंक दिया। इस पर श्रीहर्ष ने पूछा—'मेरे ग्रंथ को साधारण पुस्तक समझकर आपने क्यों फेंक दिया है ? इसमें कौनसा दोष विद्यमान है ? बतलाइये:''—। श्रीहर्ष की बात के उत्तर में सरस्वती ने कहा—''तुमने अपने इस ग्रंथ के ग्यारहवें सर्ग के ६४ वें श्लोक—

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा
वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः
पाणिग्रहादनुग्रहाण गणं गुणानाम् ॥ ११।६४ ॥

के द्वारा मुझे विष्णु की पत्नी बतलाकर लोकप्रसिद्ध मेरे कन्यात्व को लुप्त कर दिया है। इस ही दोष के कारण मैंने तुम्हारे ग्रंथ को फेंक दिया है क्योंकि—

पावको बञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभाषकः।
योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगकारकाः ॥

अग्नि, ठग (धूर्त) रोग, मृत्यु और मर्मभाषणकर्त्ता ये पाँच योगियों को भी उद्विग्न कर दिया करते हैं।

यह सुनकर पुराणों के विशिष्ट ज्ञाता श्रीहर्ष ने कहा—''एक अवतार में आपने विष्णु भगवान् को पतिरूप में स्वीकार नहीं किया था क्या ? लोक में भी

आपको लोग 'विष्णुपत्नी' नहीं कहते हैं क्या ? तब मेरे सत्य कहने पर निरर्थक क्रोधित होकर आप मेरी पुस्तक को क्यों सदोष कह रही हैं ?" यह सुनकर सरस्वती ने पुनः ग्रंथ को उठालिया और विद्वानों के समक्ष ग्रंथ की प्रशंसा की।

तदनन्तर महाकवि श्रीहर्ष ने विद्वानों एवं राज सभासदों के हाथों में उक्त पुस्तक को देकर कहा—"सरस्वती ने आप लोगों के समक्ष मेरे इस ग्रंथ की प्रशंसा की है। अतः आप लोग यहाँ के राजा 'माधवदेव' को इस पुस्तक को दिखलाकर 'यह रचना शुद्ध है" ऐसा एक प्रमाणपत्र मुझे दिलवा दीजिये ताकि मैं यहाँ से लौटकर उक्त प्रमाणपत्र को राजा 'जयचन्द्र' को दिखला सकूँ किन्तु दूसरे विद्वान् के प्रति स्वाभाविक ईर्ष्या से आवद्ध उन पण्डितों ने न तो राजा 'माधवदेव' को यह ग्रंथ ही दिखलाया और न प्रमाणपत्र ही लिखकर दिया। परिणामस्वरूप श्रीहर्ष को वहाँ कई मास तक रुके रहना पड़ा तथा अपना सब कुछ वेंच डालना पड़ा।

एक दिन महाकवि श्रीहर्ष नदी तट पर बैठकर रुद्र मन्त्र का जप कर रहे थे। उसी समय वहाँ पर दो स्त्रियाँ जल भरने के लिये आयीं। उन दोनों में परस्पर भयंकर कलह उत्पन्न हो गयी। लड़ती झगड़ती हुयी वे दोनों राज-दरवार में पहुँची और राजा से निवेदन किया। राजा द्वारा प्रत्यक्ष द्रष्टा (गवाह) साक्षी माँगे जाने पर उन दोनों ने कहा कि 'एक विदेशी ब्राह्मण नदी तट पर बैठा था। उसके अतिरिक्त वहाँ अन्य कोई न था। राजा के आदेशानुसार राजपुरुष वहाँ गये और श्रीहर्ष को राजा के समक्ष ले आये। राजा ने उनसे उन दोनों के झगड़े के वारे में पूछा। उन्होंने कहा—मैं एक परदेशी व्यक्ति हूँ उन दोनों स्त्रियों की भाषा नहीं समझता था। फिर भी मैं झगड़े को ज्यों का त्यों आपको सुना देता हूँ। राजा द्वारा उस झगड़े की वात को सुनने की इच्छा से उन्होंने श्री हर्ष को आज्ञा दी। उन्होंने ज्यों का त्यों राजा को सुना दिया। श्री-हर्ष की स्मरणशक्ति से आश्चर्यान्वित होकर राजा ने उन दोनों स्त्रियों के झगड़े का निर्णय देकर उन्हें बिदा कर दिया तथा यथोचित प्रणामपूर्वक श्रीहर्ष से उनका परिचय आदि पूछा। उन्होंने अपनी यात्रा करने से प्रारम्भकर अब तक के सम्पूर्ण वृतान्त को राजा से कह दिया। उसे सुनकर राजा ने अपने राज-पण्डितों को बुलाया और उन्हें धिक्कारते हुये कहा—

वरं प्रज्वलिते वह्नावह्नायनेहितं ? वपुः।
न पुनर्गुणसंपन्ने कृतः स्वल्पोऽपिमत्सरः॥

वरं सा निर्गुणावस्था यस्यां कोऽपि न मत्सरी ।
गुणयोगे तु वैमुख्यं प्रायः सुमनसामपि ॥

जलती हुयी अग्नि में शीघ्रही शरीर को जला देना अच्छा है किन्तु गुणसंपन्न व्यक्ति के साथ थोड़ा भी डाह करना उचित नहीं है। वह गुण हीन अवस्था अच्छी है जिसमें कोई डाह नहीं रखता है क्योंकि गुणियों के प्रति विमुख होना वड़े-वड़े विद्वानों में भी देखा जाता है।

अतः तुम लोग जाओ अपने-अपने घर इस विद्वान् को ले जाकर इनका उचित सत्कार करो।" यह सुनकर श्रीहर्ष ने "नैषधचरित" की प्रशस्ति में पठित निम्नलिखित श्लोक पढ़ा—

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ।
मदुक्तिश्चेतश्चेन्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषाराधनरसैः ॥ प्रशस्ति–१ ॥

अति सुन्दरी स्त्री जिस भाँति युवा-पुरुष के चित्त को अपनीं ओर आकर्षित करती है क्या उसी भाँति वह बालकों के चित्त को भी चुराती है? मेरी उक्ति (ग्रन्थ) यदि अमृत बनकर विद्वानों के चित्त को आप्यायित करती है तो इसे रस हीन पुरुषों की आराधना करने की क्या आवश्यकता है?"

यह सुनकर राजपण्डित लज्जित हुये और उन्होंने अपने-अपने घर ले जाकर श्रीहर्ष का उचित सत्कार किया तथा ग्रन्थ की शुद्धता का राजमुद्राङ्कित प्रमाण-पत्र लाकर उन्हें दे दिया। उसे लेकर वे वापिस राजा जयचन्द्र के पास आये और उनको सम्पूर्ण वृतान्त सुनाया।

इस समय तक "नैषधीयचरित" महाकाव्य अत्यन्त प्रचलित तथा प्रसिद्ध हो चुका था।

इसी बीच जयचन्द्र का प्रधानमन्त्री पद्माकर अणहिल्लपुर गया और वहाँ से सूहवदेवी नामक अति सुन्दरी विधवा को ले आया। राजा जयचन्द्र का विवाह उसके साथ हो गया। इस स्त्री को अपने कला सम्बन्धी ज्ञान पर अभिमान था। इस कारण वह अपने को 'कला-भारती' कहलाया करता थी। श्रीहर्ष भी अपने पाण्डित्य के बल पर 'नव भारती' कहे जाते थे। 'सूहवदेवी' को उनसे ईर्ष्या उत्पन्न हुयी। एक दिन उसने ससम्मान उनको बुलवाकर पूछा—"आप कौन हैं?" श्रीहर्ष ने उत्तर दिया—"मैं कलासर्वज्ञ हूँ।" रानी ने कहा कि एक

जोड़ी जूता बनाकर मुझे पहनाओ। रानी का अभिप्राय यह था कि यदि वे ब्राह्मण होने के नाते यह कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता हूँ" तब तो वे "कला-सर्वज्ञ" सिद्ध होंगे नहीं। और यदि बनाकर पहना देंगे तो 'अपवित्र' कहे जावेंगे। किन्तु श्रीहर्ष ने रानी की बात को स्वीकार किया और वृक्षों के वल्कल को लाकर उससे जूते का निर्माण कर, लाकर उसे पहना दिया। किन्तु इससे उनको बड़ा ही मानसिक कष्ट हुआ। उन्होंने राजा से यह सब वृत्तान्त कह सुनाया और अत्यन्त खिन्न होकर गंगा किनारे जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया तथा अपना अवशिष्ट जीवन वहीं पर व्यतीत किया।

एक दन्तकथा अथवा किंवदन्ती के अनुसार काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट को महाकवि श्रीहर्ष का मामा बतलाया गया है। नैषधचरित की रचना जब पूर्ण हो पायी थी तब आचार्य मम्मट पूर्णरूप से वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके थे। श्रीहर्ष ने उनकी सम्मति प्राप्त करने के लिये "नैषधचरित" को उनके समक्ष रखा। उसका भली भाँति अध्ययन करने के उपरान्त मम्मट ने श्रीहर्ष को बुलाकर कहा "कि यदि तुम्हारा यह काव्य मेरे द्वारा लिखित काव्यप्रकाश की रचना से पूर्व मिल गया होता तो मुझे दोष प्रकरण (सप्तम उल्लास) को लिखने के लिये संस्कृत सहित्य के अन्य अनेक ग्रन्थों कों देखने की आवश्यकता न पड़ती क्योंकि इस एक ही ग्रन्थ में मुझे सम्पूर्ण दोषों के उदाहरण प्राप्त हो गये होते।" इस पर श्रीहर्ष ने कहा कि आप एक-दो उदाहरण मुझे भी बतलाइये। तब उन्होंने श्रीहर्ष के समक्ष निम्नलिखित श्लोक को रख दिया और कहा—

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः॥ २।६२॥

[अर्थात्-तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो, तुम्हारे साथ मेरा समागम हो। हे हंस ! अभीष्ट को सिद्ध करो अर्थात् शीघ्र ही पूरा करो और समय पर (दमयन्ती के साथ एकान्त में) हमें स्मरण कर लेना]।

तुम्हारा उपर्युक्त श्लोक मंगल के स्थात पर अमंगल का ही सूचक है। पद-च्छेद में थोड़ी सी भिन्नता कर इसको पढ़ो और समझ लो कि मेरे कहने का अभिप्राय ठीक है या नहीं ? [पदच्छेद करने पर यह श्लोक इस भाँति पढ़ा जा सकता है—

तव वर्त्म निवर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं स माऽऽगमः।
अयि साधयसाधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥२।६२॥

और अर्थ होगा—"तुम्हारा मार्ग वदल जाय अर्थात् अशुभ हो। फिर आने के लिये शीघ्रता करो किन्तु आना नहीं। हे आधिसहित ! (मेरे) अभीष्ट को पूरा न करो। हे पक्षी ! (मेरे परलोकवासी हो जाने के पश्चात्) समय-समय पर मेरी याद कर लिया करना।]।

इस भाँति अपने मामा की दोषपूर्ण-सम्मति को श्रवणकर श्रीहर्ष वहुत दुःखी हुये और दुःखी मन के साथ वापिस लौट आये।

मम्मट तथा श्रीहर्ष के समय में लगभग २०० वर्षों का अन्तर उपलब्ध होता है। अतः उपर्युक्त दन्तकथा की प्रमाणिकता में सन्देह उत्पन्न हो जाता है और यह मनगढ़न्त सी प्रतीत होने लगती है।

"नैषध" महाकाव्य के प्राचीन-टीकाकार चाण्डु पंडित ने श्रीहर्ष के बारे में लिखा है कि उन्होने वाराणसी के मुक्तिक्षेत्र में चारों पुरुषार्थों को पूर्ण कर मानसिक शान्ति प्राप्त की थी। तदनन्तर उन्होने खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थ की रचना कर अपने पिता श्रीहीर के प्रतिद्वन्दी की रचनाओं का खण्डन किया था किन्तु बाद में उनको यह अनुभव हुआ कि उनकी इस रचना में केवल शुष्क तर्क है और इसी कारण वह जनता में अच्छी दृष्टि से नहीं देखी गयी है। अतः लोगों को प्रसन्न करने की दृष्टि से उन्होने "नैषधमहाकाव्य" की रचना की।

इसके अतिरिक्त 'गदाधर'ने भी श्रीहर्ष के बारे में कुछ लिखा है। उनके अनुसार वे गोविन्द्रचन्द्र के सभा-पण्डितों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। अतएव अन्य पंडित उनसे ईर्ष्या किया करते थे ! और उनके ग्रन्थ "खण्डनखण्डखाद्य" का अध्ययन करने के उपरान्त उन लोगों ने श्रीहर्ष के लिये यह भी कहना प्रारम्भ कर दिया था कि—"तर्करूपी शमीवृक्षों से परिपूर्ण यह शुष्कमरुस्थल का शरीरधारी रूपही चला आ रहा है"। जब इसका पता श्रीहर्ष को लगा तब उन्होने अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन करने हेतु "नलचरित" नामक एक महाकाव्य की रचना की और राजा को भेंट किया। इसे देखकर राजा अतिप्रसन्न हुये और उन्होने इसी ग्रन्थ के उपलक्ष्य में श्रीहर्ष को दो आसन प्रदान किये एक तर्क के ज्ञाताओं के मध्य और दूसरा साहित्यमर्मज्ञों के मध्य। राजा ने उनको दो पान भी प्रदान किये और साथ ही "कविपंडित" की उपाधि भी।

कमलाकर गुप्त को, जिन्होने "नैषध महाकाव्य" पर भाष्य लिखा था, श्रीहर्ष का पौत्र कहा जाता है। हरिहर कवि को भी श्रीहर्ष का वंशज माना जाता है। गुजरात में नैषध की प्रतिलिपि सर्वप्रथम लाने वाले ये ही कवि थे।

श्रीहर्ष का निवासस्थान

महाकवि श्रीहर्ष के निवासस्थान के सम्बन्ध में विद्वानों एवं आलोचकों द्वारा अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ विद्वान् उन्हें कन्नौज का, कुछ वाराणसी का, अन्य कश्मीर का तथा कुछ दूसरे उन्हें बंगाल का निवासी बतलाते हैं। कन्नौज-निवासी मानने वालों की सर्वश्रेष्ठ युक्ति यही है कि श्रीहर्ष ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा के आश्रित रहने का वर्णन स्वयं ही किया है —

ताम्बूलद्वयमासानं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा—
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परंब्रह्मप्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ।। प्रशस्ति-४ ॥

वाराणसी मानने वालों का मात्र कहना यही है कि काशीनरेश जयन्तचन्द्र ही श्रीहर्ष के आश्रयदाता थे। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई मान्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

कुछ विद्वानों ने श्रीहर्ष को—
कश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां वदधद्भिर्महाकाव्ये.....[१६।१३०॥] सम्बन्धी उक्ति के आधार पर इन्हें कश्मीरी सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु राजशेखर-सूरिकृत "प्रबन्धकोश" में उल्लिखित बचन के आधार पर इनका कश्मीरी होना सिद्ध नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त नैषधचरित के सरस्वती द्वारा किये गये परीक्षा सम्बन्धी आख्यान (जिसे हम इसी भूमिका में पहले लिख चुके हैं।) के आधार पर कश्मीरी पण्डितों की दृष्टि में इनका परदेसी होना स्वयं सिद्ध है।

कुछ आलोचकों ने इनका मूल निवास-स्थान गौड देश (बंगाल) को माना है। उनका कहना है कि मैथिलकवि "विद्यापति" ने अपने "पुरुषपरीक्षा" नामक ग्रन्थ में श्रीहर्ष को गौडदेशनिवासी बतलाया है —

"बभूव गौडविषये श्रीहर्षो नाम कविपण्डितः। स च नलचरिताभिधानं काव्यं कृत्वा.......... तत्काव्यं दर्शयितुं पण्डितमण्डलीमुद्दिश्य वाराणसीं जगाम।"

इसके अतिरिक्त 'राजशेखर सूरि' ने भी अपने 'हरिहरप्रबन्ध' में लिखा है—

"श्रीहर्षवंशे हरिहरः गौडदेश्यः"।

इसके अतिरिक्त "गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति "तथा" नवसाहसाङ्कचरित" नामक ग्रन्थ श्रीहर्ष की ही रचनायें होने तथा नैषधचरित के कुछ वर्णनों के आधार पर उन्हें बङ्गदेशनिवासी माना जाता है। नैषधचरित के आन्तरिक प्रमाणों—

भाषा, संस्कृति आदि से तथा कुछ बाह्य-प्रमाणों-जैसे श्रीहर्ष के पौत्र कमलाकर गुप्त और उनके वंशज कवि हरिहर के बंगाली होने से उक्त बात की ही पुष्टि होती है।

जो भी हो—महाकवि श्रीहर्ष के निवासस्थान के बारे में अभी तक विद्वानों में मतैक्य नहीं हो सका है अतः किसी निर्णय पर पहुँच सकना दुरूह ही है। किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि श्रीहर्ष कई राजाओं के आश्रित कवि रहे होंगे। क्योंकि यह संभव है कि वे अपनी दुरभिमानी प्रकृति के कारण किसी एक राजा के आश्रय में अधिक समय तक न रह सके हों।

कृतियाँ—श्री राजशेखर सूरि के अनुसार महाकवि श्रीहर्ष ने शताधिक ग्रंथों की रचना की [खण्डनादिग्रन्थान् परश्शतान् जग्रन्थ पृष्ठ ५५, जिनविजय सं०] है। किन्तु उनके न तो नामही उपलब्ध हैं और न कोई प्रमाण ही। हाँ, इतना तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उन्होने सब मिलाकर १० ग्रन्थों की रचना तो की ही है जिनमें (१) नैषधचरित के अतिरिक्त लिखे गये अन्य आठ ग्रन्थों का प्रमाण तो नैषधचरित के सर्गान्त श्लोकों में मिल जाता है—ये हैं—(२) स्थैर्यविचारप्रकरण ["स्थैर्यविचारण प्रकरण भ्रातरि" इत्यादि—नैषध ४।१२३] (३) विजयप्रशस्ति [तस्यश्री विजयप्रशस्तिरचनातातस्य..... इत्यादि ५।१३८] (४) खण्डनखण्डखाद्य-[खण्डनखण्डतश्रोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे-इत्यादि, नै० ६।११३], (५) गौडोर्वीकुलप्रशस्ति-[गौडोर्वीकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातरि—इत्यादि, नै० ७।११०] (६) अर्णववर्णन-[संदृब्धार्णववर्णनस्य...इत्यादि, नै० ९।१६०॥], (७) छिन्दप्रशस्ति-[स्वसुःसुसदृशिच्छिन्दप्रशस्तिर्महाकाव्ये...इत्यादि, नै० १७।२२२॥] (८) शिव-शक्तिसिद्धि-[अस्मिन् शिवशक्तिसिद्धि भगिनी सौभ्रात्रभव्ये....इत्यादि नै० १८। १५४॥] (९) नवसाहसाङ्कचरितचम्पू-[नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृतोऽयं...इत्यादि, नै० २२।१४९॥]। इनके अतिरिक्त उनका एक दसवाँ ग्रन्थ (१०) "ईश्वराभि-सन्धि" भी है जिसका उल्लेख महाकवि श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ "खण्डनखण्डखाद्य" में ५ पाँच बार किया है। इस भाँति श्रीहर्ष द्वारा रचित १० ग्रन्थों का उल्लेख तो स्पष्टरूप से उपलब्ध होता है। अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में निश्चितरूप से कुछ भी कहा जा सकना संभव नहीं है।

उपर्युक्त दसों ग्रन्थों में से इस समय केवल दो ही उपलब्ध हैं (१) नैषधचरित (२) खण्डन-खण्ड-खाद्य। शेष आठ ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं। उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त नहीं हो सकी हैं। अतः उन ग्रन्थों के विषय आदि के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य

"नैषधचरित" में जिन आठ ग्रन्थों का निर्देश किया है वे अवश्य ही "नैषध" महाकाव्य से पूर्व लिखे जा चुके होंगे। इस प्रसङ्ग में इतनी ध्यान देने योग्य बात अवश्य है कि नैषध महाकाव्य में 'खण्डनखण्डखाद्य' का और 'खण्डनखण्डखाद्य' में "नैषधचरित' का उल्लेख मिलता है। इससे यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि इन दोनों ग्रन्थों की रचना एक साथ की गयी होगी। संभव है कि "खण्डन-खण्डतोऽपि सहजात" में सहजात् पद "साथ उत्पन्न होने अथवा लिखे,जाने" रूप भाव का ही द्योतक हो ["षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे........" इत्यादि, नैषध ६।११३]। इसके अतिरिक्त 'खण्डनखण्डखाद्य' में "नैषधचरित' के २१ वें सर्ग का उल्लेख प्राप्त होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने "खण्डन-खण्डखाद्य" को पूर्ण करने से पहले ही नैषध महाकाव्य को पूर्ण कर लिया हो। हाँ, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी अन्तिम रचना 'ईश्वराभि-सन्धि' ही रही होगी क्योंकि नैषधचरित में कहीं भी इस ग्रन्थ का नाम नहीं आया है। हाँ, 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ में 'ईश्वराभिसन्धि' का नाम अवश्य मिलता है किन्तु वह भी भविष्यत्-काल में ही है—(शेषं चेश्वराभिसन्धौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः, श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते)। अतः कालक्रम की दृष्टि से 'नैषधचरित' सर्वप्रथम, कुछ भाग उसके साथ ही और कुछ भाग नैषध के पश्चात् लिखे जाने के कारण "खण्डन-खण्डखाद्य" उसके पश्चात् और अन्त में 'ईश्वराभिसन्धि' की रचना की गयी होगी।

महाकवि श्रीहर्ष का काल

सर्व प्रथम डॉ० बुलर ने महाकवि श्रीहर्ष का समय निश्चित करने का प्रयास किया था। उनके इस कार्य का आधार जैन कवि राजशेखर सूरि द्वारा रचित "प्रबन्धकोष" है। इस ग्रंथ में राजशेखर सूरि ने श्रीहर्ष के बारे में पर्याप्त रूप से लिखा है। उन्होंने श्रीहर्ष को राजा जयन्तचन्द्र (अथवा जयचन्द्र) का आश्रित कवि माना है। स्वयं श्रीहर्ष ने भी अपने "नैषध" में लिखा है :—

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् ॥ नैषध २२।१५५॥

अर्थात् जिन [श्रीहर्ष] को कान्यकुब्ज (कन्नौज) के अधीश्वर (राजा) से आसन और दो पान प्राप्त हुआ करते थे। यह कान्यकुब्ज का राजा कौन था? राजशेखर सूरि के अनुसार यह कान्यकुब्जेश्वर जयन्तचन्द्र (अथवा जयचन्द्र) ही है। इसका समय ११६८ ई० से ११९४ ई० तक है। यह राजा जयन्तचन्द्र

कन्नौज तथा काशी का शासक इतिहास प्रसिद्ध जयचन्द्र ही है जिसका समय ११६८ ई० से ११९४ ई० है जिसका दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान के साथ युद्ध हुआ था तथा जो अन्त में यवनों के हाथों मार डाला गया था। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य (नैषध) के पंचम सर्ग में जिस "विजयप्रशस्ति" का उल्लेख किया है वह संभवतः जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की प्रशंसा में ही लिखा गया होगा। विजयचन्द्र का अन्तिम शिलालेख ११६३ ई० का है। जयचन्द्र का एक दानपत्र संवत् १२४३ अर्थात् सन् ११८६ ई० का है जिसमें भारद्वाज गोत्रीय डोडराउत श्री अणंग को केमौली नामक ग्राम देने का आदेश है। जयचन्द्र के युवराज पद पर आरोहण के समय के एक दानपत्र का समय संवत् १२२५ अर्थात् सन् ११६९ ई० है।

उपर्युक्त आधार पर डॉ० बुलर ने सर्वप्रथम श्रीहर्ष के समय के बारे में खोज की और वे निम्नलिखित परिणाम पर पहुंचे—

महाकवि श्री हर्ष राजा जयन्तचन्द्र (अथवा जयचन्द्र) के आश्रित कवि थे। जयन्तचन्द्र ने ११६३ से ११७७ ई० के मध्य में राज्यारोहण किया होगा क्योंकि उनके पिता का अन्तिम शिलालेख ११६३ ई० का है और उनका प्रथम दानपत्र ११७७ ई० का है। राजशेखर के अनुसार राजा जयन्तचन्द्र कुमारपाल के समकालीन थे जिनका काल सन् ११४३ से ११७४ ई० था। सन् ११९४ ई० में वह यवनों द्वारा राज्यसिंहासन से हटा दिया गया था। अतः जयन्तचन्द्र का शासन-काल सन् ११६३ ई० तथा सन् ११९४ ई० के मध्य ही रहा होगा। अतः श्रीहर्ष का समय ईसाकी १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध मान लेना उचित ही जान पड़ता है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाण भी हैं, जिनसे उपर्युक्त समय की ही पुष्टि होती है—

'नैषधचरित' के एक प्राचीन टीकाकार 'चाण्डुपण्डित' हैं। ये अहमदाबाद के समीप में स्थित ढोलका नामक ग्राम के निवासी थे। इनके द्वारा की गयी टीका का नाम 'दीपिका' है जो उनके द्वारा संवत् १३५३ अर्थात् सन् १२९६ में लिखि गयी थी और जिसके बारे में उन्होंने स्वयं ही लिखा भी है—

श्रीविक्रमार्कसमयाच्छरदामथ त्रिपञ्चाशता समधिकेष्वितेषु।
तेषु त्रयोदशसु भाद्रपदे च शुक्लपक्षे त्रयोदशतिथौ रविवासरे च॥

सर्ग के अन्त में चाण्डुपण्डित ने एक श्लोक में अपने माँ-बाप के नाम का

उल्लेख करते हुये एक श्लोक में "नैषध महाकाव्य' को नवीन काव्य भी कहा है—"काव्यं नवं नैषधम्" । इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक 'नैषध' को नवीन काव्य के ही रूप में देखा जाता था । इसके अतिरिक्त चाणुपण्डित ने यह भी लिखा है कि उनकी अपनी टीका से पूर्व "नैषधचरित" पर विद्याधर विरचित टीका भी विद्यमान थी । इन दोनों टीकाओं से पूर्व "नैषधचरित" का लेखन समाप्त हो चुका था । अतः "नैषधचरित" काव्य १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही लिखा गया होगा । इस आधार पर भी श्रीहर्ष का समय १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध भाग ही सिद्ध होता है ।

डॉ० जानी द्वारा "खण्डनखण्डखाद्य" के आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर भी उपर्युक्त समय की ही पुष्टि की गयी है । इस ग्रन्थ में श्रीहर्ष ने कई स्थलों पर उदयन-रचित 'लक्षणावली' को उद्धृत किया है और उसका खण्डन भी किया है । लक्षणावली का रचनाकाल शक सं० ९०६ अर्थात् ९८४ ई० है । इसी ग्रंथ में महिमभट्ट (१०२०–१०६०) तथा उनके ग्रंथ "व्यक्तिविवेक" का भी प्रसंग आया है । अतः इस आधार पर श्रीहर्ष को १०२० ई० के पूर्व नहीं रखा जा सकता है । नैषध को सर्वप्रथम 'हेमचन्द्राचार्य' (१०८८–११७२ ई०) के शिष्य 'महेन्द्रसूरि' ने अपने गुरु की रचना 'अनेकार्थसंग्रह' की टीका 'अनेकार्थ-कैरवाकरकौमुदी' में उद्धृत किया है । यह टीका हेमचन्द्राचार्य की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् लिखि गयी थी । इससे भी यह सिद्ध होता है कि लगभग ११८० ई० तक नैषधचरित महाकाव्य को प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी ।

गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०) ने स्वरचित "तत्त्वचिन्तामणि" में 'खण्डन-खण्डखाद्य' का खण्डन किया है । अतः यह संभावना करना अनुपयुक्त न होगा कि श्रीहर्ष की साहित्यिक-गतिविधि का समय ११२५ ई० से ११८० ई० के मध्य ही रहा होगा । अतः श्रीहर्ष का काल १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाना उपयुक्त ही प्रतीत होता है ।

महाकवि श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

श्रीहर्ष की कृतियों से—विशेषकर उनके "नैषध-चरित" महाकाव्य से उनके व्यक्तित्व का पूर्ण ज्ञान पाठक को प्राप्त हो जाता है । वे एक उच्चकोटि के दार्शनिक तो थे ही, साथ ही ईश्वर में तथा उसकी भक्ति में उनका पूर्ण विश्वास था (नैषध १०।७३) । किन्तु वे किसी एक देवता के ही भक्त रहे हों, ऐसी बात नहीं है । नैषध के २१ वें सर्ग में उन्होंने भगवान् विष्णु के प्रायः सभी रूपों

की प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सरस्वती (नैषध–१२।२३।) तथा शिव (नैषध १४।८८ तथा खण्डनखण्डखाद्य की नान्दी) के प्रति भी अपनी आस्था और भक्ति का प्रदर्शन किया है। प्रायः सभी देवताओं के प्रति उनके हृदय में आदर की भावना विद्यमान थी किन्तु फिर भी अर्धनारीश्वर रूप में विद्यमान भगवान् शंकर के प्रति उनका विशेष पक्षपात था (नैषध १४।८८ तथा खण्डनखण्डखाद्य की नान्दी)।

कर्मवाद के सिद्धान्तों में उन्हें विश्वास था (नैषध–२२।६६,६९ तथा १३४)। पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों का प्रसङ्ग उन्होंने दिया है (नैषध ५।१७।)। संस्कृत के अन्य कवियों के ही समान वे भी भाग्यवादी थे (नैषध १।१५, ६।१०२–३।।, ९।१२६–इत्यादि)। वेदों के प्रति उनकी पूर्ण आस्था थी। वेदों को उन्होंने तृतीय-नेत्र कहा है (नैषध १।६।।)। संस्कृत भाषा के प्रति उनका असीम आदर था (नैषध–१०।३४,३८.५७ तथा ५९)। देशभक्ति के भी वे पूर्ण पक्षपाती थे। 'अत्यन्त गौरव भरे शब्दों में उन्होंने भारतवर्ष की प्रशंसा कर उसे स्वर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ कहा है (नैषध–६।९७ तथा ९।९८–१००)। नैषध-चरित के १९ वें सर्ग के सप्तम् श्लोक की कल्पना से प्रतीत होता है कि वे संभवतः कृष्णयुर्वेद की मैत्रायणी अथवा काठक संहिता के मानने वाले थे क्योंकि उन्होंने उदात्तस्वर को ऊपर सीधी रेखा से चिह्नित किये जाने का प्रसङ्ग दिया है जो इन्हीं दोनों संहिताओं में उपलब्ध होता है।

जीवन के अनेक पहलुओं तथा समस्याओं पर भी उन्होने विचारपूर्ण निर्णय दिये हैं। दान, धर्म, भक्ति, जीवन्मुक्त, जीवन की क्षणभंगुरता, गृहस्थाश्रम, सतीत्व, प्रेम भावना, यज्ञ, मूल्यों की सापेक्षता, आखेट आदि अनेक विषयों पर उन्होने अपने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं।

वे एक स्वाभिमानी कवि हैं जिन्हें अपनी विद्वत्ता तथा अपने काव्य की सरसता पर गर्व है। उनके मतानुसार जो व्यक्ति उनके ग्रन्थ में आनन्द की उपलब्धि नहीं कर सकते वे नीरस व्यक्ति ही कहे जा सकते हैं। सहृदय विद्वानों के अन्तःकरण को तो उनका काव्य आनन्दित करता ही है—

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय। सुधयः।
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥ नैषध–२२।१५० ॥

उनका काव्य तो वस्तुतः अमृत का उत्पादक साक्षात् क्षीरसागर ही है—

स परमपरः क्षीरोदन्वा नु यदीयमुदीर्यते।
मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम् ॥ नैषध–२२।१५१॥

यह सत्य है कि उनका महाकाव्य कहीं कहीं पर दुरूह भी हो गया है किन्तु ऐसा उन्होंने जानबूझकर किया है जिससे कोई भी पण्डितम्मन्य खल उसका रसास्वादन न कर सके। वे ऐसे रसिक सहृदय सज्जनों को पाठकों के रूप में चाहते हैं जो श्रद्धा के साथ गुरु की आराधना करके काव्यगत दुरूह ग्रन्थियों को सुलझाकर महाकाव्यरूपी रस-सरिता-प्रवाह में गोता लगाकर आनन्द प्राप्त करने के इच्छुक हों—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु ॥
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखं व्यासज्जनं सज्जनः ॥नैषध—२२।१५२॥

महाकवि ने स्वयं ही कहा है कि उनके महाकाव्य में सर्वथा नवीन-पथ का अनुसरण किया गया है—

तर्केष्वप्यसमश्रमस्य.....इत्यादि—नैषध—११।१३८ ॥

स्वभाव से वे अत्यन्त गम्भीर तथा धार्मिक हैं। सांसारिक सुखों को वे हेय समझते हैं। नैषध का सत्रहवां सर्ग उनकी इस भावना का पूर्ण परिचायक है।

महाकवि श्रीहर्ष का पाण्डित्य

महाकवि श्री हर्ष सम्पूर्णशास्त्रों के महान् ज्ञाता, अत्यन्त मेधावी, अकुण्ठित बुद्धि संपन्न एवं अप्रतिभट पण्डित थे। उनके सम्बन्ध में नैषधचरित महाकाव्य के टीकाकार विद्याधर ने उनकी बहुज्ञता का परिचय देते हुये लिखा है—,

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो,
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि ।
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः ॥

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि उनका पाण्डित्य अगाध है। उनकी काव्य-प्रतिभा एवं दार्शनिक ज्ञान के जाज्वल्यमान उदाहरण तो साक्षात् "नैषधचरित" एवं "खण्डनखण्डखाद्य" ग्रन्थ ही हैं ! इसके अतिरिक्त वे वेदों, वेदाङ्गों, ज्योतिष, धर्म, अर्थ, काम, तन्त्र, संगीत, गणित आदि शास्त्रों के ज्ञान में पूर्णतया निष्णात थे। अश्वशास्त्र, धनुर्वेद, आयुर्वेद आदि का भी पूर्ण ज्ञान उन्हें प्राप्त था। इन सभी शास्त्र आदिकों से सम्बन्धित प्रसंगों से उनका 'नैषधचरित' महाकाव्य ओतप्रोत है। यहाँ कुछ उदाहरणों का उद्धृत कर देना उपयुक्त ही

होगा। वेद-वेदाङ्ग सम्बन्धी उनके ज्ञान का उदाहरण देखिये। निम्नलिखित उदाहरण में उन्होने अप्रस्तुतयोजना के रूप में श्रुति-ज्ञान का आश्रय लिया है। श्रुति कहती है—

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते। आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्।"

श्रुतिसम्बन्धी इसी आनन्द की ओर संकेत करते हुये उन्होने लिखा है—

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥नैषध २।१॥

वेदाङ्गों की दृष्टि से शिक्षाशास्त्र के सिद्धान्त का वर्णन निम्नाङ्कित श्लोक में देखिये—

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्त्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ॥नैषध २।९८॥

श्रीहर्ष का व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान तो और भी प्रशंसनीय है। एक स्थल पर उन्होने "सु औ जस्" इन प्रथमा विभक्ति के प्रत्ययों को लेकर [हंस द्वारा दमयन्ती के समक्ष राजा नल की जो प्रशंसा की गयी है, श्लेष के माध्यम से] व्याकरण सम्बन्धी विचित्र चमत्कार प्रस्तुत किया है—

क्रियते चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैः तावत्क्षमा नाम पदं बहु स्यात् ॥२।२३।

(हंसपक्ष में) हंस कह रहा है—यदि सज्जनों के वर्गीकरण का विचार किया जाय तो वह (राजा नल का) ही प्रथम व्यक्तित्व होगा जो (व्यक्तित्व) अपने पराक्रम के प्रभाव से असंख्य शत्रु-राष्ट्रों के सम्पूर्ण स्थलों को अपने वश में करने में समर्थ है।

(व्याकरण की दृष्टि से—) यदि प्रथमा आदि सातों विभक्तियों में सर्वोत्तम विभक्ति कौन सी है ? इसका विचार किया जाय तो "प्रथमा" नामक विभक्ति को ही प्रथम स्थान प्राप्त होगा जो (प्रथमा-विभक्ति) "सु औ जस्" इन प्रथमा विभक्ति सम्बन्धी एक वचन, द्विवचन, और बहुवचनों के विलास (विसर्ग इत्यादि रूप परिणाम) से वाक्यालङ्कार में नाम (सुबन्त) और पद (रामः, कृष्णः इत्यादि) के सिद्ध करने के लिये पूर्णरूपेण समर्थ है।

अपने व्याकरण सम्बन्धी पाण्डित्य के ही कारण वे नवीन शब्दों का प्रयोग कर सकने में सफल हो सके हैं। "सूननायक" (१८।१२९), 'प्रतीचर' (१८। १२९ ॥), 'हसस्पृशम्" (१८।१३०) इत्यादि अनेक नवीन शब्दों का प्रयोग व्याकरण के आधार पर ही वे कर सके हैं।

उनका ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान भी दर्शनीय है ! नैषधचरित के प्रथम-सर्ग के १७वें श्लोक में उन्होने कहा है कि सूर्य, बुध एवं शुक्र इन दो ग्रहों के साथ समय व्यतीत करता हुआ उदय को प्राप्त होता है। सूर्य के सदृश ही राजा नल भी उदय को प्राप्त हुये।

दर्शन-शास्त्रों सम्बन्धी उनका ज्ञान तो महान् है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा अद्वैतवेदान्त और चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन सम्बन्धी अपने महान् पाण्डित्य का प्रदर्शन तो उन्होने "नैषधचरित" में ही अनेक स्थलों पर किया है। केवल सत्रहवें सर्ग को पढ़ने से ही उपर्युक्त बात की पूर्ण अनुभूति पाठक को हो सकती है। वैशेषिक-दर्शन सम्बन्धी "तम" नामक द्रव्य के खण्डन में उन्होने कैसा मजाक २२।३६ वें श्लोक में प्रस्तुत किया है, दर्शनीय है। न्याय-शास्त्र के रचयिता गौतम को तो उन्होने गौतम (पक्काबैल) ही कह डाला है (नैषध १७।७५।।)।

नैषध में स्थान स्थान पर पौराणिक कथाओं का भी उल्लेख मिलता हैं। इससे उनके पुराण-इतिहास सम्बन्धी ज्ञान का स्पष्ट पता लग जाता है [नैषध-१।३२-इत्यादि अनेक उदाहरण]।

इतना महान् गाम्भीर्य तथा पाण्डित्य होने पर भी वे व्यंग्य एवं विनोदप्रिय भी थे। नैषध में बारात सम्बन्धी वर्णन में महाकवि ने राजा नल के छोटे साले द्वारा नानाप्रकार से व्यंग एवं विनोदपूर्ण परिहास कराया है। स्वयंवर सभा में भी दममन्ती की दासियों द्वारा अच्छा उपहास प्रस्तुत किया गया है [देखिये-- नैषध-१२।७६ तथा १६।१०९-११० इत्यादि अनेक उदाहरण]।

उपर्युक्त रूप से प्रायः सभी सांसारिक विषयों का ज्ञान होने के साथ ही साथ वे योगी भी थे और समाधिदशा में भगवान् का साक्षात्कार किया करते थे—

"यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्"—नैषध-२२।१५५ ।।

नैषध-महाकाव्य

महाकवि द्वारा लिखित एवं प्राप्त ग्रन्थों में 'नैषध-महाकाव्य" को ही सर्व-श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। नैषधचरित २२ सर्गों में लिखा गया एक महाकाव्य है। यद्यपि इसकी मूलकथा महाभारत से ली गयी है किन्तु इस महाकाव्य में महा-भारत में वर्णित नल-दमयन्ती की कथा का थोड़ा अंश ही आ सका है। क्योंकि काव्य की समाप्ति नलदमयन्ती के विवाह और उनकी प्रणय सम्बन्धी क्रीडा को

दिखलाने के पश्चात् ही हो जाती है। इसके पश्चात् का उनके जीवन का सम्पूर्ण अंश अवर्णित ही रह गया है। कुछ विद्वानों के विचार के आधार पर यह काव्य २२ सर्गों में ही समाप्त हो गया है। किन्तु कुछ विद्वानों का यह कहना है कि यह काव्य अधूरा ही है। उनके विचार से या तो काव्य का शेष भाग लुप्त हो गया है अथवा कवि इस काव्य को पूरा ही नहीं कर पाया। जो भी हो—हमें यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ना है। केवल इतना ही कहना है कि हो सकता है कि प्रारम्भ में कवि की योजना सम्पूर्ण कथानक को चित्रित करने की रही हो और बाद में आकर ग्रन्थ के अधिक विस्तार को देखते हुये उन्होंने यही उचित समझा हो कि इसे यहीं पर समाप्त कर दिया जाय।

नैषध-चरित का कथानक अथवा इतिवृत्त

प्रथम सर्ग—के प्रारम्भ में निषधदेश के राजा नल का चरित, विद्याभ्यास, धर्माचरण, प्रताप एवं उनकी दिनचर्या का विशद वर्णन विद्यमान है। नल का सौन्दर्य त्रैलोक्य में अनुपम था जिसकी ख्याति सर्वत्र थी। विदर्भ देश के राजा भीम की पुत्री भी अनुपम सौन्दर्यशालिनी थी। उसने भी राजा नल के रूप, सम्पत्ति तथा कीर्ति के बारे में बहुत कुछ सुना था। अतः उसने अपना मन राजा नल की ओर लगाया। बन्दीजनों द्वारा राजा नल का वर्णन सुनकर वह रोमाञ्चित हो जाया करती थी। उसी प्रकार राजा नल ने भी दमयन्ती के रूप और गुणों की प्रशंसा सुनी थी। कामदेव ने राजा नल के धैर्य को नष्ट कर दिया किन्तु कामार्त्त होने पर भी राजा नल ने राजा भीम से दमयन्ती की याचना नहीं की। विवश होकर शान्ति-प्राप्त करने की इच्छा से वे उपवन को गये। उस उपवन में एक सरोवर के किनारे सुरतक्लांत एवं एक ही चरण पर स्थित विश्राम करते हुये एक स्वर्णिम हंस को उन्होंने देखा। राजा नल ने उसे पकड़ लिया। हंस ने महती करुणा के साथ विलाप किया। यहाँ तक कि विलाप करते-करते वह मूर्छित हो गया। यह देख नल की अश्रुधारा भी उमड़ पड़ी और वे अश्रु उस हंस के ऊपर गिरे। उससे उसे चेतनता प्राप्त हुयी। चेतना प्राप्त हंस को राजा नल ने छोड़ दिया।

द्वितीय सर्ग—हंस राजा के पास कृतज्ञताज्ञापनार्थ जाता है तथा दमयन्ती के सौन्दर्य आदि गुणों का वर्णन उसके समक्ष करता है। नल द्वारा आग्रह किये जाने पर हंस दमयन्ती के समीप कुण्डिनपुर जाता है। वहाँ दमयन्ती अपनी सखियों के साथ उपवन में विहारमग्न है।

तृतीय सर्ग—हंस दमयन्ती के पास पहुँचकर वहीं समीप में ही रुक जाता है। दमयन्ती उसे पकड़ने का प्रयास करती है। हंस उसे सघन वन में ले जाता है। उसे एकान्त में देखकर हंस अपना परिचय देकर राजा नल के गुणों तथा उसके अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करता है। उसके पश्चात् दमयन्ती भी राजा नल के प्रति अपने प्रेम को प्रकट कर देती है। हंस वापिस लौटता है और नल के समीप पहुँचकर अपनी सफलता की सूचना उन्हें देता है।

चतुर्थ सर्ग—अव दमयन्ती राजा नल से मिलने के लिये अत्यन्त आतुर और विकल हो जाती है। उसके पिता उसकी इस प्रकार की अवस्था को देखकर स्वयंवर का निश्चय कर लेते हैं।

पंचम सर्ग—इधर देवलोक में नारद जी इन्द्र देवता के समक्ष दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। जिसे सुनकर इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण देवताओं के साथ पृथ्वी की ओर चल देते हैं। वे दमयन्ती के समीप अपनी दूतियों तथा उसके पिता के पास दिव्य उपहारों को भी भेजते हैं। मार्ग में कुण्डिनपुर जाते हुये वे राजा नल को देखते हैं। उनके सौन्दर्य को देखकर देवताओं में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हो जाता है। अपना परिचय देकर देवगण उनसे कुछ याचना करना चाहते हैं। नल उनकी इच्छा पूर्ण करने का वचन देते हैं। तब देवगण राजा नल से कहते हैं कि आप हम लोगों की ओर से दमयन्ती के समीप जाइये और दमयन्ती को उनमें से किसी एक को चुन लेने के लिये राजी कर लीजिये। राजा नल स्पष्ट कहते हैं कि वे स्वयं दमयन्ती से प्रेम करते हैं तथा उसकी प्राप्ति की इच्छा से ही वे वहाँ जा रहे हैं। किन्तु जब इन्द्र उनको अपने दिये हुये वचन को पूर्ण करने हेतु बाध्य करते हैं तो वे उनकी बात स्वीकार कर लेते हैं। इन्द्र के प्रभाव से राजा नल को अदृश्य होने सम्बन्धी शक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

षष्ठ सर्ग—अदृश्य नल दमयन्ती के भवन में पहुँच जाते हैं। वहाँ वे देखते हैं कि देवों की दूतियाँ देवों में से ही किसी को चुनने के लिये दमयन्ती से आग्रह कर रही हैं किन्तु दमयन्ती ऐसा करने से उन्हें रोक देती है। यह सब सुनकर राजा नल प्रसन्न होते हैं।

सप्तम सर्ग—राजा नल दमयन्ती के सौन्दर्य को देखते हैं। इसी दृष्टि से कवि द्वारा दमयन्ती के नख-शिख का चित्रण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। नल अपने को प्रकट कर लेने का भी निश्चय कर लेते हैं।

अष्टम सर्ग—राजा नल अपने को प्रकट कर देते हैं। उनके असीम सौन्दर्य को देखकर दमयन्ती तथा उसकी सखियाँ आश्चर्यचकित होकर उनका परिचय पूछती हैं। राजा नल अपने को देवदूत बतलाते हैं तथा देवताओं में से किसी एक को चुन लेने के लिये दमयन्ती से आग्रह करते हैं।

नवम सर्ग—नल-दमयन्ती का वार्त्तालाप होता है। दमयन्ती देवों में से किसी को भी वरण न करने तथा नल सम्बन्धी अपने निश्चय से उनको अवगत करा देती है। राजा अपने को प्रकट कर देते हैं तथा दमयन्ती द्वारा बार-बार प्रार्थना किये जाने पर दूसरे दिन स्वयंवर में आने के लिये अपनी स्वीकृति दे देते हैं।

दशम सर्ग—स्वयंवर आरम्भ हो जाता है। इन्द्र आदि देवता भी नल का वेश धारण कर वहाँ उपस्थित हैं।

एकादश एवं द्वादश सर्ग—सरस्वती द्वारा राजाओं आदि का परिचय दमयन्ती को दिया जा रहा है। किन्तु नलासक्त चित्त वाली दमयन्ती सभी की उपेक्षा कर आगे बढ़ती है। आगे बढ़ने पर पाँच नलों को देखकर वह आश्चर्य में पड़ जाती है।

त्रयोदश-सर्ग—नल के ही वेश में विद्यमान [१ नल + ४ देवताओं] पाँचों नलों का सरस्वती द्वारा श्लेषयुक्त वर्णन किया जाता है। दमयन्ती देवताओं तथा राजा नल में अन्तर न कर सकने के कारण अत्यन्त दुःखी होती है।

चतुर्दश सर्ग—दमयन्ती मन ही मन देवताओं की पूजा करती है। देव गण प्रसन्न होकर उसे सरस्वती के श्लेष को समझने की शक्ति प्रदान करते हैं। दमयन्ती नल को पहचानकर पुष्पों की माला से उन्हें अलंकृत कर देती है। सरस्वती तथा देवगण दोनों को आशीर्वाद देते हैं।

पंचदश सर्ग—राजा भीम विवाह सम्बन्धी तय्यारी में संलग्न हो जाते हैं, और विवाहोत्सुक नल को आमन्त्रित करते हैं।

षोडश सर्ग—राजा भीम द्वारा बारात का स्वागत-सत्कार किया जाता है। विवाह संस्कार सम्पन्न हो जाने के पश्चात् वहाँ ५-६ दिन रह कर राजा वापिस अपनी राजधानी आते हैं जहाँ उनका स्वागत जनता द्वारा किया जाता है।

सप्तदश सर्ग—स्वर्ग वापिस जाते हुये देवों की भेंट "कलि" से हो जाती है। कलि कहता है कि वह दमयन्ती के स्वयंवर में जा रहा है। देवगण उसे स्वयंवर-संपन्न हो जाने आदि की सूचना देते हैं। इस पर वह, क्रुद्ध हो

जाता है और राजा नल को राज्यच्युत होने तथा दमयन्ती से वियुक्त होने सम्बन्धी शाप दे देता है।

अष्टादश सर्ग—इसमें नल दमयन्ती के प्रथममिलन तथा काम-क्रीडा का सांगोपांग वर्णन है।

एकोनविंशति सर्ग—से द्वाविंशति सर्ग तक—चारों सर्गों में नल-दमयन्ती की दिनचर्या देवस्तुति, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही नल-दमयन्ती के विलास का भी सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में कवि-वृत्त-के सूक्ष्म वर्णन के साथ कथानक की समाप्ति हो जाती है।

नैषधचरित-महाकाव्य की कथा का स्रोत
अथवा
कथावस्तु का मूल-आधार
अथवा
मूल-कथावस्तु

नैषध-चरित की कथावस्तु का प्राचीनतम सूक्ष्म रूप "शतपथ-ब्राह्मण-२।२।४-१-२" में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'कथासरित्सागर', 'कुमारपाल-प्रतिबोध', 'पद्मपुराण—सृष्टिखण्ड", 'लिङ्गपुराण १।६६, २४-२५'; 'वायु पुराण २।२६।७४', 'हरिवंश १।१५ तथा 'ब्रह्माण्डपुराण।२।६३, १७३-७४' आदि ग्रन्थों में भी नल-दमयन्ती सम्बन्धी कथा का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु उक्त कथा का विस्तृत स्वरूप तो हमें "महाभारत" के अन्तर्गत विद्यमान 'वनपर्व' के प्रसिद्ध 'नलोपाख्यान अ० ५२—७९' में ही प्राप्त होता है। इसी कथा को नैषध की कथावस्तु का मूलआधार माना गया है। किन्तु नैषध-महाकाव्य के २२ सर्गों में प्राप्त होने वाली कथा का सम्पूर्ण मूलअंश तो नलोपाख्यान सम्बन्धी प्रथम ६ अध्यायों में ही आ जाता है।

उपर्युक्त मूल—कथा में महाकवि द्वारा किये गये आवश्यक परिवर्त्तन तथा परिवर्धन

"आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार-विभाव, भाव, अनुभाव तथा संचारी भाव की उचित योजना द्वारा [ऐतिहासिक इत्यादि] सुन्दर अथवा उत्प्रेक्षित इतिवृत्त (कथानक) से युक्त प्रबन्ध ही रस का अभिव्यंजक हुआ करता है

(ध्वन्यालोक-३।२३।।)"। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुये महाकवि श्रीहर्ष ने उपर्युक्त महाभारतीय कथा में यत्र-तत्र आवश्यक परिवर्त्तन आदि किये हैं जिनका संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। वे ये हैं—

(१) महाभारत की सरल वर्णनात्मक-कथा को काव्य की आलङ्कारिक शैली में ढाल दिया गया है। महाभारत में इस कथा का वर्णन केवल ६ अध्यायों में (१८६ अनुष्टुप नामक छन्दो में) ही कर दिया गया है। महाकवि ने इस कथा-भाग का वर्णन २२ सर्गो में २८०४ श्लोकों में विस्तार के साथ किया है। साथ ही इन्होंने इस कथावस्तु के चित्रण के निमित्त विभिन्न प्रकार के २१ छन्दों का भी प्रयोग अपने महाकाव्य में किया है।

(२) "आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः" के अनुसार नैषध-महाकाव्य में दमयन्ती के हृदय में राजा नल के प्रति अनुराग उत्पन्न होने सम्बन्धी प्रवृत्ति पहले हुयी है, जब कि महाभारत में नल-दमयन्ती दोनो ने एक दूसरे की प्रशंसा लोगों से सुनी और परिणामस्वरूप दोनों का एक दूसरे के प्रति अनुराग जाग्रत हुआ है।

(३) उपवन में सरोवर सम्वन्धी कल्पना महाकवि की अपनी है जब कि महाभारत में सरोवर का कोई भी उल्लेख नहीं आया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि महाकवि का ध्यान रसकी ओर रहते हुये भी लक्षणग्रन्थों में उल्लिखित वर्ण्य-विषय [उद्याने सरणः सर्वफलपुष्पलताद्रुमाः। पिकालिकलिहंसाद्याः क्रीडावाप्यध्वगस्थितिः॥ काव्यकल्पलतावृत्ति १।६५-६८] की ओर भी रहा है। सरोवर की कल्पना से उपवन-सौन्दर्य की वृद्धि तो हुयी ही है, साथ ही उद्यानवर्णन के निमित्त आवश्यक एवं उचित क्रीडावापी आदि की भी पूर्ति हो गयी है।

(४) नैषध में रतिभाव उच्चतर स्तर का है। यद्यपि महाभारत में भी यह भाव ऐन्द्रियिकता के स्तर से ऊँचा उठ चुका था किन्तु फिर भी रति भाव की जो उदात्तता तथा कलासम्वन्धी उत्कर्ष श्रीहर्ष ने प्रदान किया है वह महाभारत में प्राप्त न था। श्रीहर्ष की दृष्टि में रतिभाव कर्त्तव्य तथा धर्म की भावना से आवृत है।

(५) महाभारतकी कथा में नल हंस को उस समय छोड़ देता है जब कि वह नल का प्रिय कार्य करने की दृष्टि से कहता है कि—"हे राजन्! मुझे न मारिये। मैं आपका प्रिय करूँगा। दमयन्ती के समक्ष पहुंचकर मैं आपका ऐसा वर्णन करूँगा कि वह कभी आपको छोड़कर किसी अन्य पुरुष को स्वीकार ही

नहीं करेगी।" किन्तु नैषधचरितमें राजा नल हंस के करुण विलाप से द्रवीभूत होकर उसे बिना किसी शर्त के छोड़ देता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत का उक्त वर्णन नैषधीय हंस के करुणरसपूर्ण विलापों के वर्णन की अपेक्षा कहीं अधिक नीरस है। नैषध का हंस राजा नल के हृदय को करुणा से द्रवित करने के लिये अपनी तथा अपने परिवार की स्थिति को सम्यक् रीति से राजा के समक्ष प्रस्तुत करता है। परिणामस्वरूप राजा नल का हृदय पूर्णरूपेण द्रवीभूत हो जाता है और वह हंसको छोड़ देता है।

(६) राजाके हाथ से छुटकारा प्राप्त करनेके उपरान्त हंस अपनी कृतज्ञता प्रकट करने हेतु नल के समीप जाता है और तदनन्तर वह अकेला ही दमयन्ती के पास जाता है। महाभारत में तो अनेक हंस दमयन्ती और उसकी सखियों के समीप जाते हैं और वे उनका पीछा करती हैं।

(७) महाभारत तथा नैषधचरित के हंसके स्वरूप में भी अन्तर है। महाभारत का हंस तो एक सामान्य पक्षी है किन्तु नैषध का हंस एक विशिष्ट रचना है। वह शिष्ट एवं सुसंस्कृत मानव ही प्रतीत होता है।

(८) महाभारत में हंस दमयन्ती से कहता है कि हे दमयन्ती ! निषधदेश में नल नामक एक राजा है [दमयन्ति नलोनाम निषधेषु महीपतिः। म० भा० व० प० ५३।२६–२७॥] किन्तु नैषध में हंस एकाएक नल के प्रसंग को उपस्थित नहीं करता है। वह (हंस) राजा नल के प्रसंग की अवतारणा अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से युक्तिपूर्वक करता है। सर्वप्रथम वह अपने दिव्य होने का परिचय देता है जिससे नल की महत्ता में चार चाँद लग जाते हैं। तदनन्तर वह कहता है कि इस पृथ्वी पर कोई विरल ही पुरुष होगा कि जो मुझ सदृश दिव्य पक्षी को पकड़ने के लिये साहस करेगा [नैष० च० ३।२०॥]। इसभाँति राजा नल भी महत्ता का प्रदर्शन कर वह अपनी बात कहता है।

महाभारत में हंस-प्रसंग के मात्र १४ श्लोक ही है कि जिनका आश्रय प्राप्तकर श्रीहर्ष ने १–३ सर्गों में ३३१ श्लोकों में इस प्रसङ्ग का वर्णन किया है।

(९) महाभारत में हंस के वापिस चले जाने के पश्चात् दमयन्ती की विरह दशाका संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है किन्तु नैषध में महाकविने इसके लिये १२२ श्लोकों का पूरा सर्ग ही नियोजित किया है। इसके अन्तर्गत विरह सम्बन्धी सभी अवस्थाओं का विस्तृत चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

(१०) महाभारत में 'कलि' का प्रवेश नल-दमयन्ती के विवाह के अनन्तर बहुत बाद में होता है किन्तु नैषध में उनके विवाह के तुरन्त बाद ही 'कलि' का प्रवेश करा दिया गया है।

(११) देवताओं द्वारा नल-दमयन्ती को दिये गये वरों में भी महाकवि ने परिवर्तन किया है। महाभारत में प्रत्येक देवता दो-दो वर प्रदान करता है। इस भाँति कुल आठ वर दिये जाते हैं। किन्तु "नैषध-चरित" में अकेले इन्द्र द्वारा ही चार वर प्रदान किये गये हैं जिनमें केवल एक ही महाभारत में मिलता है। यम द्वारा दो वर दिये गये हैं जिनमें से एक महाभारत में भी विद्यमान है। वरुण द्वारा दिये गये वर दोनों में समान हैं। इसके अतिरिक्त सरस्वती द्वारा दिया गया वरदान तो कविकी अपनी कल्पना ही है।

(१२) इन सभी परिवर्तनों का प्रमुख कारण नायक के चरित्र को एक आदर्शपूर्णरूप में प्रस्तुत करना है। महाभारत में राजा नल ने हंस को शर्त के आधार पर छोड़ा है। अतः इसमें स्वार्थपरता का पुट दृष्टिगोचर होता है। किन्तु नैषध में तो वह बिना किसी शर्तके, दयार्द्रभाव के साथ, अपना कर्तव्य समझकर ही हंस को छोड़ देता है। महाभारत का नल जब देवताओं का दूत बनकर जाता है तो वह अपने को छिपाता नहीं है। वह नल के रूप में ही अपना परिचय दमयन्ती को देता है किंन्तु नैषध में तो वह अपने से सम्बन्धित सभी प्रश्नों को टाल देता हे। दमयन्ती द्वारा देवताओं में से किसी एक को भी वरण न करने की दृढ़ता पूर्वक कही गयी बात को सुनने के पश्चात् ही अपना सूक्ष्म परिचय अन्त में ही देता हैं। वास्तविकता तो यह है कि महाभारत में राजा नल देवताओं के भय के कारण दूत का कार्य कर रहे थे और नैषध में अपना कर्तव्य समझकर।

(१३) कवि द्वारा कई नवीन चरित्रों को भी महाकाव्य में प्रस्तुत किया गया है जिनमें प्रमुख चरित्र सरस्वती का है कि जो स्वयंवर में राजाओं का परिचय देने सम्बन्धी कार्य करती है। इसके अतिरिक्त इन्द्र की दूती दममन्ती की सखी कला तर्था चार्वाक आदि कलि के सहयोगी भी कवि की अपनी ही कल्पना की उपज हैं।

(१४) पंचम सर्ग के पश्चात् लगभग सभी वर्णन कवि-कल्पना-प्रसूत ही प्रतीत होते हैं। जैसे—नल का दमयन्ती के भवन में चुपचाप प्रवेश (षष्ठसर्ग), दमयन्ती का नख-शिख-वर्णन (सप्तम-सर्ग), सरस्वती द्वारा स्वयम्वर में उप-

स्थित राजाओं तथा देवताओं का परिचय सम्बन्धी वर्णन (दशम से बारहवें सर्ग तक), विवाह-विधिवर्णन तथा विवाहोल्लास वर्णन (१५–१६ सर्ग), चार्वाक द्वारा नास्तिक-सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा देवताओं द्वारा किया गया उसका खण्डन (१७वां सर्ग) और नल और दमयन्ती की काम और प्रणय सम्बन्धी क्रीडाओं का वर्णन (सर्ग–१८–२२)। ये सभी महाकवि के विराट-कल्पना-विलास के ही द्योतक हैं।

महाकवि श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

आधुनिक युग के समालोचकों ने (विशेषतः यूरोपिय विद्वानों ने तथा उन्हीं के समान दृष्टिकोण रखने वाले भारतीयों ने भी) जो काव्य में कथाप्रवाह, घटनाक्रम का स्वाभाविक विकास, चरित्र-चित्रण सम्बन्धी स्पष्टता, अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा भाषा की विशदता का अन्वेषण करने के अभ्यस्त हैं—भाषा सम्बन्धी दुरुहता, कल्पनाओं की दुर्बोधता, शैली की कृत्रिमता, वस्तुविन्यास का असौष्ठव, शब्दों के प्रयोगों की अतिशयिता, आनुषङ्गिक वस्तुओं के अनावश्यक विस्तृत वर्णन तथा हास्य-रस सम्बन्धी ग्राम्यता की दृष्टि से नैषध-महाकाव्य की कटु आलोचना की है। किन्तु किसी प्राचीन रचना की परीक्षा आधुनिक आदर्शों के आधार पर करना समीचीन प्रतीत नहीं होता है। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम तत्कालीन युग की संस्कृति तथा समाज के आदर्शों तथा प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए ही तत्सम्बन्धी रचना की प्रतीक्षा करें।

इस सिद्धान्त के आधार पर जब हम महाकवि श्रीहर्ष तथा उनकी कृतियों के बारे में विचार करते हैं तो हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि महाकवि श्रीहर्ष संस्कृत-साहित्य के मूर्द्धन्य महाकवियों में से एक हैं। इनका अकेला नैषध-चरित्र ही इनके गुणों की महानता एवं विद्वत्ता का परिचायक है। जहाँ तक पाण्डित्य प्रदर्शन, योग्यता, विद्वत्ता और व्युत्पत्तिका प्रश्न है—श्रीहर्ष को हमें सर्वोच्च स्थान पर बैठा देना पड़ता। इसी कारण वृहत्रयी के अन्तर्गत नैषध-चरित को सर्वोत्कृष्ट रत्न के रूप में स्वीकार किया गया है।

नैषध-चरित में यदि हमें एक ओर भाषा-सौन्दर्य का दर्शन होता है तो दूसरी ओर भावसौष्ठव का भी, एक ओर यदि पद-लालित्य की शोभा दर्शनीय है तो दूसरी ओर स्वर-माधुर्य की छटा अद्वितीय है। एक ओर यदि प्रसादगुण की प्रचुरता का अवलोकन होता है तो दूसरो ओर ओज गुण का लालित्य भी।

एक ओर यदि वैदर्भी की छटा है तो दूसरी ओर गौड़ी का चमत्कार भी। एक ओर यदि उत्प्रेक्षाओं का बाहुल्य है तो दूसरी ओर अर्थान्तरन्यास का वैभव भी। एक ओर यदि कला पक्ष की प्रधानता है तो तो दूसरी ओर भाव पक्ष की उदात्तता भी। एक ओर यदि कल्पनाओं की प्रधानता है तो दूसरी ओर चिन्तन की विशालता भी दर्शनीय है। एक स्थल पर यदि शृंगार-रस सम्बन्धी क्रीडाओं का दर्शन होता है तो दूसरी ओर करुण का द्रवीभाव भी।

श्रीहर्ष ने संस्कृत-काव्यों की रीति परम्परा में, द्वयर्थक, त्र्यर्थक अथवा यत्र-तत्र इससे भी अधिक अनेकार्थक पद्य-रचना की एक नवीन-विधा को जन्म दिया है। पाँच-नलों सम्बन्धी वर्णन प्रसङ्ग में उन्होंने इस प्रकार के द्वयर्थक से लेकर पाँच अर्थ वाले श्लोकों की रचना की है। श्रीहर्ष की अन्यतम विशेषता यही रही है कि 'उन्होंने अपने से पूर्व चली आयी हुयी काव्य-लेखक-पद्धति का अन्धानुकरण नहीं किया है। उन्होंने कालिदास से केवल कल्पना को, भारवि से केवल अर्थगौरव को, माघ से पाण्डित्य-प्रदर्शन एवं वाणी की विशदता को सीखा है। उनका काव्य सरस एवं सहृदय तथा व्युत्पन्न पाठकों के लिये नीरस एवं कण्टकाकीर्ण अरण्य ही है। यदि भारवि की सौर-कान्ति को माघ-मास ने निष्प्रभ कर दिया है तो श्रीहर्ष की वासन्ती-सुषमा ने माघ के कम्पन को भी समाप्त कर दिया है। इसी कारण कहा भी गया है :—

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

वे एक स्वाभिमान-सम्पन्न कवि हैं। उन्हें अपनी विद्वत्ता तथा अपने काव्य की सरसता पर पूर्ण विश्वास है। अरसिकों द्वारा की गयी कटु-आलोचना से वे हतोत्साहित कभी नहीं हुये। किन्तु उसके विपरीत वे पूर्ण दृढ़ता के साथ

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः।
किमस्या नाम स्यादरसतुरुषानादरभरैः॥ नैषध २२।१५०॥

उन्होंने अपने काव्य को अमृतोत्पादक क्षीरसागर ही कहा है :—

स परस्परः क्षीरोदन्वान् यदीयमुदीयते।
मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम्॥ नैषध २२।१५१॥

श्रीहर्ष ने जानबूझकर अपने काव्य को यत्र तत्र कठिन कर दिया है ताकि कोई पण्डितम्मन्य दुष्ट पुरुष उसका रसास्वादन कर ही न सके।

वे एक अत्यन्त गम्भीर प्रकृति के कवि थे। उन्होंने दर्शनशास्त्रों का भली भाँति अध्ययन किया था। उन्होंने न्याय सिद्धान्तों के खण्डन तथा वेदान्त मत के मण्डन में "खण्डनखण्डखाद्य" नामक ग्रन्थ की रचना भी की है। उनकी प्रवृत्तियाँ धार्मिकता से पूर्णतया ओतप्रोत दृष्टिगोचर होती हैं। उन्होंने सांसारिक सुखों को सदैव हेय दृष्टि से देखा था—नैषध के १७हवें सर्ग में इसी प्रकार की भावनायें विद्यमान हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका व्यक्तित्व महान् था तथा उनकी प्रमुख रचना "नैषध" महाकाव्य उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का निदर्शन है।

श्री हर्ष की काव्य-प्रतिभा

महाकवि की शैली—श्री हर्ष की काव्य-शैली प्रायः वैदर्भी है, किन्तु यह वैदर्भी कालिदास की वैदर्भी के सदृश प्रसादगुणसंपन्न नहीं है। यह प्रायः पाण्डित्य से परिपूर्ण है। इतना होने पर भी नैषध-महाकाव्य में कुछ ऐसे स्थल भी हैं कि जो प्रसादगुण में कालिदास के तत्सम्बन्धी वर्णनों की टक्कर में आ सकते हैं। हंस-विलाप-१।८५-१२७॥ तथा हंस का कृतज्ञता-प्रकाशन—२१९—१५॥ इस प्रकार की उनकी वैदर्भी शैली के प्रमुख उदाहरण हैं। वैदर्भी रीति के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही कहा भी है :—

"धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैः।"

इसके सम्बन्ध में उन्होंने पुनः निम्नलिखित श्लोक में संकेत किया है :—

गुणानामास्थानीं नृपतिलकनारीति विदितां
रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं
परीरम्भक्रीडाचरणशरणामन्वहमहम् ॥ १४।९१ ॥

अर्थात् वैदर्भीरीति, श्लेषालङ्कार, वक्रोक्ति-विलास, गुण रस आदि के द्वारा यह (नैषध-चरित) महाकाव्य पूर्ण है।

किन्तु यत्र-तत्र उनकी शैली लम्बे-लम्बे समासों से युक्त होने के कारण गौड़ी शैली के समीप पहुँच गयी है :—

सुवर्णदण्डैकसितातपत्त्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ ११२ ॥

जिस (राजा नल) ने अपने देदीप्यमान तेज की पंक्ति तथा कीर्तिसमूह

को (क्रमशः) सुवर्णदण्ड और धवलछत्र बनाया। एक उदाहरण और भी देखिये :—

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ॥ ११९ ॥

अर्थात्—युद्ध में चमकते हुए धनुष की टंकार वाले नल के सघन वाणों की प्रबल वर्षा से बुझे हुये।

श्री हर्ष की शैली का एक महत्वपूर्ण तत्व उनके द्वारा अनुप्रास, वीप्सा और यमक आदि शब्दालङ्कारों का प्रयोग है। प्रायः प्रत्येक छन्द में इस प्रकार के अलङ्कार उपलब्ध होते हैं। इसी कारण नैषध-महाकाव्य को 'नैषदे पदलालित्यम्' कहकर पदों को माधुर्य से पूर्ण कहा गया है। उनके पदलालित्य का कुछ उदाहरण दर्शनीय है :—

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥ १।४१ ॥

नैषध के एकादश सर्ग में तो श्री हर्ष के पदलालित्य का अपूर्व सौन्दर्य देखा जा सकता है :—

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेप नेपथ्यगन्धमयगन्धवह प्रवाहम्।
आलीभिरापतदनङ्गशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहतभृङ्गवर्गः ॥ ५ ॥

निम्नाङ्कित श्लोक संस्कृत-पंडितों में पदलालित्य के लिये अधिक प्रसिद्ध है :—

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥ ११।६६॥

अनुप्रास, यमक नामक शब्दालङ्कारों द्वारा श्री हर्ष के काव्य में पदलालित्य एवं माधुर्य का वैशिष्ट्य आ सका है।

भाषा—श्री हर्ष की भाषा दुरूह है। किन्तु इसकी दुरूहता को इसलिये ठीक भी कहा जा सकता है कि "खण्डनखण्डखाद्य" जैसे ग्रन्थ की रचना किये जाने के लिये सीधी-साधी और सरल भाषा की आशा करना उचित नहीं है। गम्भीर विषयों के अध्ययन के लिये गम्भीर भाषा का प्रयोग किया जाना स्वाभाविक ही है। अतः उक्त काव्य की भाषा में दुरूहता का आना स्वाभाविक था। रही नैषध-चरित की भाषा की बात—उसके बारे में यही कहा जाना पर्याप्त है कि उनसे पूर्व हुए महाकवि माघ एवं भारवि ने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन हेतु दुरूह भाषा का प्रयोग किया था जिसका प्रभाव उन पर भी था और वे उन दोनों की अपेक्षा अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन को और उत्तमरूप में

विद्वानों के समक्ष रखना चाहते थे। इस कारण उनकी नैषध-चरित में प्रयुक्त भाषा में भी कहीं-कहीं वहुत अधिक दुरूहता आ गयी है। किन्तु कहीं-कहीं प्रसादगुणयुक्त सरलभाषा के भी दर्शन उनके महाकाव्य में होते हैं।

उनके काव्यरूपी गहन-वन में विछे शब्द-रूपी काटों और अलंकाररूपी झाड़-झंखाड़ों में से होकर गमन करना किसी भी साधारण रसिक-पथिक के लिये विना किसी योग्य निर्देशक के सम्भव नहीं है। परिणामस्वरूप योग्य विद्वानों को भी इनके काव्य को समझने के लिये कभी-कभी कोश तथा टीका का आश्रय लेना पड़ा करता है। पूर्ण परिपक्व बुद्धिवाले रसिक विद्वान् ही उनके काव्य की आत्मा तक पहुँचने का साहस कर सकते हैं।

उनकी भाषा सम्वन्धी कठिनता के प्रमुख कारणों में से एक कारण यह भी है कि उन्होंने नैषध-चरित में अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग कर दिया है, जैसे--फाल (१।१६), अगदङ्कार (३।१११), अकूपार (१२।१८), श्यैनंपाता (१९।१२), मिहिकारुच (१९।३५), इन्दिन्दिर (२२।८२) इत्यादि अनेक अप्रचलित तथा दुरुह शव्द उनके काव्य में भरे पड़े हैं। इसी भाँति अपने व्याकरण सम्वन्धी पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिये भी उन्होंने अनेक नवीन शब्दों को गढ़कर अपने काव्य में प्रयुक्त किया है। यथा--"शूननायक" (१८।१२९ ॥), प्रतीतचर (१८।१२९ ॥) अधिगामुका (उक्त श्लोक में ही) तथा हसस्पृशम् (१८।१३०)।

उनकी भाषा की दुरूहता का एक कारण उनकी शब्द-चमत्कार तथा शब्द-क्रीडा की प्रवृत्ति भी है जिसके कारण उनको यमक जैसे अलङ्कारों का अत्यधिक आश्रय लेना पड़ा है। नैषध के तेरहवें सर्ग में "पंचनली" के वर्णन में उनका श्लेष पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। जहाँ पर एक-एक श्लोक के पाँच-पाँच अर्थ हैं-जो एक साथ ही नल और चारों देवताओं के सम्बन्ध में घटित होते हैं।

कहीं-कहीं तो उनकी भाषा अत्यन्त सरल तथा भावपूर्ण है। दो-एक उदाहरण देखिये :--

धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ॥ ३।११६ ॥
नलेन भायाश्शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव ॥ ३।११७ ॥

इसके अतिरिक्त हंस-विलाप वर्णन तथा हंस-द्वारा कृतज्ञाता-प्रकाशन सम्बन्धी उनके वर्णनों की भाषा भी सुवोधगम्य ही है।

अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसी मुहावरेदार भाषा का भी प्रयोग किया है कि जिससे उनकी भाषा का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। ये मुहावरे आजकल भी प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित हैं। जैसे—"कथमास्यं दर्शयिताहे" ॥ ५।७१ ॥ तथा २०।४९ ॥ (मैं अपना मुख कैसे दिखाऊँगा), नवीनमश्रानि तवाननादिदम्" ॥ ९।४१ ॥ (यह तो मैंने तुम्हारे मुख से बिलकुल नई बात सुनी), "आसितुं नादत्त" १८।५३ ॥ (बैठने नहीं दिया), "विक्षितुं नादत्त" १८।५३ ॥ (देखने नहीं दिया)—इत्यादि। इन मुहावरों के अरिरिक्त उन्होंने "इङ्गाल" (१।९ ॥), "विरुद" (११।१७), "धीरणी" (१५।४९ ॥) इत्यादि लोक-भाषाओं में प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग अपनी भाषा में किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हर्ष की भाषा में प्रौढ़ता के साथ परिष्कार भी है। उनकी भाषा में कठिन से कठिन भाव को अभिव्यक्त करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। साथ ही उनकी भाषा प्राञ्जल, सरस, प्रवाहमयी तथा ध्वनि एवं लय से परिपूर्ण है। भावों के सदृश ही उन्होंने भाषा का प्रयोग किया है। रस के आधार पर भाषा में भी प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुणों की व्यापकता का अनुभव पाठक को होता है। किसी-किसी स्थल पर दीर्घसमास, अप्रचलित शब्द, दुरूह-वैयाकरण-प्रयोग, श्लिष्ट पदावली का बाहुल्य कथा कर्मवाच्य प्रयोगों की प्रचुरता भी उपलब्ध होती है।

अलङ्कार—महाकवि श्री हर्ष ने अपने महाकाव्य "नैषध" में शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार दोनों ही प्रकार के विविध अलङ्कारों का प्रयोग प्रचुरमात्रा में किया है। अलङ्कारों के वर्णन में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि उन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग अर्थ की पुष्टि की दृष्टि से ही किया है। काव्य की रसधारा में अवरोध उत्पन्न करनेवाले "मुरज, सर्वतोभद्र और चित्रबन्ध" इत्यादि अलङ्कारों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। पदलालित्य एवं माधुर्य की दृष्टि से उन्होंने अनुप्रास और यमक नामक शब्दालङ्कारों का बहुत प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्ति श्लेष-अलङ्कार के प्रयोग में भी पीछे नहीं रहे हैं। अनुप्रास की छटा के तो उनके महाकाव्य में स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। एक उदाहरण (विशिष्ट) देखिये :—

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः ॥ २।६२ ॥

'यमक' अलङ्कार का प्रयोग तो अनेक रूपों में अनके काव्य में उपलब्ध

होता है। यमक की छटा द्वारा कामदेव की कैसी स्तुति की गयी है? दर्शनीय है :—

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार, श्रृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।
पंचेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन, संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः ॥११–२५॥

श्लेष-अलङ्कार से तो कवि का विशेष अनुराग है। सच्चे पण्डित की भाँति अवसर मिलते ही द्वितीय-अर्थ की ओर संकेत करने करने में नहीं चूकते हैं। श्लेष के सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण नैषध के तेरहवें सर्ग के पाँच नलों के वर्णन सम्बन्धी प्रसङ्ग में उपलब्ध होते हैं। जहाँ सरस्वती द्वारा नल-रूप में उपस्थित चारों देवताओं तथा नल के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। महाकवि ने इस स्थल पर श्लेष का विन्यास इस चातुर्य के साथ किया है कि प्रत्येक श्लोक का एक अर्थ तो राजा नल के पक्ष में घटता है और दूसरी ओर उस विशिष्ट देवता के पक्ष में कि जिसका वर्णन प्रस्तुत है। चौंतीसवें श्लोक में तो महाकवि की श्लेषसम्बन्धी कला का चरमोत्कर्ष पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुआ है जहाँ एक ही श्लोक के पाँच अर्थ हैं जो एक साथ नल व चारों देवताओं के सम्बन्ध में पृथक-पृथक रूप से घटते हैं :—

देवः पतिर्विदुषि ! नैषधराजगत्या, निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः पुनस्ते ॥१३।३४॥

इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी श्लेष का सुन्दर विन्यास उनके द्वारा किया गया है। कोलाहल से परिपूर्ण कुण्डिनपुरी के वर्णन में श्लेष के उस लालित्य को देखिये कि जहाँ स्वर्ग और उस नगर में कुछ भेद नहीं रहा :—

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ॥ २।९८ ॥

सभंग श्लेष सम्बन्धी दो-एक सरल उदाहरण भी यहां दे देना आवश्यक है। दमयन्ती कर रही है कि उसका चित्त लङ्का की कामना नहीं करता :—

चेतो न लंकाम् अयते मदीयम् ॥ ३।६७ ॥

इसी उक्ति से सभंग-श्लेष द्वारा यह भी ध्वनित हो जाता है कि उसका चित्त नल की कामना करता है :—

चेतो नलं कामयते मदीयम्।

'नैषध' काव्य में शब्दालङ्कारों के ही समान अर्थालङ्कारों की भी अतुल-समृद्धि है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति, सन्देह और अपह्नुति जैसे

अर्थालङ्कारों के प्रयोगों में श्री हर्ष ने अपनी अनुपम कल्पनाओं को अभिव्यक्त किया है। इनमें अधिकांश कल्पनायें व्याकरण आदि शास्त्रों और पौराणिक गाथाओं पर आधारित हैं। श्री हर्ष ने दर्शनशास्त्र, व्याकरण तथा कामशास्त्र आदि से अप्रस्तुतों का चयन किया है जिसके कारण ये अप्रस्तुत प्रायः दुरूह हो गये हैं तथा सम्बन्धित शास्त्र के ज्ञान के विना जिनका समझ सकना भी कठिन है। एक स्थल पर नल के घोड़े से सम्बन्धित उत्प्रेक्षा देखिये :--

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः उपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैः जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः॥ १।५९ ॥

अर्थात्--राजा नल के घोड़े का वेग अणुपरिमाण वाले मनुष्यों के मनों से भी अधिक तीव्र था। इस कल्पना को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पाठकों को नैयायिकों के "अणुपरिमाणं मनः" सम्बन्धी सिद्धान्त का भी ज्ञान हो। इस भाँति व्याकरणशास्त्र से लिये गये 'उपमान' को देखिये :--

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता॥ २।९५ ॥

अर्थात्--शत्रुओं द्वारा दुर्जेय कुण्डिनपुरी के चारों ओर परिखा के व्याज से कुण्डली लगा दी गयी है। जैसे शेषनाग के अवतार पतञ्जलि द्वारा रचित भाष्य की उस फक्किका पर जो समझ में नहीं आती, गोल रेखा (कुण्डली) खींच दी जाती है।

कुछ स्थानों पर तो दर्शन तथा व्याकरण सम्बन्धी ये उपमान अत्यधिक शास्त्रीय होने के कारण अत्यधिक जटिल हो गये हैं। दमयन्ती के विरहजनित अश्रुओं को देखकर सखियाँ नल के विरह-ताप का अनुमान कर लेती हैं। इस वर्णन के साथ न्यायदर्शन के पंचावयव-वाक्य की परार्थानुमान सम्बन्धी प्रणाली का प्रयोग है जिसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन का उच्चतम निदर्शन भी विद्यमान है। इसी प्रकार की जटिल कल्पना नल का रूप धारण कर आये हुये इन्द्र को व्याकरण के नियमों के विरुद्ध स्थानिवद्भाव का दुष्ट-प्रयोग करने में प्रस्तुत की गयी है (१०।१३६)। यत्र तत्र नाट्यशास्त्र तथा सहित्यशास्त्र से सम्बन्धित उपमानों को भी महाकवि ने अपनाया है (९।११८ ।।)। इस भाँति का पाण्डित्य-प्रदर्शन तो वस्तुतः काव्य की रसानुभूति में सहायक होने की अपेक्षा बाधा ही उत्पन्न कर सकता है। किन्तु कहीं-कहीं पर उनकी ये कल्पनायें सरल तथा चमत्कारपूर्ण भी दृष्टिगोचर होती हैं। निम्नलिखित श्लोक में उन्होंने पौराणिक-कथा का उपयोग किस चातुर्य के साथ किया है? दर्शनीय है :--

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥ १।३२ ॥

अर्थात्——जिस प्रकार सर्पभक्षी गरुड़ से ढोया जाता हुआ प्रद्युम्न बलपूर्वक विरोचन-पौत्र (अर्थात् बलपुत्र-वाणासुर) के अग्नि से व्याप्त (शोणितपुर नामक) नगर में प्रविष्ट हुआ था उसी प्रकार भोग-विलासपूर्ण युवावस्था के कारण प्राप्त कामदेव भी नल के प्रति आकृष्ट दमयन्ती के मन में प्रविष्ट हुआ ।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर तो उनकी कल्पनायें साधारणजनसंवेद्य भी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार की कल्पनायें हमें हंस-विलाप तथा हंस द्वारा कृतज्ञता-प्रकाशन सम्बन्धी प्रसंगों में सरलता से उपलब्ध हो सकती हैं ।

लोक-व्यवहार पर आधारित उनके अप्रस्तुत भी प्रायः सुन्दर बन गये हैं (२२।२५, २२।१४, २१।६२ इत्यादि) ।

उत्प्रेक्षाओं से तो उनका महाकाव्य भरा पड़ा है । हेतूत्प्रेक्षा सम्बन्धी उनकी एक अनूठी कल्पना दृष्टव्य है । यह उत्प्रेक्षा चन्द्रमा के कलङ्क से सम्बन्धित है :——

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ १।८ ॥

इसी प्रकार "हरि" के श्लिष्ट पद-प्रयोग पर आधारित हेतूत्पेक्षा भी दर्शनीय है । (१।७०) । राजा नल के घोडे अपने पैरों को आकाश की ओर उठाते हैं किन्तु एकाएक उन्हें स्मरण हो आता है कि उनके ही साथी किसी हरि (१–वामनरूप कृष्ण तथा २–घोड़ा) ने आकाश को केवल एक पैर से ही नाप लिया था । ऐसा सोचकर वे घोड़े अपने दोनों पैरों को पुनः पृथ्वी पर रख लेते हैं ।

वस्तुतः महाकवि ने उप्रेत्क्षाओं में अत्यधिक मौलिकता तथा अनुपम चमत्कार का प्रदर्शन अत्यन्त सफलता के साथ किया है । स्वयं के लिये संकेतिक "उत्प्रेक्षा-कवि" की उपाधि उन्हें बिना किसी संकोच के प्रदान की जा सकती है ।

उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों के अतिरिक्त उन्होंने अतिशयोक्ति, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, समासोक्ति, दृष्टान्त आदि अनेक अलङ्कारों का भी समुचित प्रयोग अपने महाकाव्य में यथास्थान किया है । अर्थान्तरन्यास के रूप में नितान्त सत्य का स्वरूप-उद्घाटन करनेवाले सुभाषितों का भी नैषध महाकाव्य में समुचित स्थानों पर प्रयोग किया गया है । प्रथम अङ्क में ही देखिये—— १।५०।।, १।१०२।।, १।१३१।। इत्यादि ।

संवाद-योजना—महाकवि ने संवादों की योजना ऐसी उत्तम की है कि जिसके कारण उनमें नाटकीयता का भी भान पाठक को हो जाता है। तृतीय अङ्क में दमयन्ती की सखियों का हटाया जाना पूर्णतया नाटकीय प्रतीत होता है। शीघ्रता और घबराहट इत्यादि को दिखलाने की दृष्टि से वे कई क्रियाओं का एक साथ प्रयोग करते हैं :—(४।१११—अधिक कापि-इत्यादि)। नाटकीयता की दृष्टि से उनके ९।८ से १४ तक, १७।१२१ से १३२ तक, २०।३७ से ४० तक प्रसंग द्रष्टव्य हैं। यत्र-तत्र लोक-व्यवहार सम्बन्धी शब्दों तथा शब्द-समूहों का प्रयोग भी उनकी नाट्यकला सम्बन्धी प्रतिभा का द्योतक है।

छन्द—महाकवि श्री हर्ष द्वारा नैषध-चरित महाकाव्य में १९ छन्दों का प्रयोग किया गया है। जिनमें से इन्द्रवज्रा कोटि के उपजाति छन्द का प्रयोग सात सर्गों में हुआ है। अतः यह उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द रहा होगा। वंशस्थ नामक छन्द चार सर्गों में प्रयुक्त हुआ है। बारहवें सर्ग में विभिन्न छन्दों का प्रयोग है जिनमें बाहुल्य "वंशस्थ" का ही है। वसन्ततिलका, श्लोक तथा स्वागता नामक छन्दों का प्रयोग क्रमशः २—२ सर्गों में प्रधानरूप से हुआ है। द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वैतालीय तथा हरिणी नामक छन्दों में से प्रत्येक का प्रयोग एक-एक सर्ग में किया गया है। अचलधृति, तोटक, दोधक तथा पृथ्वी छन्दों में तो १—१ ही पद्य उपलब्ध होता है। मन्द्राकान्ता नामक छन्द में लिखित पाँच पद्य मिलते हैं। पुष्पिताग्रा, मालिनी, शिखरिणी तथा स्रग्धरा में लिखे गये पद्य कुछ अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं।

प्रकृति वर्णन—'नैषध' के प्रथम सर्ग में ही प्रकृति-चित्रण का वर्णन उपलब्ध होता है। कवि ने पूर्वराग की अवस्था में व्यथित राजा नल के मन-बहलाव के निमित्त उपवन जाने सम्बन्धी प्रसङ्ग प्रस्तुत किया है। उपवन में पहुँचकर राजा नल प्रत्येक वस्तु (वृक्ष, पुष्प इत्यादि को) को प्रिया से वियुक्त हुये स्नेही व्यक्ति की दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि में सुन्दर से सुन्दर फल-फूल आदि उनके क्लेश को बढ़ाते ही हैं घटाते नहीं। अतएव इस प्रकृति-चित्रण को राजा नल के वियोग-दुःख को उद्दीप्त करनेवाला प्रकृति-चित्रण ही कहा जा सकता है। राजा नल ने चम्पा की कलियों को देखकर उन्हें कामदेव की पूजा का दीपक ही समझा :—

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥ १।८६ ॥

महाकवि ने प्रकृति का मानवीकरण करके उसे मानवोचित अनभूतियों द्वारा स्पन्दित भी किया है :—

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते ।
स्थितैः समादाय महर्षिवार्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥ ११७७ ॥

इस श्लोक में वृक्षों द्वारा आतिथ्य सम्बन्धी किया गया प्रदर्शन अनूठा ही है। एक और देखिये कि जिसमें वृक्ष पृथ्वीमाता को प्रणाम करते हैं :—

गतायद्रुसंगतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेणताम् ।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान् ॥११९८॥

प्रकृति की सजीवता का उत्तम उदाहरण यह है :—

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च तापमृच्छ च ।
इतीव पान्थाञ्शपतः पिकान्द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥ ११९० ॥

इस पद्य में कोयल अपनी आँखों को लाल करके पथिकों को शाप दे रही है कि तुम और अधिक दुर्बलता को प्राप्त करते जाओ, वारंवार मूर्छित होओ, ज्वर से पीड़ित होओ।

प्रथम-सर्ग में इस प्रकृति-चित्रण में पशु-पक्षियों के मानव-सदृश कौटुम्बिक सम्वन्ध का दर्शन भी हमें हंस के राजा द्वारा पकड़ लिये जाने पर अपनी मां, पत्नी तथा शिशुओं के मार्मिकतापूर्ण वर्णन में (९।१३५–१४२) उपलब्ध होता है। यह तो हुआ चेतन पक्षी का वर्णन; जड़ वस्तुओं के कौटम्बिक साहचर्य का भी वर्णन हमें नैषध में प्राप्त होता है (यथा–२२।१२४)।

इस भाँति नैषध के प्रथम सर्ग में हमें राजा नल की विरहानल को उद्दीप्त करनेवाला प्रकृति का वर्णन मिलता है तथा चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती की विरहाग्नि को।

वास्तविकता तो यह है प्रकृति-चित्रण में श्री हर्ष का मन रमता ही नहीं है। इसी कारण उनके इस महाकाव्य में प्रकृति के आलम्बनरूप का वर्णन प्रायः अनुपलब्ध ही है। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रस्तुत काव्य में उद्दीपन दृष्टि से प्रकृति का वर्णन प्रस्तुत किया गया है तथा इस चित्रण में कल्पना-वैचित्र्य का भी चित्रण हुआ है।

भावाभिव्यक्ति (भावपक्ष)—श्री हर्ष में भावाभिव्यक्ति की अपूर्व क्षमता है। उनकी कल्पनाओं ने भावों को अत्यधिक मनोहर और सुकुमार बनाया है। यद्यपि उनके भाव अत्यन्त गम्भीरता से परिपूर्ण हैं किन्तु अभिव्यक्ति के साथ उनका सौन्दर्य पूर्णरूपेण निखर उठा है।

देखिये—भवितव्यता तथा मानव-हृदय के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध को उन्होंने कितने सरल और भावपूर्ण शब्दों में अभिव्यक्त किया है :—

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेनभृशावशात्मना ।। १।१२० ।।

अवश्य संभव होनेवाले विषयों के प्रति विधि की इच्छा जिस ओर जाती है, विवश होकर मनुष्य का चित्त भी उसी ओर जाता है, जैसे आँधी के साथ तिनका ।

एक अत्यन्त भावपूर्ण उच्चकोटि की कल्पना देखिये । कालरूपी किरात ने दिनरूपी हाथी का वध किया है । उसकी रक्त की धारा ही मानों रक्त (लाल) वर्ण की संध्या है और उसके मस्तक के मोती ही मानो तारे के रूप में बिखरे हुये हैं :—

कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद् यस्य दिनद्विपस्य ।
तस्यैव संध्या रुचिरास्रधारा ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि ॥ २२।९ ॥

चन्द्रमा के अन्दर विद्यमान कलङ्क के सम्बन्ध में महाकवि की कल्पना की उड़ान देखिये :—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ।। १।८ ।।

राजा नल की विजय-यात्राओं के समय जो धूलि उड़कर समुद्र में गिर गयी थी, कही कीचड़ बनकर समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा में कलङ्क के रूप में दिखलाई पड़ती है ।

नल के घोड़े आकाश में अपने पैर को ऊपर उठाकर लज्जित होकर इस कारण लौट आये कि विष्णु (हरि-घोड़ा) ने एक ही पैर से सम्पूर्ण आकाश को नाप लिया था । हम चार पैरों से उसे क्यों नापें ?—

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि यस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रितानर्नैन्यर्वर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ।। १।७० ।।

इसी प्रकार के भवाभिव्यंजन सम्बन्धी अनेक उदाहरण उनके ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं कि जिनका चारुत्व यथास्थान देखा जा सकता है ।

रसाभिव्यक्ति—'नैषध' महाकाव्य में अंगीरस 'शृङ्गार' है । वीर, करुण तथा हास्य आदि अन्य रसों का प्रयोग भी महाकवि श्री हर्ष द्वारा अंगभूत रसों (अंगरसों) के रूप में किया गया है । शृङ्गार के दोनों पक्षों 'संयोग तथा

विप्रलम्भ' का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। श्री हर्ष में कालिदास सदृश रस-परिपाक दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उनका शृङ्गार कवि-हृदय से निस्सृत स्वाभाविक स्रोतस्विनी के रूप में नहीं है उस पर वत्स्यायन के कामसूत्र की गहरी छाप है। अठारहवें तथा बीसवें सर्ग में चित्रित काम-क्रीड़ा के चित्र इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त शृङ्गार का आलम्बन-विभाव दमयन्ती का नख-शिख वर्णन (सप्तम सर्ग में), ज्योनार के समय वरातियों के साथ किया गया हास्य (सोलहवें सर्ग में) इत्यादि वर्णनों में कवि ने अपने शृङ्गार रस सम्बन्धी चातुर्य को प्रकट किया है। किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि उनका शृङ्गार प्रायः अमर्यादित होकर अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है। इतना सब कुछ होने पर भी उनके द्वारा प्रस्तुत कतिपय संभोग के चित्र अत्यधिक प्रभावोत्पादक तथा कलात्मक दृष्टि से परिपूर्ण भी हैं। दो-एक उदाहरण देखिये :—

श्रीहर्ष ने विवाह के पश्चात् के नल-दमयन्ती के प्रथम-मिलन का विस्तृत वर्णन अठारहवें सर्ग में किया है। प्रथम समागम सम्बन्धी इस प्रसङ्ग को देखिये :—

वल्लभस्य भुजयोः स्मरोत्सवे दित्सतोः प्रसभमङ्कपालिकाम्।
एककश्चिरमरोधि बालया तल्पयन्त्रणनिरन्तरालया॥ १८।४३॥

संयोग सम्बन्धी एक और चित्र देखिये :—

एकवृत्तिरपि मौक्तिकावलिश्छिन्नहार विततौ तदा तयोः।
छाययाऽन्यहृदयेऽपि भूषणं श्रान्तिवारिभरभावितेऽभवत्॥ १८।१०४॥

अर्थात्——सूरत-काल में नल के वक्षस्थल पर लटकती हुयी भी मोती की माला सुरतश्रम-जन्य स्वेद-विन्दुओं से व्याप्त वक्ष-स्थल पर प्रतिविम्बित होने से दमयन्ती के हृदय पर भी भूषण बन गयी।

सुरतावस्था के पश्चात् का एक अन्य मनोहर-चित्र भी देखिये :—

अर्धमीलितविलोलतारके सा दृशौ निधुवनक्लामालसा।
यन्मुहूर्त्तमवहन्न तत् पुनस्तृप्तिरास्त दयितस्य पश्यतः॥ १८।११९॥

अर्थात्——सुरत-श्रम के कारण आलस्यपूर्ण उस (दमयन्ती) ने कुछ समय तक जो अर्धनिमीलित एवं चंचल पुतलियों वाले नेत्रों को धारण किया उसे वारंवार देखते हुये भी प्रिय नल को तृप्ति नहीं हुयी।

इस सुरत सम्बन्धी चित्रों के अतिरिक्त भी महाकवि ने अनेक स्थलों पर

संभोग को व्यंजित करनेवाले पद्यों की रचना की है और उनमें अपनी कला का पूर्ण उपयोग भी किया है। उदाहरणार्थ पारिग्रहण के अवसर पर चित्रित एक पद्य को देखिये :—

विदर्भजायाः करवारिजेन यन्नलस्य पाणेरुपरि स्थितं किल।
विशङ्कय सूत्रं पुरुषायितस्य तद् भविष्यतोऽस्मायि तदा तदालिभिः ॥ १६।१५ ॥

अर्थात्—नल के हाथ के ऊपर जो दमयन्ती का हस्तकमल रखा गया उसे भविष्य में होनेवाले पुरुषायित (विपरीत-रति) का सूचक मानकर उस समय दमयन्ती की सखियाँ मुस्करा दीं ॥

नायिका दमयन्ती का नख-शिख-वर्णन दूसरे, सातवें, दसवें, पंद्रहवें और बाईसवें सर्ग में भी मिलता है। यद्यपि नख-शिख वर्णन तो प्रायः प्रत्येक महाकवि ने किया है किन्तु नैषध जैसा विलासमय नख-शिख चित्रण अन्यत्र उपलब्ध न होगा (देखिये–१७।९१ ॥)। इस नख-शिख वर्णन में श्री हर्ष ने दमयन्ती के अंगों के उपमानों के रूप में प्रयुक्त परम्परागत उपमानों का तो प्रयोग किया ही है, साथ ही अन्य शास्त्रों, पुराणों और लोकव्यवहार तक की घटनाओं से भी उपमानों का चयन किया है।

स्तनों की उपमा के लिये सामान्यतः प्रयुक्त उपमान 'घट' को ही उन्होंने चुना है किन्तु इन घटों को उस (दमयन्ती) के शरीर में कामदेव के तैरने का साधन भी बना दिया है :—

अपितद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ २।३७ ॥

अर्थात्—कान्ति प्रवाह से अगाधता को प्राप्त भी उस (दमयन्ती) के शरीर में बढ़ते (क्रीडा करते) हुये कामदेव तथा युवावस्था के लिये (दमयन्ती के विशाल) दोनों स्तन मानों तैरने के घड़े ही हो गये हैं।

विप्रलम्भ-शृङ्गार का चित्रण दमयन्ती और राजा नल के पूर्वराग के रूप में चित्रित है। इन वर्णनों में कवि ने अपनी कल्पनाओं का पर्याप्त प्रयोग किया है। कामाग्नि से संतप्त दमयन्ती बार-बार सरस एवं नवीन विकसित कमलों को अपने हृदय पर रखने के लिए ग्रहण करती है किन्तु अंगस्पर्श होने से पूर्व ही वह निश्वास की तप्त वायु से सूखकर मर्मर (पापड़ सदृश) हो जाता है और दमयन्ती उसे फेंक देती है :—

स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम्।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥ ४।२९ ॥

उस दमयन्ती के द्वारा संतपनशील हृदय पर रखा गया हुआ चन्दन का लेप बुदबुद (पानी का बलबूला) बनकर हृदयस्थित कामदेव के पास तारेरूप में विद्यमान परिवार के सहित आये हुये चन्द्रमा के सदृश प्रतीत होता था :—

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदितयाभृतबुद्बुदमाबभौ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाङ्कगतोडुपरिग्रहः ॥ २।२८ ॥

अङ्गीरस के रूप में प्रयुक्त श्रृङ्गाररस सम्बन्धी दोनों पक्षों का सूक्ष्म विवेचन कर देने के पश्चात् अब यहाँ यह भी आवश्यक हो जाता है कि अंगरूप में प्रयुक्त रसों के भी एक-एक या दो-दो उदाहरण देकर महाकवि के अन्य रस-सम्बन्धी चित्रण को भी देख लिया जाय। सर्वप्रथम उनके हास्य रस का चित्रण देखिये :—

बराती जब भोजन कर चुके तब उन्हें मुखशुद्धि के निमित्त ऐसी सुपारी भेंट की गई कि जो विच्छू के आकार की थी। अतः ग्रहण करते ही बरातियों ने विच्छू समझकर तुरन्त फेंक दिया। यह देखकर घराती लोग हँस पड़े :—

मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगैरथोज्झि पर्णालिखेच्य वृश्चिकम्।
दमार्पितान्तर्मुखवासनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमाहासिताखिलैः ॥ १६।१०९ ॥

इसी भाँति एक कल्पना में श्री हर्ष कहते हैं कि धर्मविधि में संलग्न ब्रह्मा वाणी (सरस्वती) को पूर्णरूप से रोके रखते हैं (तात्पर्य यह है कि मेरी पत्नी बाहर जाकर नल को देखकर कहीं उन पर अनुरक्त न हो जाय—इस कारण वे मौन धारण कर सरस्वती को वहीं रोके रखते हैं।) किन्तु वेदाभ्यास के कारण जड़ ब्रह्मा को यह पता नहीं कि सरस्वती पहले ही उस नल के कंठ का आलिङ्गन कर रस से तृप्त हो चुकी हैं :—

अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम्।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥ ३।२० ॥ इत्यादि

करुण रस का चित्रण हमें प्रथम सर्ग में राजा नल द्वारा हंस के पकड़ लिये जाने पर उसके विलाप में उपलब्ध होता है। हंस की उक्तियाँ वस्तुतः अत्यन्त ममस्पर्शी हैं :—

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो ! विधे त्वां करुणा रुणद्धि न ॥ १।१३५ ॥

इस प्रकार की करुणारस से सम्बन्धित हंस की उक्तियाँ पूरे हंस-विलाप वर्णन में ही हमें उपलब्ध होती हैं।

वीर रस का वर्णन हमें दमयन्ती के स्वयंवर में आये हुए राजाओं के वर्णन में प्राप्त होता है (देखिये सर्ग ११, २२ तथा १३)।

चरित्र-चित्रण

राजा नल—नैषध महाकाव्य में नायक नल धीरोदात्त नायक के रूप में स्थित हैं। साहित्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा निर्धारित नायक के प्रायः सभी गुण उनमें विद्यमान हैं। वह एक पुण्यात्मा (देखिये श्लोक सं० १।१), विद्वान् (१।४ तथा ५), शास्त्रचक्षु (१।७), शूरवीर (१।६ तथा १०), त्यागी तथा दानी (१।१५–१६) और गुणों के प्रति अनुराग करनेवाले (१।१७) व्यक्ति हैं। महाभारत के नल की अपेक्षा वे अधिक उदार, धर्मनिष्ठ तथा कर्तव्य-परायण हैं। उनके स्वाभिमान का द्योतक उनका यही आचरण है कि वे अत्यधिक कामसंतप्त होने पर भी दमयन्ती के पिता राजा भीम से उसकी याचना नहीं करते।

हंस के प्रति किये गये व्यवहार के आधार पर राजा नल का परम कारुणिक, दयालु तथा उदार होना परिलक्षित होता है। हंस-विलाप-वर्णन में हंस द्वारा कथित अपने परिवार की दयनीय दशा का श्रवणकर राजा नल के नेत्र अश्रु-परिपूर्ण हो जाते हैं तथा उसके उक्त वर्णन से प्रभावित होकर राजा नल बिना किसी शर्त आदि के ही हंस से केवल यह कहकर ही उसे छोड़ देते हैं :—

रूपमदर्शिधृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय । १–१४३ ॥

अर्थात्—मैंने तेरे जिस रूप को देखने के लिये तुझे पकड़ा था वह तेरा रूप मैंने देख लिया। अब तुम अपनी इच्छानुसार जहाँ भी जाना चाहो, जाओ।

देवों के दौत्यरूप में विद्यमान राजा नल अनेक गुणों से युक्त होकर पाठक के समक्ष आते हैं। इन्द्र आदि देवता नल को अपना दूत बनाकर उनमें से किसी एक को प्रतिरूप में वरण करने के लिये दमयन्ती के समीप प्रेषित करते हैं यह नल की कठोर-परीक्षा का समय है। एक ओर राजा स्वयं ही दमयन्ती के प्रेम में आसक्त हैं और वह यह भी जानते हैं कि दमयन्ती भी उसी भाँति उनके प्रति अनुरक्त हैं। दूसरी ओर उसे अपनी प्रेयसी को देवताओं में से किसी एक को वरण करने के लिये तैयार भी करना है। इस भाँति राजा नल के लिये यही घोर परीक्षा का समय है। बहुत कुछ सोचने के पश्चात् कर्त्तव्यपरायण

होने के नाते वे प्रेम की अपेक्षा कर्त्तव्य को ही श्रेष्ठ समझते हैं और उसी दृष्टि से इन्द्र के प्रभाव से अदृश रूप धारण कर दमयन्ती के भवन में प्रवेश करते हैं। अपने को पूर्णरूप से प्रच्छन्न रखते हुए कभी देवताओं के असीम वैभव का लोभ देकर और कभी देवताओं के क्रोध सम्बन्धी भय का प्रदर्शन कर दमयन्ती से किसी एक देवता का वरण कर लेने की प्रार्थना करते हैं। किन्तु दमयन्ती अपने निश्चय से तनिक भी विचलित नहीं होती। वह नल के प्रति अपने अनन्य अनुराग को ही प्रकट करती है। दमयन्ती द्वारा बार-बार पूछे जाने पर भी वे अपने वास्तविक रूप को प्रकट नहीं करते हैं और वारंवार उससे यही प्रार्थना करते हैं कि वह होनेवाले स्वयंवर में किसी देवता को ही वरण करे। अन्त में राजा नल दमयन्ती को यह भय भी दिखलाते हैं कि यदि वह देवों का निरादार कर राजा नल का ही वरण करेगी तो देव उसे शाप दे देंगे और इस भाँति वह नल को प्राप्त न कर सकेगी। यह सुनकर दमयन्ती अत्यन्त व्याकुल होकर नल को सम्बोधित कर नाना प्रकार से विलाप करने लगती है। इस दृश्य को देखकर राजा नल अपने को नहीं रोक पाते हैं और दमयन्ती के समक्ष अपने को प्रकट कर देते हैं। किन्तु बाद में उनको अपनी त्रुटि का ध्यान आता है और वे उसके लिये पश्चात्ताप भी करते हैं। इस वर्णन से राजा नल की कर्त्तव्यपरायणता, त्यागशीलता, वदान्यता, सहृदयता तथा सत्यता जैसे महापुरुषोचित गुणों का स्पष्ट ज्ञान पाठक को प्राप्त होता है। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे दमयन्ती के अनुराग में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अन्धे नहीं हुए थे। अपितु इन्द्रियजन्य भोगलिप्सा की परिधि से वे कहीं अधिक ऊँचे उठे हुये थे।

प्रस्तुत काव्य के १८ अठारहवें तथा २० बीसवें सर्ग में एक सफल गृहस्थ के रूप में वे पाठक के समक्ष आते हैं। अतः यह कहना उचित ही है कि धीरोदात्त नायक के सभी प्रकार के गुणों से वे युक्त हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे वस्तुतः एक महान् पुरुष की श्रेणी में रखे जाने योग्य व्यक्ति हैं। उदाहरण रूप में हंस की निम्नलिखित उक्ति को देखिये :—

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैः तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात्॥ ३।२३॥

अर्थात्—यदि महापुरुषों का वर्गीकरण किया जाय तो राजा नल ही प्रथम स्थान पर गिने जायेंगे कि जिन्होंने अपने पराक्रम के वैभव से असंख्य शत्रु राजाओं के पदों को अपने अधीन करने में समर्थता प्राप्त की थी।

महाकवि द्वारा अपने नैषधचरित महाकाव्य में चित्रित राजा नल का चरित्र

इतना लोकरंजक हो गया है कि यदि उनके महाकाव्य के आधार पर उनके जीवन के सम्बन्ध में यह कह दिया जाय कि उनका जीवन चारों पुरुषार्थों का समन्वित रूप था तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

दमयन्ती—एक नवयौवना, परमसुन्दरी, लज्जाशीला तथा स्थिरचित्ता मुग्धा नायिका है। उसकी बिनयसम्पन्नता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है कि वह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सती, साध्वी, प्रतिव्रता, स्त्री के ही रूप में पाठकों के समक्ष आती है। युवतियों सम्बन्धी उद्दाम कामवासना में लिप्त दिखलाई नहीं देती। उसकी तो एकमात्र अभिलाषा है, नल की दासी बनने की। वह हंस से से कहती है :—

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण॥ ३।८०॥

अतएव उस (दमयन्ती) के मन को अमूल्य चिन्तामणि को भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं है :—

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्।
चित्ते ममैकस्स नलस्त्रिलोकीसारो विधिः पद्ममुखस्स एव॥ ३।८१॥

चन्द्रोपालम्भ के अवसर पर नल सम्बन्धी विरहव्यथा से वह मूर्च्छित हो जाती है किन्तु पिता के आने पर वह शीघ्र ही विरहव्यथा के चिन्हों को छिपाकर उनके चरणों में प्रणाम करती है। यह उसके उदात्त-चरित्र की महती विशेषता है। उसके उदात्त चरित्र की तेजस्विता, इन्द्र-दूती द्वारा तथा देवों के दौत्यरूप में नल द्वारा किये गये प्रस्तावों के निराकरण में लक्षित होती है। स्वर्गलोक के अधिपति तथा अनन्त ऐश्वर्य के स्वामी इन्द्र के रूप तथा ऐश्वर्य के प्रति उसमें लोभ नहीं है। राजा नल में ही उसकी अप्रतिम निष्ठा है।

दमयन्ती एक आदर्श गृहणी के रूप में भी हमारे समक्ष आती है। वह देवपूजा किया करती थी तथा पति के भोजन कर लेने के पश्चात् ही भोजन किया करती थी। उसके सम्पूर्ण चरित्र की विशेषता इन्द्र के शब्दों में इस प्रकार है :—

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी॥ ३।२६॥

अर्थात्—दमयन्ती पृथ्वी का भूषण, कोई अमूल्य रत्न और अमोघ कामशास्त्र है।

प्रस्तुत महाकाव्य के प्रतिनायक इन्द्र तथा अन्य देवगण हैं।

नैषधमहाकाव्य का महाकाव्यत्व

"नैषधमहाकाव्य" संस्कृत-साहित्य के पाँच सुप्रसिद्ध महाकाव्यों [(१) कुमारसंभव, (२) रघुवंश, (३) किरातार्जुनीयम् , (४) शिशुपालवधम् और (५) नैषध महाकाव्यम्] में से एक है। इनमें से अन्तिम तीन महाकाव्यों की गणना "बृहत्त्रयी" में की गयी है तथा अवशिष्ट दो महाकाव्यों और मेघदूत की गणना लघुत्रयी में की गयी है। बृहत्त्रयी के अन्तर्गत आने वाले तीनों महाकाव्यों में "नैषधमहाकाव्य" ही श्रेष्ठतम महाकाव्य माना गया है। विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ "साहित्यदर्पण" में महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण किये हैं :—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
श्रृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥
अङ्गानि सर्वेऽपि रसा सर्वे नाटकसन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम्॥
चत्वारः तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः॥
नातिस्वल्पाः नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीयं यथायोगं साङ्गोपांगा अमी इह॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य च।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु॥

अर्थात्—महाकाव्य सर्गों में बँधा होता है। उसमें एक धीरोदात्त आदि नायक (प्रधानपात्र) होता है जिसका देवता अथवा सद्वंशोत्पन्न क्षत्रिय होना

आवश्यक है। अथवा एकवंश में ही उत्पन्न अनेक कुलीन राजा भी नायक हो सकते हैं। शृङ्गार, वीर और शान्त रसो में से कोई एक रस अङ्गी (प्रधान) रस होता है। अन्य रसों का प्रयोग गौण अथवा सहायक रसों के रूप में किया जा सकता है। सब नाटक-सन्धियाँ विद्यमान रहा करती हैं। कथावस्तु का ऐतिहासिक अथवा किसी लोकप्रसिद्ध, सज्जन, उदार, धर्मात्मा व्यक्ति के वीरतापूर्ण अथवा अनुकरणीय कार्य से सम्बन्धित होना आवश्यक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में से किसी एक की प्राप्ति महाकाव्य का उद्देश्य होना चाहिये। महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण से होना चाहिये। कहीं पर दुष्टों की निंदा तो कहीं सज्जनों की कीर्ति अथवा उनका गुणगान भी हो। कम से कम ८ सर्गों का होना आवश्यक है जो न अधिक छोटे तथा न अधिक लम्बे ही हों। प्रत्येकसर्ग में एक ही प्रकार के छन्द हों किन्तु सर्ग का अन्तिम छन्द भिन्न होना आवश्यक है। कभी-कभी किसी सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग-विषयक कथा का संकेत कर दिया जाना भी आवश्यक है। महाकाव्य में (प्रकृति वर्णन) संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु (छहों), वन, समुद्र, संयोग, वियोग (मिलन और विरह), मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, आक्रमण, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथास्थान संगोपांग वर्णन होना चाहिये। महाकाव्य का नाम कवि के नाम से अथवा कथानक के आधार पर अथवा प्रमुख चरित्र-नायक के नाम पर होना चाहिये तथा सर्ग का नाम सर्ग से सम्बन्धित कथा के आधार पर रखा जाना चाहिये।

ये सभी लक्षण "नैषधमहाकाव्य" में विद्यमान हैं। इस महाकाव्य की कथावस्तु महाभारतके वनपर्व से ली गयी है तथा २२ सर्गों में कथा का निबन्धन किया गया है। इसके नायक नल धीरोदात्त नायक के सामान्य तथा विशिष्ट गुणों से युक्त सद्वंश क्षत्रिय हैं। इसमें अंगीरस (प्रधान रस) शृङ्गार है। अन्य वीर, करुण, हास्य आदि सहायक (गौण) रस है कि जिनका प्रयोग अंग रूप में हुआ है। प्रत्येक सर्ग में प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन भी किया गया है। बारहवें सर्ग में विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें वंशस्थ छन्द का ही बाहुल्य है। प्रातःकाल,

सायंकाल, रात्रि, चन्द्रमा, विवाह, समुद्र, संभोग आदि का वर्णन यथास्थान किया गया है। मुखसन्धि, निर्वहण सन्धि आदि सन्धियों का निर्वाह सम्यक् रूप में हुआ है। कथावस्तु ऐतिहासिक है। दमयन्ती की प्राप्ति होना ही फल है। चरित्रनायक की दृष्टि से इसका "नैषधमहाकाव्यम्" नाम सार्थक ही है।

इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकाव्य में प्रायः सभी लक्षणों का सन्निवेश हुआ है। अतः यह एक उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है।

नैषधे पदलालित्यम्

अर्थात्—नैषधमहाकाव्य में पदलालित्य का वैशिष्ट्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि पदलालित्य सम्बन्धी वैशिष्टच से नैषधमहाकाव्य ओतप्रोत है। यद्यपि प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों गुणों से सम्बन्धित वर्णन नैषध में विद्यमान है, तथापि यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि प्रसाद तथा माधुर्य के साथ पदों का लालित्य भी उसी प्रकार निखर आता है कि जिस भाँति सुहागे से सोना निखर आता है। पदलालित्य के कारण काव्य में संगीतात्मकता तथा लयात्मकता का भी समावेश हो जाया करता है साथ ही काव्य श्रुतिसुखद भी हो जाया करता है। उनके इस वैशिष्ट्य के कारण ही विद्वानों एवं आलोचकों को यह कहने के लिये वाध्य हो जाना पड़ा कि—"नैषधे पदलालित्यम्"।

उनके द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास तथा यमक आदि शब्दालङ्कारों के कारण यह पदलालित्य और भी अधिक चमत्कारपूर्ण बन गया है। कुछ उदाहरण देखिये :—

(१) अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥१।२०॥

(२) अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यभिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥१।४१॥

(३) सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतः ॥४।७२॥

अर्थात्—यह चन्द्रमा यमराज के लिये सावधान होकर (ब्रह्मा द्वारा) सम्पूर्ण कलारूपी दाँतों से विरहिणी-समूह को चवाने का साधन बनाया गया है। अतएव इसे द्विजराज (द्विजों अर्थात् दाँतों से सुशोभित होने वाला) कहा गया है।

'नैषध' के ग्यारहवें सर्ग में श्रीहर्ष के 'पदलालित्य' का अपूर्व सौन्दर्य देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ देखिये :—

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेपनेपथ्यगन्धमयगन्धवहप्रवाहम् ।
आलीभिरापतदनङ्गशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः ।। ११।५ ।।

अर्थात्—वहाँ (स्वयंवर में) राजाओं के समूह के चन्दन व कपूर के लेप की सुगन्धि को लेकर बहने वाले वायु का मार्ग रोककर कामदेव के बाणों के सदृश पंक्तियों में गिरता हुआ भ्रमरसमूह सुगन्ध का उपभोग कर रहा था ।

निम्नलिखित पद्य संस्कृत के विद्वानों और पण्डितों में पदलालित्य की दृष्टि से अत्यधिक प्रसिद्ध है :—

देवीपवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ।।११।६६।।

विष्णु के वामभाग को पवित्र करनेवाली सरस्वती देवी गौरव की गरिमा से मनोहर इस दमयन्ती से पुनः बोलीं—"शत्रुओं के प्रति निर्दय तथा हाथ में तलवार लिये हुए इस राजा के विवाह से अपने अथवा इस राजा के गुणसमूह को अनुगृहीत करो ।"

नैषधं विद्वदौषधम्

महाकवि श्रीहर्षने 'नैषध-महाकाव्य' में अपनी व्युत्पत्ति-प्रदर्शन का जो उपक्रम किया है उसके कारण काव्य में क्लिष्टता तथा दुरूहता आ गयी है । अनेक शास्त्रीय सिद्धान्तों के वर्णनों, क्लिष्ट तथा श्लिष्ट प्रयोगों के चित्रणों और बहुज्ञता सम्बन्धी अपने पाण्डित्य प्रदर्शन द्वारा उन्होंने काव्य के गागर में सागर ही भर दिया है । इसी कारण नैषधमहाकाव्य को विद्वानोंके लिये औषध अथवा रसायन माना गया है । नैषधमहाकाव्य के सुचारु अध्ययन द्वारा जिन्होंने अपने को इस महाकाव्य सम्बन्धी विशेषताओं का विशिष्ट ज्ञाता बना लिया है उनको विविध शास्त्रों का परिचायक कहा जा सकता है । इस महाकाव्य में श्रीहर्ष ने श्लेषयुक्त प्रयोगों के अतिरिक्त व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा, चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों के कठिन सिद्धान्तों का भी जहाँ-तहाँ वर्णन किया है । अतः जिनको इन सभी शास्त्रों का साम्यक् ज्ञान नहीं है उनके लिए इस महाकाव्य का समझना वस्तुतः दुरूह हो जाता है । इसी कारण कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने श्रीहर्ष के महाकाव्य की कटु आलोचना भी की है । इन्होंने कला-पक्ष को अत्यधिक महत्व दिया है । परिणामस्वरूप भावपक्ष दब गया है । उदाहरण के रूप में दो-एक स्थलों पर दृष्टिपात कीजिये :—

पाणिनि के "अपवर्गे तृतीया" (२।३।६) सूत्र पर व्यंग्य किया गया है :—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ।। १७।७० ।।

अर्थात्—अपवर्ग (मोक्ष) के लिए तृतीय (पुरुष और स्त्री से भिन्न नपुंसक व्यक्ति) ही उपयुक्त है ।

उन्होंने न्याय-दर्शन में वर्णित आनन्दरहित मोक्ष के सम्बन्ध में भी अच्छी चुटकी ली है :—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेत्यैव यथा वित्थ तथैव सः ।। १७।७५ ।।

अर्थात्—न्यायदर्शनप्रणीत मोक्ष गोतम (बड़े बैल, मूर्खतम) का मत है ।

वैशषिकदर्शन में तम (अन्धकार) को भी पदार्थ मानने सम्बन्धी वर्णन विद्यमान है । इस दर्शन के प्रणेता मुनि कणाद का दूसरा नाम 'उलूक' है । इसी कारण इस दर्शन को औलूकदर्शन भी कहा जाता है । इस विषय पर व्यंग्य करते हुए श्रीहर्ष ने लिखा है कि उलूक (उल्लू) ही तमस्तत्व का परीक्षण कर सकता है तथा इस बारे में उसी का कथन मान्य हो सकता है :—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्वनिरूपणाय ।। २२।३५ ।।

वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तानुसार मुक्तावस्था में जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं । इस के सम्बन्ध में व्यंग्य करते हुए महाकवि ने प्रतिपादित किया है कि मूर्ख पुरुषों को अपने ही अस्तित्व की समाप्ति रुचिकर होगी :—

स्वयं च ब्रह्म च संसारे, मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम् ।
इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिर्वैदग्धी वेदवादिनाम् ।। १७।७४ ।।

उन्होंने सभी दार्शनिक मतों का खंडन करते हुये अद्वैतवाद को ही सर्वमान्य कहा है । (नैषध—१३।३६ ।।) सरस्वती के स्वरूप का वर्णन करते हुये उन्होंने एक ही श्लोक में बौद्धदर्शन की तीन शाखाओं (शून्यवाद, विज्ञानवाद तथा सौत्रान्तिकों का साकार विज्ञानवाद) का वर्णन प्रस्तुत किया है । (नैषध १०।८८।।) "नास्तिजन्यजनकव्यतिभेदः" (५।९४) में सांख्यदर्शन सम्बन्धी सत्कार्यवाद का, "संप्रज्ञातवासिततमः समपादि" (२१।११८ ।।) में योगदर्शन सम्बन्धी संप्रज्ञातसमाधि का, "आदाविव द्व्यणुकृत परमाणुयुग्मम्" (३।१२५) में वैशेषिकदर्शन सम्बन्धी परमाणुवाद का, "मनोभिरासीदनणुप्रमाणैः" में मन की अणुस्वरूपता का वर्णन उपलब्ध होता है ।

वे ज्योतिष के विद्वानों से भी पूर्ण-परिचित थे। उन्होंने लिखा है :—

अजस्रमभ्याशमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ॥ १।१७ ॥

उपर्युक्त शास्त्रीय सिद्धान्तों के वर्णनों के कारण नैषध में स्थान-स्थान पर दुरूहता का दर्शन पाठक को होता है। श्लेषमूलक वर्णनों ने तो इस दुरूहता को और भी जटिल बना दिया है।

पंचनली-वर्णन के प्रसंग में श्लेष के द्वारा उन्होंने एक साथ इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम और नल पाँचों का एक साथ वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया है :—

देवः पतिर्विदुषि नैष धराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ॥
१३।३४ ॥

इसी प्रकार के अन्य अनेक उद्धरण "नैषधमहाकाव्य" में विद्यमान हैं कि जिनके आधार पर "नैषधं विद्वदौषधम्" इस उक्ति की चरितार्थता सिद्ध की जा सकती है।

श्रीहर्ष द्वारा प्रयुक्त कुछ नवीनताएँ

श्री हर्ष ने अपने महाकाव्य नैषध में कुछ इस प्रकार के प्रयोग किये हैं जिनका प्रयोग आजकल की बोलचाल की भाषा में भी किया जाता है। उदाहरणार्थ—"जनानने कः करमर्पयिष्यति" (९।१२५) अर्थात् लोगों का मुख कौन बन्द कर सकता है? "आसितुं नादत्त" (१८।५३) अर्थात् बैठने नहीं दिया। "वीक्षितुं नादत्त" (१८।८३) अर्थात् देखने नहीं दिया। "कथमास्यं दर्शयिताहे" (५।७१) अर्थात् मैं अपना मुख कैसे दिखलाऊँगा? "नवीनमश्रावि तवाननादिदम्" (९।४१) अर्थात् मैंने तुम्हारे ही मुख से यह नवीन बात सुनी है। इत्यादि-इत्यादि।

श्रीहर्ष ने वार्तालाप सम्बन्धी प्रसंगों में नाटकीयता लाने का प्रयास किया है। जैसे "दृष्ट दृष्टम्"—(देख लिया, देख लिया), तद् वद (तो बतलाओ), न न (९।११४)—नहीं नहीं, हु हुम् (२०।६५) (अर्थात् हूँ-हूँ हुंकार भरना), ब्रवीषि न (९।८९) अर्थात् कहते हो न (तात्पर्य—कहते हो)। इत्यादि।

इसी प्रकार उन्होंने अपनी रचनाओं में कुछ नवीन शब्दों को अपनी ओर से ही गढ़ लिया है। यथा—भूजानि (१।२ ॥) अर्थात् राजा। सूननायक (१८।१२९)—कामदेव। अप्रतीतचर (१८।१२९)—पहले से अज्ञात।

अधिगामुका (१८।१२९ ।।)––जाननेवाली। हसस्पृशम् (१८।१३०)–– हँसते हुये। इत्यादि।

उन्होंने कुछ अप्रचलित एवं अप्रसिद्ध शब्दों का भी प्रयोग अपने महाकाव्य में किया है :––अगदंकारः (वैद्य) ४।११६ ।।, अकूपार (समुद्र) १२।१८ ।।, चिपिटः (चपटा) २२।८५ ।।, पूयैनपाता (आखेट–शिकार) १९।१२ ।।, मिहिकारुचम् (चन्द्रमा) १९।३५ ।। इत्यादि।

कुछ लोकभाषा के शब्दों का भी प्रयोग उनके द्वारा किया गया है। इङ्गाल (अंगारा) १।९।।, विरुद (ऐश्वर्य-प्रताप) ११।३७ ।। धोरणि (परम्परा) १५।४९ ।। इत्यादि।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निकाली गयीं महाकवि की न्यूनताएँ

पाश्चात्य आलोचकों तथा विद्वानों द्वारा महाकवि श्रीहर्ष की उनकी अरुचिपूर्ण शैली तथा वर्णनों के कारण कुछ कटु आलोचना की गयी है। उन्हीं के आधार पर की गयी आलोचना को ध्यान में रखते हुये डॉ० एस० के० डे आदि कुछ भारतीय विद्वानों ने भी श्रीहर्ष की कटु आलोचना कर दी है। इन आलोचनाओं में प्रमुखरूप से निम्नलिखित दोषों तथा न्यूनताओं को ही कारण-रूपेण स्वीकार किया गया है।

महाकवि श्रीहर्ष द्वारा रचित 'महाकाव्य नैषध' में (१) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया जाना, (२) नवीन-नवीन शब्दों को गढ़गढ़कर भाषा में जटिलता उत्पन्न किया जाना, (३) शास्त्रीय सन्दर्भों के उल्लेख के कारण दुरूहता को बढ़ावा दिया जाना, (४) कल्पनाओं सम्बन्धी काठिन्य का होना (५) वर्णनों में औचित्य का पूर्ण निर्वाह न किया जाना (यथा–१।३०, ५।२७, ५।३५, ७।९५, १०।५१, १५।६२, १७।७५ इत्यादि), (भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष को ही प्रधानता का दिया जाना (७) आवश्यकता से अधिक शृङ्गार-रस-सम्बन्धी वर्णन का किया जाना, (८) और उस वर्णन में अश्लीलता का भी समावेश कर देना, (९) दमयन्ती के नख-शिख का अनावश्यक रूप से विस्तृत वर्णन का किया जाना, (१०) सत्रहत्रें सर्ग में देवों, ब्राह्मणों, दार्शनिकों, वेदज्ञों, पुरोहितों आदि के पाखंडों की छीछालेदर का किया जाना, (११) रचना-दोष के कारण अनर्थ-बोध का उत्पन्न होना (यथा- तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवम् (२।६२) इत्यादि में), आदि अनेक दोषों का प्रवेश

हो जाने से उपर्युक्त आलोचकों ने "नैषध" महाकाव्य को उत्तम श्रेणी में न रखने का प्रयास किया है।

समाधान :—दुःख इस बात का है कि उक्त आलोचकों तथा विद्वानों ने इस बात का ध्यान नहीं दिया कि जिस समय "नैषध" महाकाव्य की रचना की गयी (अथवा श्री हर्ष के महाकाव्य के लेखन का समय) उस समय किस प्रकार का साहित्यिक वातावरण विद्यमान था ? महाकवि भारवि एवं माघ को समाज में एक उत्तम स्थान प्राप्त हो चुका था। उनकी शैली में भी उपर्युक्त दोष विद्यमान थे। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन दोषों का बाहुल्य एवं श्रीहर्ष सम्बन्धी काठिन्य एवं दुरूहता उनकी रचनाओं में विद्यमान न रही हो किन्तु उनका युग पाण्डित्य-प्रदर्शन सम्बन्धी अवश्य था। फिर इसी पाण्डित्य को और भी अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रकट करने में यदि उपर्युक्त दोषों का आगमन हो भी गया तो इन दोषों को दोषों की श्रेणी में रखा जाना एक प्रकार की भूल ही कहा जा सकता है, क्योंकि महाकवि श्रीहर्ष के रचना सम्बन्धी गुणों की ओर ध्यान देने मे उनके दोष नगण्य ही हो जाते हैं। वह काल भी तो इसी प्रकार का था कि जिसमें शृङ्गार-वर्णन, नखशिख-वर्णन श्लेष सम्बन्धी प्रयोग, आदि का उत्कृष्ट कोटि में बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया जाना अनिवार्य हो गया था। उस समय इन सबके बिना कवि को विद्वत्समुदाय में आदर भी प्राप्त नहीं हो सकता था। १७ वें सर्ग में कलि के मुख द्वारा तत्कालीन प्रचलित पाखण्डों का हास्य अथवा खण्डन किया जाना भी आवश्यक था क्योंकि महाकाव्य सम्बन्धी रचना-काल में प्रचलित सभी प्रकार की बातों का प्रभाव महाकाव्य पर अवश्य ही पड़ा करता है, ऐसा सिद्धान्त है। वह काल था ही कुरीतियों एवं पाखण्डों के खण्डन आदि का। अतः इस दोष को भी दोष नहीं कहा जा सकता है।

अतएव पाश्चात्य विद्वानों का शैली एवं रस आदि विषयक आक्षेप अतिरंजित ही प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि इस महाकाव्य में पाश्चात्य विद्वानों की अबाधरूप से गति न हो सकी हो और उन्होंने उसी आधार पर इस काव्य को निकृष्ट कोटि में रखने का प्रयास किया हो।

सुरेन्द्र देव शास्त्री

॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीहर्षप्रणीतम्

नैषध-महाकाव्यम्

प्रथमः सर्गः

अपनी इस कृति में महाकवि श्री हर्ष ने राजा नल की पुनीत कथा का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में काव्य की निर्विघ्न समाप्ति के निमित्त मङ्गलाचरण आदि का किया जाना आवश्यक माना जाता है। महाकवि श्री हर्ष ने किसी विशिष्ट देवता आदि का नमस्कारादिरूप मङ्गलाचरण न करके राजा नल की कथा के कीर्त्तन को ही—

"कर्कोटस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥"

की उक्ति के अनुसार—कलि के प्रभाव से उत्पन्न सभी प्रकार के पापों, विघ्नों आदि का विनाशक मानकर—

"पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥"

में वर्णित पुनीतता के आधार पर—मङ्गलाचरण रूप में माना है और नल-कथा को उन्होंने अमृत से भी अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करते हुये उसे प्रस्तुत भी किया है—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां
तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि।
नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः
स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥ १ ॥

मल्लिनाथकृत-टीका—अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च 'काव्यालापांश्च वर्जयेदि'ति तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिहेतोः 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि'त्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य इतिवृत्तरूपं मङ्गलं वस्तु निर्दिशति—निपीयेति। यस्य क्षितिरक्षिणः क्षमापालस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानम्। निपीय नितरामास्वाद्य पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यबादेशः न तु पिबतेः 'न ल्यपी'ति प्रतिषेधादीत्त्वासम्भवात्। बुधास्तज्ज्ञाः सुराश्च 'ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधा' इति क्षीरस्वामी। सुधामपि तथा यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत्। सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं सितातपत्रीकृतमित्यर्थः, तत् कृताविति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। कीर्तिमण्डलं येन सः। महसां तेजसां राशिः रविरिवेति भावः। महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानो नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः। 'मह उद्धव उत्सव' इत्यमरः। स नलः आसीत्। अत्र नले महसां राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः। तदुक्तं दर्पणे 'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति। "आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेक" इति मिथोऽपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते इति च। अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं, 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरावि'ति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वय—क्षितिरक्षिणः यस्य कथाम् निपीय बुधाः सुधामपि तथा न आद्रियन्ते। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः महसां राशिः [इव] महोज्ज्वलः स नलः आसीत्।

संस्कृत-व्याख्या—क्षितिरक्षिणः=पृथ्वीपालकस्य, यस्य=नलस्य, कथाम्= उपाख्यानम्, निपीय = नितराम् आस्वाद्य, बुधाः = तज्ज्ञाः सुराश्च, सुधाम् = अमृतम्, अपि, तथा = यथा इयं कथा तद्वत् इत्यर्थः, न आद्रियन्ते = न मन्यन्ते [सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति भावः]। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः = श्वेतातपत्रीकृतयशसमूहः, महसाम् = तेजसाम्, राशिः—रविः इव, महोज्ज्वलः = महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानः [नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः], स नलः आसीत्।

हिन्दी-अनुवाद—क्षितिरक्षिणः = पृथ्वीपालक, यस्य = जिस राजा नल की, कथाम् = कथा को [अर्थात् जीवनवृत्त को], निपीय = भलीभाँति आस्वादनकर, बुधाः = उस राजा नल से अथवा उसके जीवनवृत्त से भली भाँति परिचित विद्वज्जन अथवा देवगण, सुधामपि = अमृत का भी, तथा = उतना [जितना कि इस राजा नल की कथा का], न आद्रियन्ते = आदर नहीं करते हैं [अर्थात् राजा नल की कथा का अमृत से भी अधिक आदर करते हैं।] । सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः = अपने यशःसमूह को श्वेतच्छत्र बनाये हुये, महसां राशिः इव = तेज समूह की राशि अर्थात् सूर्य के सदृश, सहोज्ज्वलः = उत्सवों से देदीप्यमान अथवा महान् तेजस्वी, स नलः = वह राजा नल, आसीत् = था ।

भावार्थ—राजा नल की कथा का भलीभाँति अध्ययन कर आनन्द प्राप्त करने वाले विद्वान् लोग अथवा देवलोक में विद्यमान अमृतभोजी देवगण भी अमृत का उतना आदर नहीं करते हैं जितना कि राजा नल की कथा का आदर करते हैं। **अथवा**—[वर्षा आदि के द्वारा] पृथ्वी की रक्षा करने वाले देवगण भी जिस राजा नल की कथा का पानकर अमृत का भी उतना आदर नहीं किया करते हैं जितना कि राजा नल की कथा का। **अथवा**—[क्षितिः + अक्षिणः—पदच्छेद करने पर] जिस राजा नल की कथा का भलीभाँति आस्वादन प्राप्तकर स्थित व्यक्तिविशेष के कलियुग में उत्पन्न दोषों (पापों आदि) का नाश हो जाता है। **अथवा**—जिस राजा नल की कथा का पानकर विद्वज्जन अथवा देवगण, सुधामय अर्थात् चन्द्रमा का भी उतना आदर नहीं करते जितना कि राजा नल की कथा का। ऐसे तेजस्वी अथवा सूर्य के सदृश देदीप्यमान, सम्पूर्ण दिशाओं में फैले हुये अपने कीर्तिसमूहरूपी श्वेतच्छत्र से युक्त वे राजा नल अत्यधिक उज्ज्वल चरित्र से परिपूर्ण थे। **अथवा**—जिस राजा नल में अत्यधिक उज्ज्वल गुणों से विशिष्ट शृङ्गार रस विद्यमान था **अथवा**—जिस राजा नल के अन्दर दमयन्ती का कथित रूप शृङ्गार रस अत्यधिकरूप से विद्यमान था ऐसे तेजोराशि अथवा सूर्यसदृश कान्ति से युक्त वे राजा नल अपने चतुर्दिग्व्यापी कीर्तिसमूह से उज्ज्वल चरित्रवाले थे।

यतः राजा नल की कथा अमृत की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर थी, साथ ही अत्यधिक शृङ्गाररसमय थी, इसी कारण दमयन्ती ने इन्द्रादि देवताओं का त्यागकर नल को ही वरण करना अधिक उपयुक्त समझा होगा।

अलङ्कार—इस श्लोक में राजा नल में तेजोराशि होने का आरोप कि जाने तथा कीर्तिमण्डल में श्वेत आतपत्रत्व (छत्रत्व) का आरोप किये जा से "रूपक" अलङ्कार है। लक्षण—"यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते। उपमेयमयी भित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते॥" नल की कथा को अमृत की अपे अधिक सुस्वादु कहे जाने की दृष्टि से "व्यतिरेक" अलङ्कार भी है। लक्षण— "व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः" ॥ (चन्द्रालोक)। दोनों अलङ्कारों का एक साथ एक ही स्थल पर प्रयोग होने के कारण "संसृष्टि" अलंकार भी बन जाता है।

छन्द—इस पद्य में "वंशस्थ" नामक वृत्त है। लक्षण—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ"। अर्थात् जिस छन्द में क्रमशः जगण तगण जगण और रगण हों वह छन्द "वंशस्थ" कहा जाता है।

अब इस प्रथम श्लोक में इस "वंशस्थ" वृत्त के लक्षण को घटा लिया जाय—

जगण तगण जगण रगण
।S। SS। ।S। S।S
निपीय यस्यक्षि- तिरक्षि णःकथां
।S। SS। ।S। S।S
तथाद्रि यन्तेन बुधाःसु धामपि।
।S। SS। ।S। S।S
नलःसि तच्छत्रि तकीर्ति मण्डलः
।S। SS। ।S। S।S
सराशि रासीन्म हसांम होज्वलः॥

विशेष—नैषध महाकाव्य के इस प्रथमसर्ग में प्रथमपद्य से लेकर १४२ पद्य तक उपर्युक्त "वंशस्थ" नामक छन्द अथवा वृत्त है। अतः १४२ वें प तक छन्द का वर्णन नहीं किया जायगा। उपर्युक्त विवरण के आधार पर १४२ वें पद्य तक लक्षण घटाकर स्पष्ट किया जा सकता है।

व्याकरण—**निपीय** = दिवादिगणी पीङ् धातु + ल्यप्। यह रूप भ्वादि गणी पा धातु (पिबति इत्यादि) से नहीं बन सकता है क्योंकि "न ल्यपि" सूत्र के अनुसार "घुमास्थागपाजहातिसां हलि" सूत्र से 'ल्यप्' प्रत्यय होने पर 'ईकार' नहीं होता है। **सितच्छत्रित** = "सितच्छत्र" संज्ञा शब्द

"उसे करता अथवा कहता है" इस अर्थ में 'णिङ्' प्रत्यय का योग करने से 'सितच्छत्रित' नामधातु बनती है और तदनन्तर "क्त" प्रत्यय का योग करने पर "सितच्छत्रित" शब्द बनता है।

समास—सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः = सितच्छत्रं कृतं कीर्तिमण्डलं येन सः। **महोज्ज्वलः**—महैः उत्सवैः उज्ज्वलः इति।

टिप्पणियाँ—क्षितिरक्षिणः = पृथ्वी की रक्षा करने वाले का अथवा पृथ्वीपालक का, **निपीय** = अत्यधिक रूप से अथवा निःशेष रूप से अथवा पूर्णरूप से आस्वादन करके। **बुधाः** = उस राजा नल की अथवा उसकी कथा के पूर्ण ज्ञाता। बुधाः शब्द का अर्थ देवगण भी होता है—"ज्ञातृचान्द्रि-सुराबुधाः" इति क्षीरस्वामी। **सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः** = जिसने अपने कीर्तिसमूह को ही अपना श्वेतवर्ण का छत्र बना रखा है ऐसा राजा नल। **महसां राशिः** = तेजों का समूह अर्थात् सूर्य। राजा नल सूर्य के सदृश तेजस्वी अथवा सूर्य के सदृश दीप्तिमान् अथवा कान्तिमान् थे। **महोज्ज्वलः** = मह शब्द का अर्थ है 'उत्सव'—"महउद्धवउत्सवः" इत्यमरः—उत्सवों के द्वारा उज्ज्वल अथवा देदीप्यमान अर्थात् प्रतिदिन किये जाने वाले महोत्सवों से देदीप्यमान।

विशेष—(१) इस प्रथम पद्य में महाकवि श्री हर्ष ने राजा नल की कथा के कीर्त्तन को ही वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरणरूप में स्वीकार किया है। कुछ आलोचकों ने तो इसे अभीष्ट देव रघुनाथ जी का सबीज नमस्कारात्मक मङ्गल ही माना है।

(२) इस महाकाव्य में राजा नल ही धीरललित नायक हैं। इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता है तथा अन्य रस उसी के अङ्ग रूप में प्रस्तुत हुये हैं।

प्रसङ्ग—अब महाकवि श्री हर्ष नवरसों से युक्त राजा नल की इस कथा को केवल मधुर-रस-प्रधान अथवा षड्-रस-युक्त 'अमृत' की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर सिद्ध करते हुये महा प्रतापी राजा नल का वर्णन करते हैं—

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी
नलः स भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित-
ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

स०—इममेवार्थमन्यथा आह—रसैरिति। यस्य नलस्य कथा रसैः स्वादैः,

'रसोगन्धो रसः स्वाद' इति विश्वः। सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, ताच्छील्ये णिनिः। भूर्जाया यस्य स भूजानिः भूपतिरित्यर्थः। 'जायाया निङिति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेशः। स नलः गुणैः शौर्य्यदाक्षिण्यादिभिः। अद्भुतः लोकातिशयमहिमेत्यर्थः। अभूत्। कथम्भूतः सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रञ्च ते कृते द्वन्द्वात् तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः। ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्त्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः। इह कीर्तेः सितातपत्रत्वरूपणं पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्डवैशिष्ट्यात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः। अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोः संसृष्टिः ॥ २ ॥

अन्वय—यस्य कथा रसैः सुधावधीरिणी [अस्ति], भूजानिः सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः स नलः गुणाद्भुतः अभूत्।

संस्कृत-व्याख्या—यस्य = राज्ञः नलस्य, कथा = उपाख्यानम्, रसैः = स्वादैः ["रसो गन्धो रसः स्वाद" इति विश्वः], सुधावधीरिणी = अमृतात् अतिरिच्यमानस्वादा [अस्ति]; भूजानिः = भूः जाया यस्य स भूजानिः = भूपतिः, सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः = सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रं च श्वेतच्छत्रं च ते कृते ज्वलत्प्रतापावलिः देदीप्यमानप्रतापपंक्तिः कीर्तिमण्डलं च यशसमूहश्च येन स एतादृशः, स नलः, गुणाद्भुतः = गुणैः शौर्यदाक्षिण्यादिभिः अद्भुतः लोकातिशयमहिमायुक्तः, अभूत् = आसीत्।

हिन्दी-अनुवाद—यस्य = जिस राजा नल की, कथा = आख्यान, रसैः = [नवरसों] की दृष्टि से, सुधावधीरिणी = अमृत को भी तिरस्कृत कर देने वाली है; भूजानिः—पृथ्वी जिसकी पत्नी थी, सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः = जिस [राजा नल ने] अपने देदीप्यमान तेज की पंक्ति को तथा अपने यशःसमूह को क्रमशः सुवर्णदण्ड तथा अद्वितीय श्वेतच्छत्र बनाया था ऐसा, स नलः = वह राजा नल, गुणाद्भुतः = शूरवीरता एवं उदारता आदि गुणों से लोकोत्तर महिमाशाली, अभूत् = था।

भावार्थ—जिस राजा नल की कथा श्रृङ्गार हास्य आदि नवरसों से युक्त होने के कारण केवल मधुर रस से परिपूर्ण अथवा मधुर इत्यादि छः रसों से युक्त अमृत को भी तिरस्कृत कर देने वाली है अर्थात् जो अमृत की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अथवा नवरसों से युक्त जिस राजा नल की कथा सुधा की अवधि [सीमा] अर्थात् अत्यधिक श्रेष्ठ अमृत को भी नीचा दिखाने वाली है। अथवा जिस राजा नल की कथा बुद्धि में पवित्रता का संचार

करने वाली, सदैव युद्ध में संलग्नता की द्योतक तथा पृथ्वी की स्वामिनी है [इन तीनों विशेषणों के द्वारा राजा नल की कथा का मन्त्र, उत्साह एवं प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्न होना ध्वनित होता है ।], ऐसा राजा नल समस्त पृथ्वी का स्वामी अथवा पालक अथवा रक्षक (पति) था । उसने अपने देदीप्यमान प्रताप को ही अपने श्वेतवर्णवाले राजछत्र का सुवर्णनिर्मितदण्ड तथा अपने कीर्तिसमूह को ही श्वेतच्छत्र बना रखा था और वह गुणों अर्थात् शूरवीरता, उदारता आदि अनेक गुणों से युक्त होने के कारण लोकोत्तर गौरवशाली था ।

अलङ्कार—इस श्लोक में "रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी" पंक्ति में "व्यतिरेक अलङ्कार है । लक्षण—पूर्ववत् । इसके अतिरिक्त राजा नल की प्रतापावलि में सुवर्णदण्ड और कीर्ति-मण्डल में धवल छत्र का आरोप किये जाने से "रूपक" अलङ्कार है । लक्षण—पूर्ववत् । अतः प्रथम श्लोक की ही भाँति इसमें भी व्यतिरेक और रूपक अलङ्कारों के होने से "संसृष्टि" अलङ्कार भी बन गया है ।

व्याकरण—सुधावधीरिणी—सुधा (उपपद) + अव + √धीर + णिनि । **सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित** = 'सुवर्णदण्डैकसितातपत्र' शब्द से "तत्करोति तदाचष्टे" सूत्र से 'णिच्' प्रत्यय का योग होने और तदनन्तर नामधातु से कर्म में "क्त" प्रत्यय का योग होने पर "सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित" शब्द बनता है ।

समास—सुधावधीरिणी—सुधां अवधीरयति तिरस्करोति—इति । **भूजानिः** = भूः जाया यस्य स भूजानिः [भूपतिः—इत्यर्थः]—(बहुव्रीहि) । यहाँ बहुव्रीहि समास होने के कारण "जायाया निङ्" से जाया शब्द को निङादेश हो जाता है । **गुणाद्भुतः** = गुणैः अद्भुतः इति । **सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः** = सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रं च इति सुवर्णदण्डैकसितातपत्रे (द्वन्द) ते कृते ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्तिमण्डलं च यस्य [तथाभूतः] सः ।

टिप्पणियाँ—रसैः = [रसो गन्धः रसः स्वादः—इति विश्वः] रसों से अथवा स्वाद अर्थात् आस्वादन के द्वारा । राजा नल की कथा में नवों रसों का आस्वादन होता है किन्तु अमृत को मधुर-गुण-सम्पन्न माना गया है । यदि उसे षड् रस-(मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय, लवण ये ६ प्रकार के खाद्य-रस माने गये हैं ।) सम्पन्न भी मान लिया जाय तो भी वह रसों की दृष्टि

से राजा नल की कथा की अपेक्षा हीन ही रह जाता है। अतः **सुधावधीरिणी** = [राजा नल की कथा] अमृत को भी तिरस्कृत कर देने वाली कही गयी है। **भूजानिः** = पृथ्वी ही जिसकी पत्नी है ऐसा राजा नल। अर्थात् जो पृथ्वीपति अथवा पृथ्वीपालक अथवा पृथ्वी का रक्षक है—ऐसा नल। **गुणाद्भुतः** = गुणों अर्थात् शूरवीरता, उदारता, उत्साह, साहसादि अनेक गुणों से सम्पन्न होने के कारण जो (राजा नल) अद्भुत अर्थात् लोकोत्तरमहिमा से युक्त था। **सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः** = [जिस राजा नल ने] अपने देदीप्यमान (चमकते हुये—प्रभापूर्ण) तेज तथा कीर्तिसमूह को ही अपने श्वेतवर्ण के राजच्छत्र का क्रमशः स्वर्णनिर्मित दण्ड तथा श्वेतच्छत्र ही बना रखा था। अर्थात् उसका प्रताप (तेज) ही उसके राजच्छत्र का डण्डा तथा उसका कीर्तिसमूह ही उस छत्र का ऊपरी भाग था। राजा नल का सुवर्णदण्डयुक्त एक श्वेतच्छत्र होने से यह ध्वनित होता है कि अन्य राजा लोग राजा नल को कर (टैक्स आदि) दिया करते थे।

प्रसङ्ग—अब महाकवि श्री हर्ष यह कहते हैं कि राजा नल की ऐसी कथा जो कि समस्त संसार को ही पवित्र करने वाली है—वह मेरी दूषित वाणी को पवित्र क्यों नहीं करेगी? [इस भाँति इस तृतीय श्लोक में महाकवि द्वारा अपनी विनयसम्पन्नता का प्रकटीकरण किया गया है।]।

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे
स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि
स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति॥ ३॥

म०—सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत्। यस्य नलस्य कथा स्मृता स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः। सती जगल्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'देहधात्वम्बुपारदा' इति रसपर्य्याये विश्वः। पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति, सा कथा आविलां कलुषामपीति सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवलं स्वकीर्त्तनपरामेवेति भावः। मद्गिरं मम वाचं कथं न पवित्रयिष्यति? अपि तु पवित्रां करिष्यत्येवेत्यर्थः। तथा चोक्तं 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयंत्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम्॥' इति। या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा कीर्त्तनात् किमुतेति कैमुत्यन्यायेनार्था-

न्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्-'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया ॥' इति ॥ ३ ॥

अन्वय—अत्र युगे स्मृता तत्कथा जगत् रसक्षालनया इव पवित्रम् आतनुते। सा आविलाम् अपि स्वसेविनीम् एव मद्गिरम् कथम् न पवित्रयिष्यति।

संस्कृत-व्याख्या—अत्र=अस्मिन्, युगे=कलियुगे, स्मृता=स्मृतिपथं नीता, तत्कथा = तस्यनलस्य कथा, जगत्=लोकम् , रसक्षालनया इव = जलक्षालनया इव, पवित्रम् = विशुद्धम्, आतनुते = करोति। सा = कथा, आविलाम्=कलुषामपि—सदोषामपीत्यर्थः, स्वसेविनीमेव=केवलां स्वकीर्त्तनसंलग्नाम् , मद्गिरम्= मम वाणीम् , कथं न पवित्रयिष्यति=कथं पवित्रां न करिष्यति ? अपितु पवित्रां करिष्यत्येव—इत्यभिप्रायः। या नल-कथा स्मृतिमात्रेणैव शोधनी अस्ति सा कीर्त्तनात्तु मम वाणीम् अवश्यमेव पवित्रां करिष्यतीति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—अत्रयुगे=इस कलियुग में, स्मृता=स्मरण करने मात्र से ही, तत्कथा=वह राजा नल की कथा, जगत्=लोक को, रसक्षालनया इव = जल से धोये गये हुये के समान, पवित्रम्=पवित्र अथवा निर्दोष, आतनुते=कर देती है। सा=ऐसी वह राजा नल की कथा, आविलाम् अपि=कलुषित अथवा दोषों से युक्त, [तथा] स्वसेविनीम् एव=उसका ही कीर्त्तन (वर्णन) करने में संलग्न, मद्गिरम्=मेरी वाणी को, कथं न पवित्रयिष्यति=क्यों नहीं पवित्र करेगी। अर्थात् वह राजा नल की कथा [उसी का सेवन करने वाली] मेरी वाणी को अवश्य ही पवित्र करेगी।

भावार्थ—जिस भाँति जल के द्वारा धोयी गयी हुयी कोई भी वस्तु स्वच्छ एवं दोषरहित हो जाया करती है उसी प्रकार नवरससमन्वित राजा नल की कथा ["कर्कोटकस्य नागस्य''''''इत्यादि" वचनों के आधार पर] का सेवन करने से सम्पूर्ण लोक भी निर्मल तथा दोषरहित हो जाया करता है। फिर ऐसी गुणकारी राजा नल की कथा का मैं [महाकवि श्री हर्ष] तो सरसता के साथ वर्णन कर रहा हूँ। अतः मुझे विश्वास है कि वह मेरी दोषयुक्त एवं मलिनवाणी को अवश्य ही पवित्र कर देगी। कहने का तात्पर्य यह है कि मेरी वाणी सदोष होने के कारण अपवित्र अवश्य हो सकती है किन्तु जिस कथा का मैं [नैषध महाकाव्य में] वर्णन करने जा रहा हूँ उस कथा का स्मरणमात्र कर लेना ही पवित्रता का उत्पादक है। फिर मैं तो उस कथा को शृंगारादि नव रसों से सुसज्जित कर उसको एक महाकाव्य का रूप

प्रदान किये दे रहा हूँ। तो फिर ऐसी कथा का काव्यमय सरसवाणी में कीर्तन अथवा वर्णन कर देने का फल इतना तो अवश्य ही होगा कि वह मेरी दूषित एवं मलिन वाणी को अवश्य ही पवित्र बना देगी। ऐसा महाकवि को विश्वास है।

अलङ्कार—जिस कथा का स्मरण करना मात्र ही जगत् का शोधक है उसका कीर्त्तन करने से तो फिर कहना ही क्या? अर्थात् उसका कीर्त्तन तो अनन्त फलदायक होगा—इस दूसरे अर्थ की सिद्धि स्वयं ही निसृत हो रही है—अतः उक्त पद्य में "अर्थापत्ति" अलङ्कार है [जैसा कि कहा भी है—"एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया॥"]। इसके अतिरिक्त राजा नल की कथा के स्मरण में जलप्रक्षालन की संभावना किये जाने से "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार की भी संभावना उक्त पद्य में की जा सकती है।

व्याकरण—पवित्रयिष्यति = पवित्र + णिच् (नामधातु) लृट् लकार, प्र० पु० एकवचन।

समास—रसक्षालनया = रसेन जलेन क्षालनया—इति। **तत्कथा** = तस्य (नलस्य) कथा इति। **स्वसेविनीम्** = स्वस्य सेविनीम् इति। यह वाणी का विशेषण है।

टिप्पणियाँ—अत्र युगे = यहाँ युग में अर्थात् इस वर्त्तमान कलियुग में। **स्मृता** = स्मरण की गयी हुयी। **रसक्षालनया इव** = जल से धोये गये हुये के सदृश। जिस प्रकार जल से धोयी गयी हुयी वस्तु निर्दोष तथा निर्मल हो जाया करती है उसी प्रकार नवरसों का प्रयोग जिसमें किया जा रहा है ऐसी नल की कथा मुझे [महाकवि को] भी निर्दोष और निर्मल बना देगी। **आविलाम्**—कलुषित अथवा दोषों से युक्त। **स्वसेविनीम्** = उस [कथा] का ही सेवन करने वाली [महाकवि की वाणी] को। अर्थात् जो महाकवि उस राजा नल की कथा का केवल स्मरण मात्र ही नहीं करता है अपितु उसका पूर्णरूप से पूर्ण तन्मयता के साथ कीर्त्तन अथवा वर्णन अपनी लेखनी द्वारा कर रहा है—ऐसी महाकवि की वाणी को। **कथं न पवित्रयिष्यति** = क्यों पवित्र नहीं कर देगी अर्थात् अवश्य ही पवित्र कर देगी।

विशेष—महाकवि के विनयपूर्ण उपर्युक्त कथन से यह ध्वनित होता है

कि महाकवि द्वारा राजा नल के कथासम्बन्धी महाकाव्य की रचना में यदि प्रमादवश कोई त्रुटि या दोष अथवा कमी के आने की संभावना भी रह जायगी तो उस त्रुटि, दोष अथवा कमी को वह कथा स्वयं ही दूर कर देगी और इस भाँति उस कथा पर आधारित महाकाव्य भी पूर्णरूपेण निर्दोष ही सिद्ध होगा।

प्रसङ्ग—राजा नल चतुर्दश विद्याओं में पारंगत थे। उन्होंने इन चौदह विद्याओं को अध्ययन, अर्थज्ञान, तदनुसार आचरण तथा प्रचाररूप चार दशाओं द्वारा छप्पन प्रकार का कर दिया था—

अधीतिबोधाचरणप्रचारणै-
र्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं
न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्॥ ४॥

म०—अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह—अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्म्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश'त्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः। बोधः, अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानं, प्रचारणम् अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणैः आचरणविशेषैरित्यर्थः। 'उपाधिर्धर्म्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे'इति विश्वः। चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावो वक्तव्य, इति स्त्रियाः पुंवद्भावः। 'संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः। चतुर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम्। चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च। तदुक्तम् 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति॥ ४॥

अन्वय—अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणयन् स्वयं चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान्, [इति] न वेद्मि।

संस्कृत-व्याख्या—अयम्=नलः, चतुर्दशसु=अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥ इति उक्तासु चतुर्दशविद्यासु, अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः=अधीतिः—अध्ययनम्—गुरुमुखात् श्रवण-

मित्यर्थः, बोधः = अर्थावगतिः, आचरणं = तदर्थानुष्ठानम्, प्रचारणम् = अध्यापनम्—एतैः चतुर्भिः, उपाधिभिः = विशेषणैः आचरणविशेषैः इत्यर्थः, चतस्रः, दशाः = अवस्थाः, प्रणयन् = कुर्वन्, स्वयम्, चतुर्दशत्वम्=चतस्रः दशाः यासां तासां भावः चतुर्दशत्वम्—चतुर्दशसंख्याकत्वम्, कुतः = कस्मात्, कृतवान्, [इति] न, वेद्मि=जानामि ।

हिन्दी-अनुवाद—अयम्=[इस] राजा नल ने, चतुर्दशसु विद्यासु=चार वेद [ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद] शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि छे वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—इन चौदह विद्याओं में, अधीति = अध्ययन (गुरु द्वारा स्वयं सभी विद्याओं का पढ़ना—श्रवण करना), बोध=अर्थज्ञान (उसके वास्तविक अर्थ अथवा विषय का ज्ञान प्राप्त करना) आचरण = अर्थात् तदनुसार जीवन में आचरण करना (उसे ढालना अथवा तदनुकूल अपने चरित्र का निर्माण करना) और प्रचारण अर्थात् योग्य एवं विद्वान् गुरुओं को द्रव्यादि देकर शिष्यों को अध्यापन कराना, उपाधिभिः = इन प्रकारों अथवा विशेषताओं के आधार पर [प्रत्येक विद्या को] चतस्रः = चार प्रकार की, दशाः = अवस्थायें, प्रणयन् = करते हुये, स्वयम्=अपने आप ही, चतुर्दशत्वम्=चतुर्दशता को, कुतः=कहाँ से अथवा कैसे, कृतवान्=कर दिया, इति=यह, न वेद्मि=[मैं] नहीं जानता हूँ ।

भावार्थ—राजा नल अखिल विद्याओं के ज्ञाता थे । विद्याओं की संख्या चौदह मानी गयी है [अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥] गुरुमुख से उन्होंने सभी विद्याओं का अध्ययन किया था और तदनन्तर उसके विषय को पूर्णतया हृदयग्राही बना लिया था । विद्या का अध्ययन तथा उसे आत्मसात् कर लेने के पश्चात् तदनुकूल आचरण किये जाने के निमित्त मनुष्य की इच्छा स्वयं ही हुआ करती है । अतः तदनुसार राजा नल ने भी इन चतुर्दश विद्याओं के ज्ञान के आधार पर अपने जीवन का निर्माण किया । जिस वस्तु या विद्या को मनुष्य भली भाँति समझ लिया करता है और तदनुकूल आचरण भी बना लेता है तो फिर उसके हृदय में यह भावना उत्पन्न हुआ करती है कि जो उत्तम वस्तु अथवा विद्या है उसे सर्वजनहिताय कर देना और भी श्रेयस्कर होगा । इस दृष्टि से राजा नल ने योग्य एवं विद्वान् गुरुओं को यथोचित द्रव्य आदि देकर इन सभी विद्याओं का ज्ञान सभी के लिये वितरित कराया । इस भाँति प्रत्येक विद्या

को अध्ययन, अर्थज्ञान, तदनुकूल आचरण और प्रचारण इन चार प्रकारों के आधार पर उसने चार चार प्रकार का बना दिया। अतः सभी विद्याओं के (१४ × ४=५६) छप्पन प्रकार हो गये। इस भाँति उस राजा नल ने उपर्युक्त चौदह विद्याओं को चतुर्दशत्व को प्राप्त करा दिया। चतुर्दशत्व से यहाँ यही अभिप्राय है कि चतस्रः दशाः यासां तासां भावः चतुर्दशत्वम्—अर्थात् चार दशाओं (अवस्थाओं) का होना। चौदह को ही चौदहपन को प्राप्त करा दिया, यह अर्थ करने में कोई बात स्पष्ट न होकर यही शंका उत्पन्न होती है कि विद्यायें तो चौदह थी हीं फिर उन चौदह को चौदहपन को क्या प्राप्त करा दिया। जहाँ चौदह होगा वहाँ चौदहपन तो स्वयं ही विद्यमान् रहेगा। फिर इसमें कौन सी विचित्रता या नवीनता की कल्पना की जा सकती है। अतः "चतस्रश्च दशच चतुर्दश, चतुर्दशानां भावः चतुर्दशत्वम् अर्थात् चौदह संख्या का होना" यह अर्थ किया जाना पूर्णरूपेण निरर्थक और कवि का भी अभीष्ट न रहा होगा क्योंकि इसमें किसी वैशिष्ट्य की प्रतीति अथवा अनुभूति नहीं होती है। अतः महाकवि का चतुर्दशत्व शब्द से "चार दशाओं का होना" ही अर्थ अभीष्ट रहा होगा। इस अर्थ के आधार पर यह बात स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है कि उस राजा नल ने चतुर्दश विद्याओं में से प्रत्येक को चार, चार अवस्थाओं में परिणत कर दिया था। इससे राजा नल का चौदहों विद्याओं का अध्येता, ज्ञाता, आचरणकर्त्ता तथा प्रचारक होना स्पष्ट हो जाता है।

अलङ्कार—जो विद्यायें स्वयं चौदह थीं उनको चतुर्दशत्व करना पिष्टपेषण के सदृश निरर्थक ही है। अथवा चौदह विद्याओं में से प्रत्येक को अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण और प्रचाररूप चारदशाओं के आधार पर (१४ × ४=५६) छप्पन करना चाहिये था, फिर चतुर्दशत्व अर्थात् चौदह ही क्यों किया? इस भाँति उक्त श्लोक में दो रूपों में विरोध का दर्शन होता है। किन्तु इस विरोध का परिहार "चतुर्दश विद्याओं को चार दशाओं (अवस्थाओं) वाली किया" अर्थ द्वारा हो जाता है। अतः इस श्लोक में "विरोधाभास अलङ्कार" है। लक्षण—"आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते।"

व्याकरण—चतुर्दशत्वम् = में "त्व" प्रत्यय के योग से "त्वतलोर्गुणवचनस्य" सूत्र से पुंवद्भाव हो जाता है।

समास—चतुर्दशत्वम् = इस पद का समास दो प्रकार से किया जा सकता है—

(१) चतस्रश्च दश च चतुर्दश, चतुर्दशानां भावः—चतुर्दशत्वम् । (२) चतस्रः दशाः यासां तासां भावः चतुर्दशत्वम् ।

टिप्पणियाँ—चतुर्दशसुविद्यासु = चौदह प्रकार की विद्याओं में । चौदह विद्याओं के अन्तर्गत चार वेद [ऋक्, यजुः, साम और अथर्व] तथा छै वेदाङ्ग [शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष], और मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र तथा पुराणों का समावेश होता है । जैसा कि कहा भी गया है—"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्र-पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥" **उपाधिभिः** = विशेषणों अथवा आचरण के विशेष प्रकारों द्वारा । "उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे" इति विश्वः ।" **चतुर्दशत्वम्** = ऊपर किये गये हुये इस पद सम्बन्धी दो प्रकार के समासों के आधार पर इसके दो अर्थ किये जा सकते हैं (१) "चौदह संख्या होना" अथवा (२) "चार दशा होना" । **वेद्मि** = जानता हूँ ।

प्रसङ्ग—राजा नल ने अठारहों द्वीपों पर विजय प्राप्त की थी । इस प्रकार वह अठारह प्रकार की विजयश्रियों का विजेता था । श्रियों के साथ ही वह अठारह प्रकार की विद्याओं पर भी पूर्ण अधिकार रखता था । श्री एवं विद्या [लक्ष्मी तथा सरस्वती] दोनों परस्पर विरोधी हैं । जहाँ एक का निवास होता है वहाँ दूसरी नहीं रह पाती है किन्तु राजा नल की यह महती विशेषता थी कि उसके पास दोनों का एक साथ ही निवास था—

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी
त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया
नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥ ५ ॥

म०—अथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याः सन्तीत्याह—अमुष्येति । अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्त्तकी जिह्वाग्रसञ्चारिणीत्यर्थः । विद्या पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते, रसनाग्रनर्त्तित्वधर्म्मादिति भावः । त्रयीव त्रिवेदीव 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी'त्यमरः । अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः । ज्योतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैरि'त्युक्तानां षण्णां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्त्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीय-

व्युत्पत्तिविशेषेणेति यावत्, विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवाना द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा । जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशताम् अगाहत अभजत । पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानाम् उल्बणानुल्बणसमतारूपत्रैविध्येन त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः । प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः । 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृता' इति । अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्यायविश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्यथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः । त्रय्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम् । उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ५ ॥

अन्वय—अमुष्य रसनाग्रनर्तकी विद्या अङ्गगुणेन विस्तरं नीता त्रयी इव नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियां जिगीषया अष्टादशतां अगाहत ।

संस्कृत-व्याख्या—अमुष्य=नलस्य, रसनाग्रनर्त्तकी=रसनायाः जिह्वायाः अग्रे अग्रभागे नर्त्तकी नर्त्तनशीला, संचारिणी इतिभावः, विद्या = [पूर्वोक्त श्लोके उक्ताः चतुर्दशविद्याः । आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादश स्मृताः ॥] एताः अष्टादशविद्याः, अङ्गगुणेन = अङ्गानाम्—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां त्रितिः । ज्यौतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैः ॥" इत्युक्तानां षण्णां गुणेन—आवृत्त्या, वैशिष्ट्येन वा, विस्तरम् = वृद्धिम् , नीता = प्रापिता, त्रयी इव=वेदत्रयी—ज्ञान-कर्म-उपासना-प्रधानैः ऋक्यजुस्सामभिः युक्ता वेदत्रयी इव—[अङ्गगुणनेन त्रय्याः अष्टादशत्वमिति भावः । एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः, एवं यथा वेदत्रयी अष्टादशतां प्राप्नोति तथैवेत्यभिप्रायः] नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् = नवानां द्वयं इति नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः—तेषां अष्टादशानां द्वीपानां पृथग्भूता याः जयश्रियः तासाम् , जिगीषया = जेतुमिच्छया, अष्टादशताम् , अगाहत = अभजत् । अथवा नलस्य सूदविद्या अपि षण्णां रसानां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानां उल्बणानुल्बणसमतारूपत्रैविध्येन अष्टादशतामभजत ।

हिन्दी-अनुवाद—अमुष्य = इस राजानल की, रसनाग्रनर्त्तकी = जिह्वा के अग्र भाग पर सदा नृत्य अर्थात् निवास करनेवाली, विद्या = विद्या ने [पूर्वोक्त

चार वेद + छै वेदाङ्ग + मीमांसा + न्याय + धर्मशास्त्र + पुराण तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र—इन अठारह प्रकार की विद्याओं ने], अङ्गगुणेन=अङ्गों अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-इन छै अंगों के साथ—गुणेन-गुणा करने से अथवा इनके वैशिष्ट्य से, विस्तरम् = वृद्धि अथवा विस्तार को, नीता = प्राप्त हुई, त्रयीइव = ऋक्, यजु और सामवेद रूप वेदत्रयी के सदृश, नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् = अठारह द्वीपों की विजयलक्ष्मी को पृथक् पृथक्, जिगीषया = जीतने की इच्छा से; अष्टादशताम्–अष्टादशता [अठारह संख्यात्व] को, अगाहत–प्राप्त किया। अथवा—राजा नल ने अठारह द्वीपों को पृथक्, पृथक् जीतकर अठारह विजयलक्ष्मियों को प्राप्त कर लिया है। अतएव मैं भी इन अठारह द्वीपों की विजय श्री को जीत लूँ—इस भावना से इनकी [पूर्वकथित] विद्या ने अठारह की संख्यात्व को प्राप्त कर लिया था। अथवा—राजनल पाकविद्या (पाकशास्त्र) में भी पूर्ण निष्णात थे। अतः इनकी पाकशास्त्रीय-विद्या ने मधुर, खट्टा, नमकीन, कड़वा, कसैला और तीखा (तिक्त) रूप षड्रसों के न्यून, अधिक और समरूप प्रकारत्रय की दृष्टि से (छै × तीन = अठारह) विस्तार को प्राप्तकर अठारह संख्यात्व को प्राप्त कर लिया था [जैसे—मधुर पदार्थ में दूसरे मधुर पदार्थ को न्यून (अल्प) मात्रा में, तिक्त पदार्थ में मधुर पदार्थ को अधिक मात्रा में और अम्ल (खट्टे) पदार्थ में मधुर पदार्थ को सममात्रा में डालने से (मिला लेने से) एक मधुर पदार्थ के ही तीन प्रकार (भेद) हो जाते हैं। इसी भाँति छै पदार्थों में न्यून, अधिक और सम मात्रा से पदार्थान्तर डालने से अठारह प्रकार अथवा भेद हो जाते हैं।]।

भावार्थ—पूर्वश्लोक में वर्णित चौदह विद्या तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र ये चार अर्थात् कुल अठारह विद्यायें राजा नल की जिह्वा के अग्रभाग पर सर्वदा निवास किया करती थीं अर्थात् राजा नल का इन अठारहों विद्याओं पर पूर्ण आधिपत्य था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अठारह द्वीपों पर भी पृथक् पृथक् रूप से विजय प्राप्त कर ली थी। इस भाँति इन अठारह विजयलक्ष्मियों पर भी उनका आधिपत्य हो गया था। इस भाँति राजा नल स्वभावतः परस्पर विरोधिनी लक्ष्मी (श्री) और विद्या (सरस्वती) दोनों के ही आश्रय थे। लक्ष्मी तथा सरस्वती का यह विरोध पूर्णरूपेण स्वाभाविक है। संसार में भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जो लक्ष्मीवान् होता है वह विद्यावान् अथवा विद्वान्

नहीं होता। और जो विद्वान् होता है वह धनी नहीं होता। लक्ष्मी तथा सरस्वती का यह विरोध चिरन्तन एवं शाश्वत है और सृष्टि के आदि से निरन्तर चलता चला आ रहा है। इतना होने पर भी राजा नल विद्यावान् अथवा विद्वान् तो थे ही साथ ही लक्ष्मीवान् भी। यही उनके जीवन की एक उत्कृष्टतम विशेषता है।

अलङ्कार—राजा नल की विद्या अठारह प्रकार की थी। वेदत्रयी भी शिक्षा आदि छः वेदाङ्गों के गुणन से अठारह प्रकार की हो जाती है। अतः राजा नल की विद्या ने वेदत्रयी के सदृश अठारह के संख्यात्व को प्राप्त किया। इस स्थल पर राजा नल की **विद्या** उपमेय, **त्रयी** उपमान तथा **इव** उपमावाचक शब्द और दोनों के अठारह प्रकारों आदि का होना साधारण धर्म है। अतः इस श्लोक में पूर्णोपमा अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त "नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् जिगीषया" के आधार पर राजा नल की विद्या के भी अठारह प्रकार होने के कारण [राजा नल ने अठारह द्वीपों को पृथक् पृथक् जीत करके अठारह जयश्रियाँ प्राप्त की हैं, फिर विद्या जिसका "श्री" के साथ सदैव विरोध रहा करता है, पीछे क्यों रह जाती ? अतः, वह भी अठारह द्वीपों को पृथक् पृथक् जीतने से प्राप्त अठारह जयश्रियों को नीचा दिखलाने की इच्छासे पूर्वोक्त प्रकार से अठारह हो गयी।] की संभावना की गयी है। अतः यहाँ "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार की प्रतीति भी होती है। उपमा एवं उत्प्रेक्षा दोनों ही अलङ्कारों का प्रयोग होने के कारण यहाँ "संसृष्टि" अलङ्कार भी बन जाता है।

व्याकरण—जिगीषया = जि + सन् + अ ।

समास—अङ्गगुणेन = अङ्गानां गुणेन इति । **नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्** = नवानां द्वयं नवद्वयं, नवद्वयानां द्वीपानां पृथक् भूताः याः जयश्रियः तासां नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ।

टिप्पणियाँ—विद्या—इससे पूर्व के श्लोक सं० चार में चतुर्दश विद्याओं का उल्लेख किया जा चुका है। उसी के साथ आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र इन चार विद्याओं का योग कर देने से इस श्लोक में वर्णित अठारह विद्याओं का उल्लेख स्पष्ट हो जाता है। टीकाकार मल्लिनाथ ने अठारह विद्याओं के अतिरिक्त इस स्थल पर प्रयुक्त "विद्या" शब्द से "पाकविद्या" अर्थ होने का भी संकेत किया है क्योंकि राजा नल "पाकविद्या" में भी पूर्णतया दक्ष थे। मीठा, खट्टा, कसैला, कड़ुआ, तीखा और नमकीन इन छः रसों की न्यूनता,

अधिकता और समता की दृष्टि से प्रत्येक रसके तीन-तीन भेद होंगे और इस प्रकार यह पाकविद्या भी अठारह प्रकार की होगी। टीकाकार नारायण ने तो इस स्थल पर "विद्या" शब्द से द्यूतविद्या की ओर भी संकेत किया है। राजा नल द्यूतविद्या में भी प्रवीण थे। द्यूतव्यसनी होने के कारण बहुत बोलने वाले राजा नल की रसनाग्रनर्त्तकी द्यूतविद्या दुआ-तिआ-चौका-पञ्जा तथा चार उड्डीयक (२ + ३ + ४ + ५ + ४=१८) रूप गुणों द्वारा विस्तार को प्राप्त होकर अठारह प्रकार की हो जाती है। **त्रयी** = त्रयी शब्द से अभिप्राय "वेदत्रयी" से है। वैसे वेद तो चार हैं (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद (३) सामवेद (४) अथर्ववेद। किन्तु इन चारों में ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीन का ही वर्णन किया गया है। वेद शब्द का निर्माण "विद्‌लृ" ज्ञाने धातु से हुआ है। अतः वेद का अर्थ हुआ "ज्ञान"। अतः यह ज्ञान भी तीन प्रकार का हुआ। इसी आधार पर चारों वेदों के ज्ञान को वेदत्रयी शब्द द्वारा कहा गया है। ऋग्वेद में ज्ञान का यजुर्वेद में कर्म का तथा सामवेद में उपासना का वर्णन विशद रूप से उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में तीनों का वर्णन मिलता है। इन तीनों के साथ छै प्रकार के वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्यौतिष) का गुणन करने से वेदत्रयी भी अठारह प्रकार का हो जाता है। **अङ्गगुणेन** = अङ्ग अर्थात् वेदाङ्गों के साथ गुणा करने से। **विस्तरम्** = विस्तार अथवा वृद्धि को। **रसनाग्रनर्त्तकी** = जिह्वा के अग्रभाग पर नृत्य करने वाली अर्थात् जिह्वा पर सर्वदा विद्यमान रहने वाली। **नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्** = नौ के दो अर्थात् अठारह द्वीपों की पृथक् पृथक् जय-श्री को। **जिगीषया** = जीतने की इच्छा से।

प्रसङ्ग—राजा नल के अन्दर सभी दिक्पालों का अंश विद्यमान था। अतएव वह आठों दिशाओं के स्वामी थे। वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे। शास्त्र-विरुद्ध किसी भी कार्य के करने की इच्छा कभी भी नहीं करते थे। अतएव काम एवं विरोधी इच्छाओं की प्रबलता को रोकनेवाले शास्त्ररूप तृतीय नेत्र को धारण किये हुये थे जिससे उनके शिव के अवतार होने का भान होता था—

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥ ६ ॥

म०—अथास्य देवांशत्वमाह दिगीशेति। दिशामीशा दिगीशाः दिक्पाला

इन्द्रादयः तेषां वृन्दं समूहः तस्य मात्राभिः अंशैः विभूतिरुद्भवः यस्य तथाभूतः। तथा च 'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीरिति'। 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति च स्मृतिः। दिशाम् ईशिता ईश्वरः स नलः शास्त्राणि दिशामिति च बहुवचन-निर्देशात् इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम् अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते। कामम् इच्छां मदनञ्च मदनस्य प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं कन्दर्पदमनकारिणीञ्चेत्यर्थः। कामप्रसरावरोधिनीमिति पाठे कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धीति तथैवार्थः। निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम् अत्र 'तृजकाभ्यां कर्त्तरी'ति कृद्योगसमासस्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः 'तत्प्रयोजक' इत्यादि सूत्रकारप्रयोगदर्शनादिति बोध्यम्। द्वयाधिकां तृतीयामित्यर्थः, दृशं नेत्रं बभार दध्रे। एतेन अस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वं व्यज्यते। शास्त्राणि दृशमिति उद्देश्यविधेयरूपकर्मद्वयम्। अवतरेत्यत्राप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन 'सुप्सुपे'ति समासः, न तूपसृष्टात् प्रत्ययोत्पत्तिः। अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्तरूपकम्।६।

अन्वय—दिगीशवृन्दांशविभूतिः दिशामीशिता स शास्त्राणि कामप्रसभावरोधिनीं निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां द्वयाधिकां दृशं बभार।

संस्कृत-व्याख्या—दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिगीशानां इन्द्रादिदिक्पालानां वृन्दं समूहः तस्य अंशैः मात्राभिः विभूतिः उद्भवः यस्य एतादृशः, दिशामीशिता=दिशां ईशिता ईश्वरः, स=नलः, शास्त्राणि, कामप्रसभावरोधिनीम्= स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं मदनदहनकारिणीं वा, निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्= निजं स्वकीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम् द्वयाधिकाम्=तृतीयामित्यर्थः, दृशम् = नेत्रम्, बभार=दध्रे। एतेन राज्ञः नलस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वमभिव्यज्यते।

हिन्दी-अनुवाद—दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिशाओं के अधिपतियों (स्वामियों) अर्थात् इन्द्र आदि दिक्पालों के समूह के अंशों से उत्पन्न, दिशामीशिता=आठ दिशाओं के स्वामी, स=वह (राजा नल), शास्त्राणि=शास्त्रों के रूप में, कामप्रसभावरोधिनीम्=काम (इच्छा अथवा कामदेव) को बलात् रोकनेवाली, [कामप्रसरावरोधिनीम्—इस पाठान्तर के होने पर—काम (इच्छा अथवा कामदेव) के प्रसार (विस्तार अथवा वृद्धि) अथवा प्रबलता की अवरोधक (रोकनेवाली) अर्थ होगा।], निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् =

अपने को शिव (त्रिनेत्र) का अवतार होने का ज्ञान कराने वाले (अथवा कराने वाली—दृष्टि के पक्ष में), द्व्याधिकाम् = दो से अधिक अथवा अतिरिक्त अर्थात् तृतीय, दृशम् = नेत्र अथवा दृष्टि को, बभार = धारण किये था।

भावार्थ—सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताथत्योर्यमस्य च।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ मनु० ५।५६॥

तथा—

"इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥"
"अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः ॥"

इत्यादि स्मृति-कथित उद्धारणों के आधार पर सम्पूर्ण दिशाओं के स्वामियों (दिक्पालों) के अंश-समूह द्वारा राजा के शरीर का निर्माण हुआ करता है अथवा सम्पूर्ण दिक्पालों के अंश समूह से राजा ऐश्वर्य सम्पन्न हुआ करता है। अतः इसी आधार पर राजा नल का शरीर भी सम्पूर्ण दिक्पालों के अंशसमूह से निर्मित था तथा वह सम्पूर्ण दिशाओं के अधिपतियों के अंशसमूह से ऐश्वर्य-सम्पन्न था। वह सम्पूर्ण दिशाओं का शासक भी था। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक दिशा का स्वामी [दिक्पाल] तो अपनी दिशा का ही स्वामी हुआ करता है किन्तु राजा नल सभी (आठों) दिशाओं के स्वामी थे—अतएव आठों दिशाओं के वे शासक थे। इस प्रकार के वे राजा नल शास्त्ररूप तृतीय-नेत्र को प्राप्तकर इच्छा की प्रबलता अर्थात् मन को शास्त्रविरुद्ध कार्य में प्रवृत्त होने से उसी प्रकार रोकते थे जैसे त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर ने अपने तृतीयनेत्र से कामदेव की प्रबलता को रोका था। इस भाँति राजा नल शास्त्रज्ञान द्वारा काम की प्रबलता को रोककर अपने को भगवान् शिव का अवतार होने की बात को प्रदर्शित कर रहे थे अथवा वे पूर्णशास्त्रज्ञ होने के कारण शास्त्रविरुद्ध कार्यों के करने सम्बन्धी अपनी इच्छाओं का सदैव दमन किये रहते थे। इस भाँति वे शास्त्ररूप तृतीय-नेत्र को धारण किये हुये थे।

अलङ्कार—उक्त पद्य में राजा को शास्त्ररूप तृतीयनेत्रधारी कहा गया है। अतएव यहाँ रूपक अलङ्कार है।

व्याकरण—अवतर शब्द तॄ धातु से "ऋदोरप्" सूत्र से अप् प्रत्यय जुड़ने के पश्चात् 'अव' उपसर्ग का "तर" से समास करने पर बनता है। "अव" उपसर्गपूर्वक तॄ धातु से "अप्" प्रत्यय करने पर नहीं। क्योंकि 'अव'

उपसर्गपूर्वक तॄ धातु से "अवेस्तॄस्त्रोर्घञ्" सूत्र से "घञ्" प्रत्यय होने पर "अवतार" शब्द बनेगा, 'अवतर' नहीं।

समास—दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिशामीशाः दिगीशाः (इन्द्रादयः दिक्पालाः), तेषां वृन्दं समूहः, तस्य अंशैः विभूतिः यस्य तथा भूतः। **कामप्रसभावरोधिनीम** = कामं प्रसभेन अवरुणद्धि-इति तथोक्तां [यह "दृशम्" का विशेषण है]। (पाठान्तर में—) **कामप्रसरावरोधिनीम्** = कामस्य प्रसरः इति कामप्रसरः तं अवरुणद्धि इति तथोक्ताम्। **निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्** = निजं स्वकीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं तस्य बोधिकाम् (षष्ठीतत्पुरुष) इति।

टिप्पणियाँ—दिगीशवृन्दांशविभूतिः = सभी दिक्पालों के अंशों से उत्पन्न अथवा ऐश्वर्यसम्पन्न। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में राजा को आठों दिक्पालों के अंशों (मात्रा) से निर्मित बतलाया गया है [मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक सं० ४-८)। **शास्त्राणि दृशम्** = शास्त्ररूप दृष्टि अथवा शास्त्ररूप (तृतीय) नेत्र। राजा नल पूर्णशास्त्रज्ञ थे। दो भौतिक नेत्रों के अतिरिक्त वे शास्त्र रूपी एक तृतीय नेत्र भी रखते थे। **द्वयाधिकाम्** = दो से अधिक अर्थात् तृतीय। **निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्** = अपने को शिव का अवतार होने का ज्ञापक। राजानल अपने शास्त्ररूप तृतीय नेत्र से अथवा शास्त्रदृष्टि से काम की प्रबलता अथवा स्वेच्छाचारिता को हठात् रोके रखता था। पौराणिककथा के अनुसार शिव ने अपने तृतीय नेत्र से कामदेव को भस्म कर दिया था। अतः राजा नल का शास्त्ररूपी तृतीय नेत्र यह प्रकट करता था कि वह त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव का अवतार है। **बभार** = धारण किये हुये था अथवा धारण करता था।

प्रसङ्गः—राजा नल के समय में सभी लोग किसी न किसी अंश में तप किया करते थे। यहाँ तक कि अधर्म भी अपने एक चरण की छोटी अँगुली से भूमि का स्पर्श करते हुये तप में संलग्न था—

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्॥७॥

म०—अथास्य प्रभावं दर्शयति—पदैरिति। अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्मवृषरूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः—'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः, स्थिरीकृते निश्चली-

कृते इति यावत्, के जनाः तपः चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं का कथा ज्ञानादीनामिति भावः, न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्व एव तपश्चेरुरित्यर्थः। यत् यतः अधर्मोऽपि का कथा अन्येषामित्यपिशब्दार्थः, कृशः, दुर्बलः सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थः, भुवं स्पृशन् कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादंशेनेति भावः। तपस्वितां तापसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनौ तपस्विनाविति विश्वः। दधौ धारयामास। अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत्। किमुत अन्य इति कैमुत्यन्यायादर्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

अन्वय—अमुना कृते सुकृते चतुर्भिः पदैः स्थिरीकृते के तपः न प्रपेदिरे ! यद् अधर्मः अपि कृशः [सन्] एकाङ्घ्रिकनिष्ठया भुवं स्पृशन् तपस्वितां दधौ।

संस्कृत-व्याख्या—अमुना = [राज्ञा] नलेन, कृते=कृतयुगे सत्ययुगे वा, सुकृते = धर्मे पुण्ये वा, चतुर्भिः, पदैः = चरणैः "तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥" इत्युक्तचतुर्विधैः इत्यभिप्रायः, स्थिरीकृते = निश्चलीकृते, के जनाः, तपः = चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं, का कथा ज्ञानादीनामिति भावः, न प्रपेदिरे ? अपितु सर्व एव तपश्चेरुरित्यर्थः। यत् = यतः, अधर्मःअपि = [का कथा अन्येषां, इति अपि शब्दार्थः।], कृशः=अतिशयदुर्बलः सन्, एकाङ्घ्रिकनिष्ठया = एकया अङ्घ्रेः चरणस्य कनिष्ठया अङ्गुल्या, भुवम् = पृथ्वीं भूमिं वा, स्पृशन् = स्पर्शं कुर्वन्, तपस्विताम् = तापसत्वं दीनत्वं च (मुनिदीनौ तपस्विनौ—इति विश्वः) दधौ = धारयामास। अस्य नलस्य शासनादधर्मः अपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत् अथवा अधर्मोऽपि धार्मिकः संजातः इति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—अमुना = इस [राजा नल] के द्वारा, कृते = सत्ययुग में, सुकृते = धर्म अथवा पुण्य के, चतुर्भिः पदैः = तप, ज्ञान, यज्ञ और दान रूप चार चरणों से, स्थिरीकृते=स्थिर कर दिये जाने पर, के=कौन (व्यक्ति), तपः= तपश्चर्या में, न प्रपेदिरे = प्रवृत्त नहीं हुये ? अर्थात् सभी व्यक्ति तपश्चर्या में प्रवृत्त हुये। यत् = यहाँ तक कि, अधर्मः अपि = अधर्म भी, कृशः सन्=अतिशय दुर्बल होकर, एकाङ्घ्रिकनिष्ठया = एकचरण की सबसे छोटी अँगुली से, भुवं स्पृशन्=पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ, तपस्विताम् = तपश्चर्या को, दधौ = धारण किये हुये था।

भावार्थ—"अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि । प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिरः ॥" इस वचन के अनुसार सत्ययुग इत्यादि युगों के क्रम से नल, रामचन्द्र और युधिष्ठिर का वर्णन होने से राजा नल का होना सत्ययुग में ही सिद्ध होता है । सत्ययुग में उत्पन्न हुये राजा नल ने धर्म अथवा पुण्य को चारों चरणों से स्थिर कर दिया था । अतः उस समय सभी व्यक्ति तपश्चर्या में संलग्न थे । यहाँ तक कि धर्म-विरोधी अधर्म भी एक चरण से पृथ्वी पर निवास करता हुआ अतिशय दुर्बल होकर तपस्वी बन गया था । सत्ययुग में धर्म अथवा पुण्य की स्थिति चारों चरणों (तप, ज्ञान, यज्ञ और दान रूप चारों चरणों) से स्थित रहा करती है और अधर्म की स्थिति केवल एक चरण से । अतः एकचरण से और उसपर भी उस चरण की मात्र सबसे छोटी अँगुली के आधार पर खड़े रहने से दुर्बलता अत्यधिक आही जाया करती है । अतः सत्ययुगीन राजा नल के समय में अधर्म की इस प्रकार की स्थिति होने पर उसका अतिशय दुर्बल होना स्वाभाविक ही है ।

अलङ्कार--इस राजा नल के समय में अधर्म भी धर्म में आसक्त हो गया था फिर अन्य लोगों का तो कहना ही क्या ? [अर्थात् सभी जन धर्म में आसक्त होकर तपश्चर्या-रत थे ।] कैमुत्य न्याय के अनुसार इस नवीन [दूसरे] अर्थ के निकलने से यहाँ "अर्थापत्ति" नामक अलङ्कार है । इसके अतिरिक्त "अधर्म भी धार्मिक हो गया था" इस वर्णन में "विरोध" अलङ्कार की भी अनुभूति होती है । फिर इस भाँति इन दोनों अलङ्कारों के योग से "संसृष्टि" नामक अलङ्कार भी बन जाता है ।

व्याकरण--**स्थिरीकृते** = स्थिर + च्वि + √कृ + क्त । **प्रपेदिरे** = प्र + पद् + लिट् । **दधौ** = √धा + लिट् ।

समास--**एकाङ्घ्रिकनिष्ठया** = एकया अङ्घ्रेः कनिष्ठया इति ।

टिप्पणियाँ—**सुकृते चतुर्भिः पदैः स्थिरीकृते** = धर्म को अथवा पुण्य को चारों चरणों से स्थित कर दिये जाने पर । ऐसा विश्वास किया जाता है कि सत्ययुग में धर्म अथवा पुण्य के चारों चरण [तप, ज्ञान, यज्ञ और दान रूप] विद्यमान रहा करते हैं और अधर्म केवल एक चरण से ही । प्रत्येक युग में क्रम से धर्म का एक एक चरण घटता तथा अधर्म का एक एक चरण बढ़ता जाता है । परिणामस्वरूप कलियुग में धर्म का मात्र एक चरण तथा अधर्म के चारों चरण हो जाते हैं । राजा नल सत्ययुग में हुये थे । उनके समय में

व्यक्तिमात्र तपश्चर्या किया करते थे। अतः विवश होकर अधर्म को भी उनके शासनकाल में तप करना पड़ा था और इसी कारण वह अतिशय दुर्बल हो गया था। **प्रपेदिरे** = प्राप्त हुये। **तपस्विताम्** = तापसत्व और दीनत्व अथवा दीनता को (मुनिदीनौ तपस्विनाविति विश्वः।)।

प्रसङ्ग—जब राजा नल दिग्विजय के लिये यात्रा प्रारम्भ करते हैं तब उस समय उनकी सेना के सैनिकों के पैरों से उड़ी हुयी धूलि क्षीरसागर में गिरकर कीचड़ बन जाती है। क्षीरसागर से उत्पन्न चन्द्रमा में वह कीचड़ लग जाती है और वही कलङ्क के रूप में दृष्टिगोचर होती है—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥८॥

म०—अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति–यदित्यादिभिः। अस्य नलस्य यात्रासु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'सप्तम्युपमाने'त्यादिना बहुव्रीहिः। मञ्जशब्दादिमनिच्प्रत्ययः। यत् रजः धूलिः, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भावः। सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे तद्वासिनीति भावः। अङ्कतां कलङ्कत्वं दधाति। अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वय—यात्रासु अस्य बलोद्धतं स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम यद् रजः [आसीत्] तदेव गत्वा सुधाम्बुधौ पतितं पङ्कीभवद् विधौ अङ्कतां दधाति।

संस्कृत-व्याख्या—यात्रासु = दिग्विजयसम्बन्धिनी यात्रासु, अस्य = राज्ञः नलस्य, बलोद्धतम् = सैन्योत्क्षिप्तम्, स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम = स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य प्रतापाग्नेः यो धूमः तस्य सदृशं मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तम्, यत्, रजः = धूलिः, आसीत्, तदेव गत्वा, सुधाम्बुधौ = क्षीरसागरे, पतितम्, पङ्कीभवद् सत्, विधौ = चन्द्रमसि [तद्वासिनीति भावः], अङ्कताम् = कलङ्कत्वम्, दधाति [कलङ्कत्वं दधातीतेत्यर्थः]।

हिन्दी-अनुवाद—[राजा नल की] यात्रासु = [दिग्विजय सम्बन्धी] यात्राओं में, अस्य = इस राजा नल की, बलोद्धतम् = सेनाओं के चरणों से उठकर ऊपर की ओर उड़ी हुई, स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम = जलते हुये अर्थात् देदीप्यमान प्रतापरूपी अग्नि के धुयें के सदृश मंजुलता-संपन्न अथवा सुन्दर, यद् रजः = जो धूलि, आसीत् = थी, तदेव = वह [धूलि] ही, गत्वा =

जाकर, सुधाम्बुधौ = अमृत के समुद्र अर्थात् क्षीरसागर में, पतितम् = गिरी हुई [अतएव] पङ्कीभवद् = कीचड़ होती हुई, विधौ = चन्द्रमा में, अङ्कताम् = कलङ्क को, दधाति = धारण किये हुये है। अथवा अमृत के समुद्र—चन्द्रमा—में कलङ्क के रूप में प्रतीत हो रही है।

भावार्थ—जब राजा नल दिग्विजय के लिये अपनी महती सेना के साथ प्रस्थान करते हैं तब इनकी सेना के प्रयाग में सैनिकों के पैरों से जो धूलि उड़ती है वह जाकर क्षीरसागर में गिरती है और कीचड़ बन जाती है। चन्द्रमा की उत्पत्ति क्षीरसागर से हो मानी गई है। अतएव उत्पन्न होते समय वह कीचड़ चन्द्रमा में लग जाती है और वही कीचड़ चन्द्रमा में कलङ्क के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा नल की सेना अत्यधिक है और वह समुद्र-पर्यन्त विजय प्राप्त कर चुकी है।

अलङ्कार—प्रतापानल = यहाँ प्रताप में अनल (अग्नि) का आरोप किया गया है। अतः "रूपक" अलङ्कार है। **दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ** = वह धूलि जो दिग्विजय-यात्रा के समय राजा नल की सेना के प्रयाण से उड़ी—वह दूर जाकर क्षीरसागर में गिरी और उसने कीचड़ का रूप धारण कर लिया। यह कीचड़ उत्पत्ति के समय चन्द्रमा में लग गया। अतएव चन्द्रमा में जो कलङ्क दिखलाई देता है वह मानो वही धूलि है। इस भाँति इस स्थल पर धूलि में कलङ्क होने की संभावना की गयी है अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—मञ्जिमन् = यह शब्द मञ्जु शब्द से भाव में "इमनिच" प्रत्यय जुड़ने पर बनता है। यह शब्द पुल्लिङ्ग शब्द है। "स्फुरत्प्रतापानलधूम-मञ्जिम" यह शब्द "रजः" का विशेषण है। "रजः" यह रूप रजस् शब्द की प्रथमा-विभक्ति के एकवचन का रूप है तथा नपुंसकलिङ्ग है। अतएव "स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम" शब्द भी नपुसंकलिङ्ग-प्रथमाविभक्ति के एकवचन का ही रूप हुआ। **पङ्कीभवद्** = पङ्क शब्द से 'अभूततद्भाव' अर्थ में "च्वि" प्रत्यय होकर भू धातु से नित्य समास होने के अनन्तर 'शतृ' प्रत्यय होकर "पङ्कीभवत्" शब्द बनता है।

समास—स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम = स्फुरन् ज्वलन् यः प्रतापः तेजः

स एव अनलः तस्य धूमस्य इव मञ्जोर्भावः मञ्जिमा स यस्य तत् (बहुव्रीहि समास)। **पङ्कीभवत्** = अपङ्कं पङ्कं भवदिति पङ्कीभवत्।

टिप्पणियाँ—यात्रासु = दिग्विजय से सम्बन्धित यात्राओं में अथवा दिग्विजय के लिये की गयी यात्राओं में। **बलोद्धतम्** = बल अर्थात् सेना [के सैनिकों द्वारा अपने अपने पैरों] द्वारा उड़ाई गई हुई । **स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम** = जलती हुयी अपनी [राजानलकी] प्रतापरूपी अग्नि के धुयें के समान सुन्दर। **सुधाम्बुधौ** = सुधा अर्थात् अमृत के अम्बुधि अर्थात् समुद्र में—सुधा सागर–अथवा अमृत–सागर अथवा क्षीरसागर में। **पङ्कीभवत्** = पङ्क—कीचड़, जो (धूलि) कीचड़ नहीं है वह (धूलि) कीचड़ होती हुई। **अङ्कताम्** = कलङ्कत्व को अथवा कलङ्क को। **दधाति** = धारण किये हुए है।

प्रसङ्ग—राजा नल ने अपने सौ से भी अधिक शत्रु राजाओं पर विजय प्राप्त की थी और इस भाँति शत्रु राजाओं पर विजय प्राप्त कर उनकी प्रतापाग्नि को बुझा दिया था—

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ॥ ९॥

म०—स्फुरदिति। सङ्गरे युद्धे शतात् परे परश्शताः शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत्, पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः पारस्करादित्वात् सुडागमश्च। परे शत्रवः स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्निस्वनौ चापघोषौ इन्द्रचापगर्जिते—यस्य यत्र वा तथोक्तः स नल एव घनः मेघः तस्य आशुगानां शराणाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी, यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगौ वायुविशिखावि'त्यमरः। तथा व्ययितस्य निर्वापितस्य विपूर्वादयतेः कर्मणि क्तः। निजस्य तेजःशिखिनः प्रतापाग्नेः अङ्गारमिव अयशः अपकीर्त्तिं वितेनुः विस्तारितवन्तः। पराजिता इति भावः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥ ९ ॥

अन्वय—सङ्गरे परश्शताः परे स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य निजस्य तेजश्शिखिनः अङ्गारमिव अयशः वितेनुः।

संस्कृत-व्याख्या—सङ्गरे = युद्धे, परश्शताः = शतात् परे परश्शताः शताधिकाः, परे = शत्रवः, स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य = स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुः निस्वनौ चापघोषौ [मेघपक्षे] इन्द्रचापगर्जिते—यस्य

यत्र वा तथोक्तः स नल एव घनः मेघः तस्य आशुगानां शराणाम् [अग्निपक्षे] आशुगा वेगगामिनी यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः तया व्ययितस्य, निर्वापितस्य, निजस्य = स्वकीयस्य, तेजश्शिखिनः प्रतापाग्नेः, अङ्गारमिव = अङ्गारसदृशं, अयशः = अपकीर्तिं अपयशं वा, वितेनुः = विस्तारितवन्तः। राज्ञा नलेन शताधिकाः शत्रवः पराजिताः इति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—सङ्गरे = युद्ध में, परश्शताः = सौ से भी अधिक, परे= शत्रुराजाओं ने, स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य=चमकता हुआ अथवा देदीप्यमान है धनुष और घोष [टङ्कार] जिसका ऐसा जो वह [राजा-नल] रूपी मेघ, ऐसे उस राजा नल के बाणों की वर्षा से बुझे हुये, [अग्नि-पक्ष में—] चमकता हुआ है धनुष [इन्द्रधनुष] और निस्वन (गर्जन) जिसमें ऐसे तथा उस नलके सदृश मेघ की आशुगा अर्थात् वेगगामिनी वायु के संसर्ग से होने वाली महती वृष्टि से बुझे हुये, निजस्य = अपने, तेजश्शिखिनः = प्रतापरूपी अग्नि के, अङ्गारमिव = अङ्गार के सदृश, अयशः = अपयश को, वितेनुः = फैला दिया।

भावार्थ—राजा नल युद्ध में, देदीप्यमान अपने धनुष की टङ्कार को करते हुये मेघों से हुई वर्षा के सदृश बाणों को बरसाते थे। बाणों की इस वृष्टि से राजा नल के सौ से भी अधिक शत्रुओं की प्रतापरूपी अग्नि बुझ गई और उनके काले-काले अंगारों के समान अपयश चारों ओर फैल गये। अत्यधिक वर्षा होने पर प्रज्वलित अग्नि बुझ जाया करती है और उसके बुझे हुये काले-काले अंगार चारों ओर फैल जाया करते हैं। इसी प्रकार राजा नल के बाणों की वर्षा से सभी शत्रु राजा पराजित हो गये तथा उनकी कीर्ति नष्ट हो गयी और उनका अपयश चारों ओर व्याप्त हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल शत्रुविहीन होकर निर्द्वन्दता के साथ राज्य का संचालन करते थे और उनकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी।

अलङ्कार—तेजश्शिखिनः = तेजरूपीअग्नि—यहाँ तेज में अग्नि का आरोप किये जाने से रूपक अलङ्कार है। अङ्गारमिवायशः = [शत्रु राजाओं ने] अपने अपयश के रूप में मानो कोयले छोड़ दिये—इस संभावना के आधार पर यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार भी है।

व्याकरण—परश्शताः = शतात् परे इति परश्शताः—इस स्थल पर टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार "पञ्चमी भयेन" इस सूत्र में 'पञ्चमी' यह

योगविभाग करके 'पंचमी' विभक्ति जिसके अन्त में हो, उसका सुबन्त के साथ समास हो जाता है' इस नियम के अनुसार शतात् का परे से समास हो जाने पर "राजदन्तादिषु परम्" सूत्र से शत का पर-निपात और 'पारस्करादीनि सत्तायाम्' सूत्र से पर और शत के बीच सुट का आगम होकर 'परश्शताः' बनता है। निर्वापितस्य = निर् + वि + अय् + क्त (कर्म में)।

समास—स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य = स्फुरन्तौ धनुश्च निस्वनश्च यस्य स स्फुरद्धनुर्निस्वनः स्फुरद्धनुर्निस्वनश्चासौ स च स्फुरद्धनुर्निस्वन स एव घनः तस्य प्रगल्भया वृष्ट्या व्ययितस्य। **तेजःशिखिनः** = तेजः एव शिखी इति तेजशिखी तस्य। **परश्शताः** = शतात्परे इति परश्शताः [पंचमी तत्पुरुष]।

टिप्पणियाँ—परश्शताः = सौ से भी अधिक। **सङ्गरे** = युद्ध में, संग्राम में। **आशुग**—आशु अर्थात् शीघ्र गमन करने वाले [आशुगौ वायुविशिखा-वित्यमरः]। **अङ्गारमिवायशः** = राजा नल द्वारा की गयी बाण-वर्षा द्वारा शत्रुओं का तेज नष्ट हो गया तथा शत्रुओं की पराजय का अपयश चारों ओर फैल गया। अतः कवि उत्प्रेक्षा करता है कि शत्रु की प्रतापरूपी अग्नि बुझ गयी और उसने अपयश के रूप में मानों कोयलों को ही छोड़ दिया। क्योंकि अग्नि को बुझा देने से कोयले ही शेष रह जाते हैं। यदि अग्नि स्वयं अपने आप बुझती है तब तो वह राख हो जाती है। किन्तु जल द्वारा बुझा दिये जाने पर कोयले ही शेष रह जाते हैं। कवि-सम्प्रदाय द्वारा अपयश अथवा अपकीर्ति का वर्ण भी काला ही माना गया है।

प्रसङ्ग—दिग्विजय के पश्चात् राजा नल भूमण्डल की प्रदक्षिणा करके विजय के निमित्त [पुरोहितों द्वारा] की गयी आरती से सुशोभित हुये—

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद् भुवः।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥ १० ॥

म०—अनल्पेति। राज्ञः प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघः शत्रुघाती-त्यर्थः 'राजघ उपसंख्यानमि'ति निपातः। नलः अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् उज्ज्वलाः तैः निजप्रतापैः कोषदण्डसमुत्थते-जोभिः 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजमि'त्यमरः। ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य क्रमेण सर्वदिग्विजे-तृत्वादिति भावः। जयाय सृष्टया सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरिति-

शेषः। नीराजनया आरार्तिकया रराज शुशुभे दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः। केचित्तु निजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया जयार्थयेवेत्यर्थः। नीराजनया आरार्तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज। तत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीराजनया भूदेवतां नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाद्यप्रयोगाद्गम्या। इति व्याचक्षते। तन्न समीचीनम्, निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिकरण्यासङ्गतेरिति ॥ १० ॥

अन्वय—राजघः स अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलद्भुवः वलयं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज।

संस्कृत-व्याख्या—राजघः = शत्रुघाती, स = नलः, अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः = अनल्पं अत्यधिकं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् अग्निसदृश उज्ज्वलाः तैः, निजप्रतापैः = स्वप्रतापाग्निभिः, ज्वलद् = देदीप्यमानम्, भुवः = पृथिव्याः, वलयम्=मण्डलम् , प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणां कृत्वा क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वात् सर्वस्यभूमण्डलस्य परिक्रमां विधाय इति भावः, जयाय सृष्टया = सर्वभूजयनिमित्तं कृतया [पुरोहितैः इति शेषः], नीराजनया = आरार्तिकया, रराज=शुशुभे। दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय—नीराजयन्ति—इति प्रसिद्धिः। केचित्तु अनेन प्रकारेण व्याख्यां कुर्वन्ति यत्—निजप्रतापैः इव जयाय सृष्टया जयार्थया इव कृतया नीराजनया आरार्तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य रराज।

हिन्दी-अनुवाद—राजघः = [महाप्रतापी एवं शूरवीर] राजाओं का हनन करने वाला, स = वह राजा नल, अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः = बहुत-अधिक जलाये गये हुये शत्रु नगरों वाली अग्नि के समान उज्ज्वल अर्थात् प्रकाशमान, निजप्रतापैः = अपने प्रतापों से, ज्वलद् = देदीप्यमान अथवा प्रकाशमान, भुवः वलयम् = पृथ्वीमण्डल की, प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणा कर, जयाय = विजय के लिये [पुरोहितों द्वारा] सृष्टया = की गयी, नीराजनया = आरती के द्वारा, रराज = सुशोभित हुये। अथवा उक्त रूप से वर्णित अपने प्रतापों द्वारा मानो अपनी विजय के निमित्त रचित आरती [पक्षान्तर में = नीराजनया अर्थात् राजाओं का अभाव अथवा नाश करने] से प्रकाशमान

भूमण्डल की प्रदक्षिणा कर वे राजा नल सुशोभित हुये। अथवा-प्रदक्षिणी, कृती, अजया, आय = प्रदक्षिणीकृत्यजयाय—ऐसा पदच्छेद करने पर—अधिक दक्षिणाशील अनुचरों वाले, कर्म करने में कुशल, शत्रुराजहन्ता वे राजा नल लक्ष्मी द्वारा विष्णु के लिये रची गयी हुयी आरती से सुशोभिति हुये। राजा नल सम्पूर्ण देवताओं के अंशों से उत्पन्न थे। अतएव उनमें विष्णु देवता का भी अंश विद्यमान था। अतः विष्णु-रूप होने के कारण लक्ष्मी द्वारा उनकी आरती किया जाना भी उचित ही है। [शेषअर्थ पूर्ववत्]। इस पद्य में राजा नल के अनुचरों को प्रदक्षिण अर्थात् अधिक दक्षिणा देने वाले अर्थात् वदान्य कहा गया है और राजा नल ऐसे अनुचरों से युक्त होने के कारण 'प्रदक्षिणी' वदान्यतम अर्थात् अत्यधिक दानी हुये। अथवा राजा नल को, अधिक दक्षिणा जिन यज्ञों में दी जाया करती है ऐसे ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के कर्त्ता होने के कारण 'प्रदक्षिणी' कहा जाना उपयुक्त ही है।

भावार्थ—राजा नल चक्रवर्त्ती सम्राट् थे। चक्रवर्त्ती होने के लिये समस्त पृथ्वीमण्डल पर विद्यमान शासकों अथवा राजाओं पर विजय प्राप्त कर लेना आवश्यक है अथवा सभी शासक अथवा राजा उसकी अधीनता को स्वीकार कर लें तभी उसे चक्रवर्त्ती कहा जा सकता है। अतः राजा नल के लिये भी आवश्यक था कि वे विजय यात्रा के लिये निकलें। तदनुसार वे निकले और समस्त भूमण्डल पर स्थित राजाओं को पराजित कर वे चक्रवर्त्ती सम्राट हुये। इस भाँति उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल पर घूमना पड़ा। इसी भावना के आधार पर महाकवि ने राजा के बारे में यह कल्पना की कि उस राजा नल ने विजय यात्रा के उपलक्ष्य में पृथ्वीमण्डल की प्रदक्षिणा की और विजय के अनन्तर जब अपनी राजधानी में लौटकर आये तब विजय के उपलक्ष्य में पुरोहितों और नागरिकों ने उनकी आरती की। इस भाँति इस आरती के द्वारा वह सुशोभित हुए।

कुछ टीकाकारों ने इस पद्य का अन्वय एवं अर्थ निम्नलिखित रूप में किया है:—

अन्वय—राजघः स अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः जयाय सृष्टया नीराजनया ज्वलद्भुवः वलयं प्रदक्षिणीकृत्य रराज—अर्थात् शत्रु राजाओं का हनन करने वाला वह राजा नल शत्रुओं के नगरों को अत्यधिक रूप से जलाने वाले और अग्नि के समान उज्ज्वल अपने प्रतापरूपी, विजय के निमित्त

की गयी नीराजना से प्रकाशमान पृथ्वीमण्डल की प्रदक्षिणा कर सुशोभित हुआ। इस अर्थ में निज प्रताप का नीराजना के साथ तादात्म्य आरोपित किया गया है। इसी कारण टीकाकार मल्लिनाथ ने इस अर्थ को उपयुक्त नहीं कहा है।

अलङ्कार—उपर्युक्त किये गये द्वितीय अर्थ के आधार पर निजप्रताप का नीराजना के साथ तादात्म्य आरोपित किये जाने की दृष्टि से उत्प्रेक्षालङ्कार बनता है।

व्याकरण—राजघः = राज्ञः प्रतिपक्षानितिभावः हन्तीति राजघः—यहाँ पर "राजघ उपसंख्यानम्" से निपात होता है। **रराज** = राज् + लिट्।

समास—राजघः = राज्ञः हन्तीति राजघः। **अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः** = अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि यैः तथोक्ताः अनलवत् उज्ज्वलाः तैः। **प्रदक्षिणीकृत्य** = अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं इति प्रदक्षिणीकृत्य।

टिप्पणियाँ—अनल्प = अत्यधिक। **अनलोज्ज्वलैः** = अग्नि के सदृश उज्ज्वल अथवा प्रकाशमान अथवा देदीप्यमान। **निजप्रतापैः** = अपने प्रताप से अथवा स्वकीय तेज से। **वलयम्** = मण्डल को। **ज्वलद्** = जलता हुआ अर्थात् प्रकाशमान, चमकता हुआ। **जयाय सृष्टया** = दिग्विजय के लिये की गयी हुयी। **नीराजनया** = आरती से। **रराज** = सुशोभित हुये।

प्रसङ्ग—राजा नल ने अपने सभी शत्रु राजाओं का विनाश कर दिया था। अतः उनकी विधवा स्त्रियाँ सदैव रोती थीं। इसी भावना के आधार पर महाकवि ने निम्न लिखित कल्पना की है—

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः॥ ११॥

म०—निवारिता इति। तेन नलेन अखिले समग्रे महीतले न सन्ति ईतयः अतिवृष्टयादयः यत्र तत् निरीतिः, तस्य भावः तम् ईतिराहित्यमित्यर्थः। ईतयश्चोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः'॥ इति। गमिते प्रापिते सति निवारिताः स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः। अतिवृष्टयः नास्ति अन्यः संश्रयः आश्रयः यासां तथाभूताः सत्याः प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः तासां दृशः नयनानि न तत्यजुः। नूनं मन्ये इत्यर्थः। उत्प्रेक्षावाचकमिदं, तदुक्तं दर्पणे

'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश' इति। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरिति भावः॥ ११॥

अन्वय—अखिले महीतले तेन निरीतिभावं गमिते निवारिताः अतिवृष्टयः अनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः न तत्यजुः नूनम्।

संस्कृत-व्याख्या—अखिले = सम्पूर्णे, महीतले = भूतले [पृथिव्यां वा], तेन = राज्ञा नलेन, निरीतिभावम् = न सन्ति ईतयः अतिवृष्ट्यादयः यत्र तत् निरीतिः तस्य भावः तम्—ईतिराहित्यमित्यर्थः [ईतयश्चोक्ताः—"अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥"], गमिते = प्रापिते सति, निवारिताः = स्वराष्ट्रात् निराकृताः, अतिवृष्टयः, अनन्यसंश्रयाः = न विद्यते अन्यः संश्रयः आश्रयः यासां तथाभूताः सत्याः, प्रतीपभूपालमृगीदृशाम् = प्रतीपभूपालानाम् शत्रुनृपाणाम् या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः तासाम्, दृशः = नेत्राणि, न तत्यजुः। नूनं मन्ये इत्यर्थः। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरित्यभिप्रायः।

हिन्दी-अनुवाद—अखिले = सम्पूर्ण, महीतले = पृथ्वीतल के, तेन = उस राजा नल के द्वारा, निरीतिभावम् = ईतिशून्यता को, गमिते = प्राप्त करा दिये जाने पर, निवारिताः = अपने राष्ट्र से आने से [अथवा प्रवेश करने से] रोक दी गयी हुयीं, अतिवृष्टयः = अतिवृष्टियों ने, अनन्यसंश्रयाः = कहीं अन्यत्र आश्रय को प्राप्त न कर, प्रतीपभूपालमृगीदृशाम् = शत्रु राजाओं की मृगी सदृश नेत्रों वाली सुन्दरियों [उनकी पत्नियों] के, दृशः = नेत्रों को, न तत्यजुः = नहीं छोड़ा। नूनम् = (मैं ऐसा) मानता हूँ। तात्पर्य यह है कि राजा नल द्वारा जिनके पतियों का हनन किया जा चुका था ऐसे शत्रुराजाओं की स्त्रियाँ निरन्तर रुदन किया करती थीं।

भावार्थ—अतिवृष्टि (वर्षा का आवश्यकता से कहीं अधिक हो जाना), अनावृष्टि (वर्षा का न होना अथवा सूखा पड़ जाना), शलभ, (पतंगों-टिड्डियों आदि का बहुत अधिक संख्या में आगमन) चूहों का बहुत अधिक बढ़ जाना, पक्षियों का बहुत अधिक संख्या में आगमन तथा उनके द्वारा फसल इत्यादि का विनाश किया जाना, समीपस्थ (शत्रु) राजा लोग-इन छै प्रकार की ईतियों (राज्य में आने वाली विपत्तियों) से रहित सम्पूर्ण पृथ्वीतल पर उस (राजा नल) द्वारा रोकी गयी अतिवृष्टियों ने मानों अयन्त्र

कहीं भी आश्रय को प्राप्त न कर शत्रुराजाओं की मृगनयनियों के नेत्रों को नहीं छोड़ा।

राजा नल के सम्पूर्ण राज्य में अतिवृष्टि आदि छै आपत्तियों का प्रवेश नहीं हो पाता था। इस कारण उनका राज्य इन छै प्रकार की ईतियों (आपत्तियों) से रहित था इनमें से सर्व प्रथम ईति का नाम अतिवृष्टि है। इन अतिवृष्टियों को समस्त भूतल पर कहीं भी रुकने हेतु स्थान प्राप्त न हो सका। अतः ये अतिवृष्टियाँ शत्रुराजाओं की स्त्रियों के समीप पहुँच गयीं और उनके नेत्रों को ही अपना आश्रय-स्थल बना लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल ने सभी शत्रुओं का पृथ्वीतल से विनाश कर दिया था। अतएव उन सभी की स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के शोक में निरन्तर रोया करती थीं। संसार में भी ऐसा देखा जाता है कि किसी के द्वारा निकाला गया हुआ व्यक्ति उसके शत्रु के समीप जाकर आश्रय प्राप्त किया करता है। अतः अतिवृष्टियों ने भी शत्रु राजाओं की स्त्रियों के नेत्रों में जाकर आश्रय प्राप्त कर लिया था।

अलङ्कार—यहाँ कवि द्वारा यह संभावना की गयी है कि शत्रु स्त्रियों के नेत्रों में विद्यमान अश्रुधारायें ही मानों अतिवृष्टियाँ हैं। अतः उक्त पद्य में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। तथा इस पद्य में उसका वाचक "नूनम्" पद भी विद्यमान है [मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यन्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः॥ सा०दर्पण॥]

व्याकरण—गमिते = √ गम् + णिच् + क्त।

समास—**निरीतिभावम्** = न सन्ति ईतयः यत्र तत् निरीति तस्य भावः तम्। **अनन्यसंश्रयाः** = नास्ति अन्यः संश्रयः यासां ताः। **प्रतीपभूपालमृगीदृशाम्** = प्रतीपभूपालानां याः मृगीदृशः तासाम्।

टिप्पणियाँ—**निराकृताः** = अपने राष्ट्र से रोक दी गयी हुयीं अर्थात् अपने राष्ट्र में जिनका प्रवेश रोक दिया गया है इस प्रकार की। यह "अतिवृष्टयः" का विशेषण है। **निरीतिभावम्** = 'अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे, पक्षी और पड़ोसी राजा—ये छै किसी देश पर प्राकृतिक विपत्तियाँ (ईति) कही जाती हैं। राजा नल ने सभी ईतियों को अपने देश से निकाल दिया था अर्थात् उनके देश में इन छओं का प्रवेश नहीं हो पाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके पुण्य से इन छओं में से एक भी आपत्ति उनके राष्ट्र पर कभी नहीं आयी थी। **अतिवृष्टयः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः न तत्यजुः** = [अतः]

अतिवृष्टियाँ अन्यत्र कहीं भी आश्रय न प्राप्त हो सकने के कारण शत्रु राजाओं की सुन्दरियों [स्त्रियों] के नेत्रों में चली गयीं और उन्होंने फिर उनको नहीं छोड़ा। अर्थात् राजा नल ने अपने शत्रु राजाओं का उच्छेद कर दिया था। इस कारण उनकी विधवा स्त्रियाँ रात दिन रोया करती थीं। महाकवि ने विधवाओं की इन निरन्तर बहने वाली अश्रुधाराओं को ही अतिवृष्टियाँ कहा है।

प्रसङ्ग—राजा नल के सैनिक युद्ध-विद्या में अत्यन्त निपुण थे। उनकी निपुणता के परिणामस्वरूप युद्ध में तलवारों के प्रहार से शत्रु मृत्यु को प्राप्त होते थे इससे राजा नल का यश दिशाओं के अन्त तक फैलता था—

सितांशुवर्णैर्वयतिस्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्सहकृत्वरी बहुम्।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी॥ १२॥

म०—सितांश्विति। महान् असिरेव वेमा वायदण्डः 'पुंसि वेमा वायदण्ड' इत्यमरः। तस्य सहकृत्वरी सहकारिणी 'सहे चे'ति करोतेः क्वनिप्प्रत्ययः। 'वनो र चे'ति ङीप् रश्च। तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां यद्वा स नल एव भटः वीरः तस्य चातुरी चतुरता नैपुण्यमिति यावत् एव तुरी वयनसाधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः। 'माकु' इति प्रसिद्धा, रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् सितांशुवर्णैः शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नलस्य गुणैः शौर्यादिभिः तन्तुभिश्च दिश एव अङ्गनाः तासाम् अङ्गाभरणम् अङ्गभूषणम्। 'अङ्गावरणमि'ति पाठे अङ्गाच्छादनं बहु यश एव पटः वसनं तं वयति स्म ततान। साङ्गरूपकमलङ्कारः। संग्रामे तथा नैपुण्यमनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिशो यशसा प्रपूरिता इति भावः॥ १२॥

अन्वय—महासिवेम्नः सहकृत्वरी तद्भटचातुरी तुरी रणाङ्गणे सितांशुवर्णैः तद्गुणैः दिगङ्गनाङ्गाभरणं बहु यशःपटं वयति स्म।

संस्कृत-व्याख्या—महासिवेम्नः = महान् असिरेव वेमा वायदण्डः यस्य तस्य, सहकृत्वरी = सहकारिणी, तद्भटचातुरी तुरी = तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां या चातुरी नैपुण्यं, तदेव तुरी वयनसाधनमित्यर्थः अथवा स नल एव भटः वीरः तस्य चातुरी नैपुण्यमेव तुरी वयनसाधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः रणाङ्गणे = रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन्, सितांशुवर्णैः = चन्द्रसदृशगौरवर्णैः शुभ्रैः निर्मलैः वा इति भावः, तद्गुणैः = तस्य नलस्य गुणैः शौर्यादिभिः तन्तुभिश्च (पटपक्षे), दिगङ्गनाङ्गाभरणम् = दिश एव अङ्गनाः स्त्रियः तासां अङ्गाभरणं अङ्गभूषणं [अङ्गावरणमिति पाठान्तरे अङ्गाच्छादनमित्यर्थः] बहु, यशः

पटम् = यश एव पटः वसनं तम्, वयतिस्म = ततान। राजा नलेन युद्धे तथा नैपुण्यं प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिशः यशसा प्रपूरिता इत्यभिप्रायः।

हिन्दी-अनुवाद—महासिवेम्नः = महान् तलवाररूपी वेमा (करघे) की, सहकृत्वरी = सहकारिणी, तद्भटचातुरी तुरी = उसके [राजानल के] सैनिकों की चातुरी रूपी तुरी (ढरकी), रणाङ्गणे = युद्धरूपी आँगन में, सितांशुवर्णैः = चन्द्रमा के समान वर्ण वाले, तद्गुणैः = उस (राजानल) के गुणों रूपी धागों से, दिगङ्गनाङ्गाभरणम् = दिशारूपी स्त्रियों के अङ्गों में धारण किये जाने योग्य आभूषण के सदृश अथवा [पाठान्तर—दिगङ्गनाङ्गावरणम् = दिशारूपी स्त्रियों के अङ्गों को ढकने योग्य—यह पाठ अधिक समीचीन एवं उपयुक्त प्रतीत होता है।], बहु = बड़े, यशःपटम् = यशरूपी वस्त्र को, वयति स्म = बुनती थी।

भावार्थ—उस राजा नल के सैनिकों की चतुरता रूपिणी तथा महान तलवार रूपिणी वेमा का साथ करने वाली तुरी युद्धस्थल में चन्द्रमा के समान निर्मल एवं शुभ्र राजा नल के शौर्य आदि गुणों रूपी धागों से दिशारूपिणी स्त्रियों को ढकने वाले बड़े कपड़े को बुनती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल के योद्धागण युद्ध में बड़ी चतुरता के साथ शत्रुओं पर तलवार का प्रहार करते थे और इस प्रकार उसके शत्रुओं का विनाश हो जाता था तथा उसका यश दिशाओं के अन्तराल भाग तक फैल जाता था। अर्थात् उसकी कीर्ति दिग्व्यापिनी थी।

अलङ्कार—इस श्लोक में "साङ्गरूपक" अलङ्कार है। महान् असि (तलवार) में वेमा, भटचातुरी में तुरी, रण में आँगन, शौर्य आदि गुणों में तन्तुओं, दिशाओं में अङ्गनाओं तथा यश में पट का आरोप किया गया है।

व्याकरण—सहकृत्वरी = सह् + कृ + क्वनिप् सहकृत्वा, स्त्रीलिङ्ग में "वनो र च" इस सूत्र से "रेफ" का आगम और ङीप् प्रत्यय होकर 'सहकृत्वरी' बनता है।

समास—महासिवेम्नः = महान् असिरेव वेमा यस्य तस्य। **तद्भटचातुरी** = तस्य भटानां चातुरी इति—अथवा—स नलः एव भटः वीरः तस्य चातुरी। **रणाङ्गणे** = रण एव अङ्गनं तस्मिन्। **तद्गुणैः** = तस्य नलस्य गुणाः इति तद्गुणाः शौर्य्यादयः एव गुणास्तन्तवः तैः। **दिगङ्गनाङ्गाभरणम्** = दिश एव अङ्गनाः इति दिगङ्गनाः तासां अङ्गाभरणमिति। **दिगङ्गनाङ्गावरणम्**=दिश

एव अङ्गनाः इति दिगङ्गनाः तासां अङ्गावरणम् (अङ्गाच्छादनमित्यर्थः) इति।
यशःपटम् = यश एव पटः इति, तम्।

टिप्पणियाँ—सहकृत्वरी = (सहकृत्वा का स्त्रीलिङ्ग में) सहचारिणी, साथ देने वाली। **तद्भटचातुरी**=राजानल के योद्धाओं की चतुरता अथवा रणकौशल। अथवा राजानल सदृश वीर का युद्धकौशल। **सितांशुवर्णैः** = श्वेत (निर्मल) किरणों से युक्त अथवा श्वेतवर्ण की निर्मल किरणों वाला-अर्थात् चन्द्रमा—ऐसे उस चन्द्रमा के सदृश वर्ण वाले। **तद्गुणैः** = उस राजानल के शौर्य आदि गुणों के द्वारा अथवा गुण-शब्द का अर्थ रस्सी अथवा धागा भी होता है। अतः पट के पक्ष में—धागा या सूत अर्थ ही होगा। **दिगङ्गनाङ्गाभरणम्** = टीकाकार मल्लिनाथ ने इसी पाठ को मानकर टीका की है—किन्तु उन्होंने "दिगङ्गनाङ्गावरणम्" को भी पाठान्तररूप में स्वीकार किया है। दोनों का क्रमशः अर्थ होगा—(१) दिशाओं रूपी अङ्गनाओं (स्त्रियों) के अङ्गों में धारण किये जाने योग्य आभूषण (२) दिशाओं रूपी स्त्रियों के अङ्गों को ढक लिये जाने योग्य। **यशःपटम्** = कीर्तिरूपी वस्त्र को। **वयतिस्म** = बुनती थी।

प्रसङ्ग—विरोधी राजाओं के समान परस्पर विरोधी स्वभावों ने भी उस राजानल के भय से पारस्परिक भेदभाव का त्याग कर दिया था—

प्रतीपभूपैरिव किं ततोभिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक् चारदृगप्यवर्त्तत ॥ १३॥

म०—प्रतीपेति। प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः विरुद्धधर्मैः असमानाधिकरणधर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भिया भयेनेव हेतुना भेत्तृता स्वाश्रयभेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः। उज्जिता त्यक्ता किम्? यद् यस्मात् स नलः ओजसा तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रं सूर्य्यं जयतीति तथाभूतः। अत्र यः खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक्। 'राजानश्चारचक्षुष' इति, 'चारैः पश्यन्ति राजान' इति च नीतिशास्त्रम्। अत्रापि यो विचारदृक् स कथं चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। अवर्त्तत आसीत्। अपिर्विरोधे। सूर्य्यतेजसं चारदृशञ्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजापादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः। अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः ॥ १३ ॥

अन्वय—किं ततो भिया प्रतीपभूपैः इव विरुद्धधर्मैः अपि भेत्तृता

उज्झिता ? यत् स ओजसा मित्रजिद् अपि अमित्रजिद् विचारदृग् अपि चारदृग् अवर्त्तत ।

संस्कृत-व्याख्या—किम्, ततः = नलात्, भिया = भयेन हेतुना, प्रतीपभूपैः इव = शत्रु नृपतिभिः इव, विरुद्धधर्मैः = असमानाधिकरणधर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि, भेत्तृता = स्वाश्रयभेदकत्वम्, परोपजाप इत्यर्थम्, उज्झिता = त्यक्ता ? यत् = यस्मात्, स = नलः, ओजसा = तेजसा, मित्रजिद् = मित्रं सूर्यं जयतीति तथाभूतः, अपि, अमित्रजिद् = अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः, विचारदृग्, अपि, चारदृग् = चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृग्, अवर्त्तत = आसीत् ।

हिन्दी-अनुवाद—किम्=क्या, ततः = उस राजानल के, भिया = भय से, प्रतीपभूपैः इव = शत्रुराजाओं के सदृश, विरुद्धधर्मैः अपि=विरोधी धर्मों ने भी, भेत्तृता = भेदभाव को, उज्झिता = छोड़दिया ? यत् = क्योंकि, स = वह नल, ओजसा = तेज में, मित्रजित् = सूर्य को जीतनेवाला, अपि = होनेपर भी, अमित्रजित् = शत्रुओं को जीतनेवाला तथा विचारदृग् अपि = विचार पूर्वक देखने वाला होने पर भी, चारदृग् = चरों (दूतों) के द्वारा देखने वाला, अवर्त्तत् = था ।

भावार्थ—क्या विरोधी राजाओं के समान परस्पर विरुद्ध स्वभावों ने भी उस राजानल के भय से भेदभाव का त्याग कर दिया था ? जो नल अमित्रजित् (शत्रुओं को जीतने वाले) होकर भी मित्रजित् (मित्रों को जीतने वाले—विरोध-परिहार के पक्ष में—अपने प्रताप के बलपर सूर्य को भी जीत लेने वाले) थे तथा चारदृग (गुप्तचरों के द्वारा अपने राज्य के सम्पूर्ण कार्य्य-कलाप को देख लेने वाले) होने पर भी विचारदृग् (गुप्तचरों द्वारा नहीं देखने वाले—विरोध के परिहार पक्ष में—विचारपूर्वक कार्य करने वाले) थे । राजा नल सूर्य के समान तेजस्वी और गुप्तचरों द्वारा देखने वाला था । इस कारण शत्रुओं ने उस राजानल के भय के कारण परस्पर फूट डालने की क्रिया भी छोड़ दी थी । अतः कवि कल्पना करता है कि शत्रु राजाओं के सदृश विरोधी धर्मों (स्वभावों) ने भी उस राजानल के भय के कारण भेदभाव को छोड़ दिया था क्योंकि उसके अन्दर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्म भी एक साथ रहा करते थे । वह "मित्रजित्" होते हुए भी "अमित्रजित्" तथा "विचारदृक्" होते हुए भी "चारदृक्" था ।

अलङ्कार—इस श्लोक के तृतीय तथा चतुर्थ चरण में 'विरोधाभास' अलङ्कार है। राजानल "मित्रजित्" [अर्थात् सूर्य को जीतनेवाले] होने पर भी 'अमित्रजित्' [सूर्य को न जीतने वाले] थे। इसी प्रकार जो "चारदृक्" [दूतों द्वारा सम्पूर्ण राज्य की बातों को जानने वाला] होने पर भी "विचार-दृक्" [दूतों द्वारा राज्य भी बातों को न जानने वाला था। इन्हीं परस्पर विरोधी बातों या भावों से युक्त राजानल था। अतः विरोध उत्पन्न हुआ। इस विरोध का परिहार इस प्रकार हो जाता है—"अमित्रजित्" का अर्थ है—अमित्र अर्थात् शत्रुओं को जीतने वाला और "विचारदृक्" का अर्थ है विचार पूर्वक अर्थात् बुद्धि से समस्त कार्यों को देखने वाला। इस अर्थ के आधार पर उपर्युक्त विरोध का परिहार हो जाता है। अतः विरोध का आभासमात्र होने से "विरोधाभास" अलङ्कार हुआ।

इसके अतिरिक्त यहाँ पर "राजानल सूर्य सदृश तेजस्वी तथा 'चारदृक्' अर्थात् दूतों द्वारा अन्य राजाओं और सम्पूर्ण प्रजा के समाचारों को जानने वाला था" अतएव शत्रुओं ने उसके भय से परस्पर के उपजाप तथा वैरभाव आदि का त्याग कर दिया था—ऐसी संभावना के किये जाने से यहाँ "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार भी बन जाता है। उपर्युक्त स्थिति में विरोध तथा उत्प्रेक्षा का अङ्ग एवं अङ्गीभाव स्पष्ट हो जाता है।

समास—प्रतीपभूपैः = प्रतीपाः भूपाः इति प्रतीपभूपाः तैः। **अमित्र-जित्** = अमित्रान् जयतीति अमित्रजित्। **मित्रजित्** = मित्रान् जयतीति मित्रजित्। **विचारदृक्** = विचारेण पश्यतीति विचारदृक्। **चारदृक्** = चारैः पश्यतीति चारदृक्।

टिप्पणियाँ—प्रतीपभूपैः = प्रतिकूल अथवा विरुद्ध राजाओं के सदृश। **विरुद्धधर्मैः** = विपरीत अथवा विरुद्ध धर्मों अथवा स्वभावों ने भी। **अमित्र-जित्** = (१) मित्र अर्थात् सूर्य पर विजय प्राप्त न करने वाला। (२) अमित्र अर्थात् शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला। **मित्रजित्** = सूर्य पर भी अपने तेज से विजयी। **विचारदृक्** = (१) दूतों द्वारा अन्य राजाओं अथवा प्रजा के समाचारों को न जानने वाला। (२) विचारपूर्वक अन्य राजाओं तथा प्रजा के समाचारों को जानने वाला। **चारदृक्** = दूतों द्वारा प्रजा या अन्य राजाओं के कार्यों का द्रष्टा। **अवर्त्तत्** = था।

प्रसङ्ग—राजा नल अपने प्रताप में सूर्य से भी अधिक तथा अपने शुभ्रयश में चन्द्रमा की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ था—

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात् तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥ १४ ॥

म०—तदिति । तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः तस्य, तथा तस्य नलस्य यशः तस्य, स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा कुरुते विवेचयतीत्यर्थः, विधिः तदा तदा परिवेषः परिधिः 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एव कैतवं छलं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलनाम् अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति अधिकाक्षर-वर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः । विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्त्तिप्रतापौ इति तात्प-र्य्यम् । अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृतं प्रतिषिद्ध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति'रिति । प्राचीनास्तु परिवेषमिषेण सूर्य्याचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा । सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः ॥ १४ ॥

अन्वय—यदा यदा विधिः तदोजसः तद्यशसः स्थितौ इमौ वृथा इति चित्ते कुरुते, तदा [विधिः] परिवेषकैतवाद् भानोः विधोः अपि कुण्डलनां तनोति ।

संस्कृत-व्याख्या—यदा यदा, विधिः = ब्रह्मा, तदोजसः = तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः तस्य, [तथा] तद्यशसः = तस्य नलस्य यशः तस्य, स्थितौ = सत्तायाम्, इमौ = भानुविधू, वृथा = निरर्थकौ, इति = एवम्, चित्ते = मनसि, कुरुते = विवेचयति, विवेचना करोति, तदा [तदा], विधिः = ब्रह्मा, परिवेषकैतवात् = परिवेषः परिधिः एव कैतवं छलं तस्मात्, भानोः = सूर्यस्य, विधोः अपि = चन्द्रस्य च, कुण्डलनाम् = अतिरिक्ततासूचकवेष्टन-मित्यर्थः, तनोति = विस्तारयति—करोतीति भावः । विजितचन्द्रसूर्यौ अस्य (नलस्य) कीर्तिप्रतापौ इति तात्पर्यम् ।

हिन्दी-अनुवाद—यदा यदा = जब जब, विधिः = ब्रह्मा, तदोजसः = उस राजा नल के प्रताप के, [तथा] तद्यशसः = उस राजा नल की कीर्ति के, स्थितौ = विद्यमान रहने पर, इमौ = इन सूर्य और चन्द्र दोनों की स्थिति, वृथा = निरर्थक है, इति = ऐसा, चित्ते = अपने मन में, कुरुते = सोचते हैं, तदा-तदा = तब तब, विधिः = ब्रह्मा, परिवेषकैतवाद् = [कभी २ सूर्य और

चन्द्रमा के चारों ओर दृष्टिगोचर होने वाले] घेरे के बहाने से, भानोः = सूर्य के, विधोः अपि = और चन्द्रमा के, चारों ओर, कुण्डलनाम् = कुण्डली [चारों ओर खींचा जाने वाला घेरा], तनोति = बना देते हैं।

भावार्थ—जब जब ब्रह्मा उस राजा नल के प्रताप और यश के आधिक्य की दृष्टि से सूर्य तथा चन्द्रमा की स्थिति को व्यर्थ समझने लगते हैं तब तब इन [सूर्य और चन्द्र] दोनों के चारों ओर व्यर्थतासूचक घेरा बना दिया करते हैं। कभी कभी सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर धुँधले से प्रकाश का एक वर्त्तुलाकार घेरा सा दिखलाई पड़ा करता है। इसे परिवेष अथवा परिधि नाम से कहा जाता है। राजा नल सूर्य के सदृश तेजस्वी हैं और उनका निर्मल यश चन्द्रमा के समान शुभ्र [निर्मल एवं स्वच्छ] है। अतः कवि द्वारा यह कल्पना की जाती है कि जब भी ब्रह्मा के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि नल के तेज और यश के विद्यमान रहते हुये सूर्य और चन्द्र की स्थिति व्यर्थ है तो वह परिवेश [वर्त्तुलाकार घेरा] के बहाने से उन दोनों [सूर्य और चन्द्र] की निरर्थकता को सूचित करने के लिये उनके चारों ओर वर्त्तुलाकार घेरा बना दिया करते हैं। लोक में भी पहले ऐसा हुआ करता था कि लिखते समय यदि कोई शब्द व्यर्थ हो जाया करता था तो लेखक उसकी व्यर्थता सूचित करने के लिये उसके चारों ओर घेरा खींच दिया करते थे।

अलङ्कार—सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर इस प्रकार के वर्त्तुलाकार घेरे का होना प्राकृतिक है किन्तु प्रकृत परिवेष का निषेधकर अप्रकृत कुण्डलना की स्थापना [ब्रह्मा द्वारा] किये जाने से यहाँ "अपह्नुति" अलङ्कार बनता है। लक्षण—प्रकृतं प्रतिषिद्ध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरिति—साहित्यदर्पणः]। राजा नल के प्रताप तथा यश को सूर्य और चन्द्र की अपेक्षा अधिक समझकर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा को सूर्य और चन्द्र को घेर कर उनकी व्यर्थता को स्वीकार करने रूप संभावना किये जाने की दृष्टि से यहाँ "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

समास—**तदोजसः** = तस्य ओजः, तदोजः तस्य। **तद्यशसः** = तस्य यशः इति तद्यशः तस्य। **परिवेषकैतवात्** = परिवेषः एव कैतवम् परिवेषकैतवम् तस्मात्।

टिप्पणियाँ—**तदोजसः** = उस राजा नल के तेज अथवा प्रताप के—राजानल का प्रताप अथवा तेज सूर्य के तेज की अपेक्षा कहीं अधिक देदीप्यमान था जो कि समस्त दिशाओं के अन्तराल भागों तक फैला हुआ था।

दिन के चौबीस घंटों में सूर्य का प्रकाश समस्त पृथ्वी पर एक सा नहीं रहा करता है। पृथ्वी के आधे भाग पर कुछ काल पर्यन्त रहा करता है तथा पुनः शेष आधे भाग पर। किन्तु राजानल के तेज से सम्पूर्ण पृथ्वी एक ही रूप में दीप्तिमान् थी। **तद्यशसः** = उस राजा नल की शुभ्र अर्थात् निर्दोष और निर्मल कीर्ति के। चन्द्रमा में कलङ्क भी विद्यमान है अतएव उसे सदोष तथा पूर्णतया निर्मल भी नहीं कहा जा सकता है। किन्तु राजा नल का यश पूर्णतया दोषविहीन और निर्मल था। अतः राजानल तेज एवं यश की दृष्टियों से सूर्य एवं चन्द्रमा से कहीं अधिक प्रतापी (तेजस्वी) तथा यशस्वी थे। **परिवेषकैतवात्** = सूर्य तथा चन्द्रमा के गोले के चारों ओर कभी कभी वर्त्तुलाकार रूप में हलके प्रकाश से युक्त एक घेरा सा दृष्टिगोचर हुआ करता है। इसी का नाम "परिवेष" है। "परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले" ॥ इत्यमरः ॥ इस परिवेष के बहाने से मानो विधाता द्वारा यही प्रकट किया जाता है कि राजा नल के तेज और यश की अपेक्षा सूर्य और चन्द्र दोनों ही हीन हैं और वे दोनों निरर्थक भी हैं। अतः विधाता इन दोनों पदार्थों को निरर्थक समझकर उसके चारों ओर एक निरर्थकता सूचक घेरा बना देता है। **कुण्डलनाम्** = कुण्डलाकार गोल-गोल घेरा।

प्रसङ्ग—राजानल की दानवीरता का वर्णन करते हुये महाकवि लिखते हैं कि उनके राज्य में कोई भी दरिद्र अथवा निर्धन व्यक्ति नहीं था क्योंकि राजा नल याचकों की इच्छा से भी कहीं अधिक दान देनेवाले थे—

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः॥१५॥

म०—अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति—अयमिति विभज्येति च। अल्पितः अल्पीकृतः निर्जित इति यावत्, दानशौण्डत्वादिति भावः, कल्पपादपः अल्पतरुः वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतः स नृपः दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्यः प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः। अयं दरिद्रः अभाववानिति यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतीं दीप्यमानामिति यावत्, वेधसः इयं वैधसी तां लिपिं मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान्। विधातुर्लिपौ सामान्यतः दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथार्थं

धनदरिद्रः, पापदरिद्रः, ज्ञानदरिद्र इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥१५॥

अन्वय—अल्पितकल्पपादपः नृपः दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय "अयं दरिद्रो भविता" इति अर्थिजनस्य ललाटे जाग्रतीं वैधसीं लिपिं मृषा न चक्रे ?

संस्कृत-व्याख्या—अल्पितकल्पपादपः = अल्पितः अल्पीकृतः (निर्जितः इति भावः) तुच्छीकृतः वा कल्पपादपः वाञ्छितफलप्रदकल्पवृक्षः येन तथाभूतः, नृपः=राजा नलः, दारिद्र्यदरिद्रताम्=दारिद्र्यस्य अभावस्य धनाभावस्य वा [निर्धनत्वस्य इत्यभिप्रायः] दरिद्रतां अभावम् , प्रणीय=कृत्वा—दरिद्रेभ्यः प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्र्यं अपनीय–इतिभावः, अयम्, दरिद्रः=अभाववान् इति, भविता, इति, अर्थिजनस्य=याचकपुरुषस्य, ललाटे=मस्तके, जाग्रतीम्= दीप्यमानामिति यावत्, वैधसीम्=वेधसः ब्रह्मणः इयं इति वैधसीं ब्रह्मसम्बन्धिनीं ब्रह्मणा लिखितां वा, लिपिम् , मृषा=मिथ्या, न चक्रे = न कृतवान् ? अपितु मिथ्या कृतवानेवेतिभावः। ब्रह्मणः लिपौ सामान्यतः दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्रः, पापदरिद्रः, ज्ञानदरिद्र इत्यादि प्रयोग दर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा नलः दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इत्यभिप्रायः।

हिन्दी-अनुवाद—अल्पितकल्पपादपः = [अत्यधिक दानदाता होने के कारण] कल्पवृक्ष को भी तुच्छ कर देने वाले, नृपः=राजा नल ने, दारिद्र्यदरिद्रताम्=याचकों की धनाभावरूप अथवा निर्धनतारूप दरिद्रता की भी दरिद्रता अर्थात् अभाव को, प्रणीय = करके, अयम् = यह, दरिदः = निर्धन, भविता = होगा, इति = इस प्रकार, अर्थिजनस्य = याचकपुरुषों के, ललाटे = मस्तकपर, जाग्रतीम् = चमकती हुयी, वैधसीम् = ब्रह्मा [विधाता] द्वारा लिखित, लिपिम् = लिपि को, मृषा = मिथ्या अथवा असत्य, न चक्रे = नहीं किया ? अर्थात् मिथ्या कर ही दिया।

भावार्थ—"यह [व्यक्ति] दरिद्र [निर्धन] होगा" इस प्रकार की याचक लोगों के मस्तकों पर ब्रह्मा द्वारा लिखी गयी अथवा अंकित की गयी लिपि को, याचकों को उनकी याचना से भी अधिक दान देने वाले होने के कारण कल्पवृक्ष को अपनी दानशीलता द्वारा नीचा दिखला देने वाले राजा नल ने याचकों की निर्धनता का पूर्ण रूपेण अभाव करके, क्या असत्य नहीं कर दिया ? अर्थात् ब्रह्मा द्वारा याचकों के मस्तकों पर लिखी गयी "यह दरिद्र

होगा" इस लिपि को राजा नल ने पूर्णतया असत्य सिद्ध कर ही दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि राजानल ने याचकों को माँग से कहीं अधिक दान देकर उनकी निर्धनता को सदैव के लिये दूर कर दिया। अतएव उनके राज्य में निर्धन अथवा दरिद्र कहा जाने वाला व्यक्ति नाममात्र के लिये भी विद्यमान न था। प्रत्येक व्यक्ति धनधान्य से परिपूर्ण तथा सुखी था।

व्याकरण—वैधसीम् = वेधस् + अण् + ङीप्। **अल्पित** = अल्प + णिच् (नामधातु) + क्त।

समास—अल्पितकल्पपादपः = अल्पितः तुच्छीकृतः कल्पपादपः कल्पवृक्षः येन सः। **दारिद्र्यदरिद्रताम्** = दरिद्रस्य भावः दारिद्र्यम्—तस्य दरिद्रतां इति दारिद्र्यदरिद्रताम्। **वैधसीम्** = वेधसः इयं—वैधसीम्।

टिप्पणियाँ—अल्पितकल्पपादम् = [दानशीलता में] तुच्छ कर दिया है [अथवा नीचा दिखला दिया है] कल्पवृक्ष को भी जिसने। कल्पवृक्ष को स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ वृक्ष माना गया है। इसकी विशेषता यह है कि यह वृक्ष अभिलषित फल को प्रदान करने वाला होता है। अपनी इच्छा के अनुसार इस वृक्ष से जो कुछ भी माँगा जाय उसकी प्राप्ति याचक को अवश्य हो जाया करती है। किन्तु राजा नल की यह विशेषता थी कि वे याचक के द्वारा माँगी गयी राशि से कहीं अधिक दे देने वाले थे। कल्पवृक्ष में तो यह है कि जितना माँगो उतना ही मिलता है। अतः राजा नल ने दानशीलता में कल्पवृक्ष को भी जीत लिया था। **दारिद्र्यदरिद्रताम्** = दरिद्रता की दरिद्रता को—धनाभाव के अभाव को—**अथवा**—निर्धनता के अभाव को। दारिद्र्य और दरिद्रता दोनों ही शब्द समानार्थक हैं। किन्तु इस स्थल पर "दारिद्र्य" शब्द "धनाभावरूप" विशिष्ट अभाव के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है तथा "दरिद्रता" शब्द "सामान्य—अभाव" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राजानल द्वारा याचकों को इतना अधिक धन दान में दिया गया कि उनकी धन की दरिद्रता सदा के लिये दूर हो गयी अर्थात् उनमें धन की दरिद्रता की दरिद्रता आ गयी—अर्थात् धन के अभाव का अभाव आ गया। और इस प्रकार "अयं दरिद्रो भविता = यह दरिद्र अथवा निर्धन ही रहेगा"—विधाता द्वारा लोगों के मस्तकों पर लिखी गयी लिपि सदा के लिये असत्य सिद्ध हो गयी। **वैधसीम्** = विधाता से सम्बन्धित। अर्थात् उस व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्मों के आधार पर निर्णीत ब्रह्मा का आदेश। **जाग्रतीम्** = दीप्तिमान्। चमकती हुयी।

लिपिं = जो कि याचक व्यक्ति के मस्तक पर भाग्य की रेखा के रूप में अंकित थी—ऐसी लिपि । **मृषा** = झूठ, असत्य, मिथ्या, गलत ।

प्रसङ्ग—उस राजा नल ने अपने सिरपर दो भागों में विभक्त अपने केशसमूह को अपने दो अपयशों के रूप में माना । ये दो प्रकार के अपयश निम्नलिखित थे—

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरस्थितम् ॥ १६॥

म०—विभज्येति । मेरुः हेमाद्रिः विभज्य विभक्तीकृत्य अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः न कृतः । अर्थिने देयमिति 'देये त्रा चे'ति सातिप्रत्ययः । सिन्धुः समुद्रः उत्सर्गजलानां व्ययैः दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृतः इति यत् तत् तस्मात् तेन नलेन द्विफालबद्धाः द्वयोः फालयोः शिरःपार्श्वयोः बद्धा रचिता इति यावत्, फलतेर्विशरणार्थे अप्प्रत्ययः । विलासिनां पुंसां सीमन्तितशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफालबद्धत्वमिति भावः, द्विधा विभक्ता इति यावत् । चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुह' इत्यमरः । शिरःस्थितं मस्तकधृतमिति भावः, निजं स्वीयम् अयशोयुगम् अपकीर्त्तिद्वयं पूर्वोक्त मेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः । अमानि केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति अमन्यत इत्यर्थः । अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णनं कविसमयसिद्धम् 'तथा च मालिन्यं व्योम्नि पापे' इत्यादि । उद्देश्यविधेयरूपं कर्मद्वयम् । केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अयशोरूपणमिति व्यस्तरूपकम् ॥ १६ ॥

अन्वय—यत् मेरुः विभज्य अर्थिसात् न कृतः, सिन्धुः उत्सर्गजलव्ययैः मरुः [न कृतः], तत् तेन द्विफालबद्धाः चिकुराः शिरस्थितं निजायशोयुगं अमानि ।

संस्कृत-व्याख्या—यत् = यतः, मेरुः = हेमाद्रिः, विभज्य = विभक्तीकृत्य, अर्थिसात् = अर्थिभ्यः याचकेभ्यः देयः, न कृतः; सिन्धुः = समुद्रः, उत्सर्गजलव्ययैः दानजलप्रक्षेपैः, मरुः = निर्जलदेशः, न कृतः; इति, तत् = तस्मात्, तेन = नलेन, द्विफालबद्धाः = द्वयोः फालयोः शिरःपार्श्वयोः बद्धाः रचिताः [द्विधा विभक्ताः=इति भावः], चिकुराः = केशाः, शिरस्थितम् = मस्तकधृतम्—इति-भावः, निजायशोयुगम् = निजं स्वकीयं अयशोयुगं अपकीर्तिद्वयम्—पूर्वोक्तमेरु

विभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः, अमानि = केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अपकीर्तिद्वयमेव तिष्ठति—इति अमन्यत ।

हिन्दी-अनुवाद—यत् = क्योंकि, [मैंने], मेरुः = सुमेरुपर्वत को, विभज्य = विभक्तकर, अर्थिसात् = याचकों को, न कृतः = नहीं दे दिया, और, सिन्धुः = समुद्र को, उत्सर्गजलव्ययैः = दान देते समय संकल्पजल से, मरुः = निर्जल अथवा मरुस्थल [रेगिस्तान], न कृतः = नहीं बना दिया; इति तत् = इससे [इन उपर्युक्त दोनों कारणों से], तेन = उस राजा नल ने, द्विफालबद्धाः = दो भागों में विभक्तकर बँधे हुये, चिकुराः = अपने केश समूह को, शिरःस्थितम् = अपने सिर पर स्थित, निजायशोयुगम् = अपने दो अपयश [दो प्रकार की अपकीर्तियाँ], अमानि = माना [समझा]।

भावार्थ—[महाकवि द्वारा प्रकारान्तर से राजा नल की दानवीरता का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है] राजा नल अपने मन में सोच रहे हैं कि मैंने स्वर्णराशि के रूप में विद्यमान सुमेरु पर्वत को टुकड़े २ कर याचकों के लिये दान के रूप में नहीं दे दिया और दान देते समय पुरोहित द्वारा संकल्प पढ़े जाने के अनन्तर छिड़के जाने वाले जल के रूप में मैंने समुद्र के जल को व्ययकर उसे मरुस्थल नहीं बना दिया। अतएव मेरे जीवन के यही दोनों अपयश ही मेरे सिर पर स्थित दो भागों में बँटे हुये केशसमूह के रूप में विद्यमान हैं।

केशों का वर्ण काला होता है। कविसम्प्रदाय में अयश अथवा अपकीर्ति का वर्ण भी काला ही माना गया है। अतः कवि द्वारा यह कल्पना की गयी है कि राजा नल के दो अपयश थे—(१) याचकों को दान में देकर मेरु पर्वत को व्यय न कर देना। (२) दान देते समय पढ़े जाने वाले संकल्प के पश्चात् जल को व्ययकर समुद्र को सुखाकर मरुस्थल न बना देना। राजा द्वारा अपने इन दो अपयशों को स्वीकार किये जाने से यह ध्वनि स्पष्ट होती है कि राजा नल महान् दानी थे तथा उनके पास इतना प्रचुर धन दान देने के लिये था कि उनको मेरु पर्वत को विभक्तकर दान में देने की आवश्यकता ही न पड़ी। याचक लोग राजा के पास जब माँगने आते थे तो राजा उनको उनकी माँग से इतना अधिक दान दे देते थे कि जिससे उनको जीवन-पर्यन्त राजा के पास आकर याचना न करनी पड़े। इस भाँति उनके राज्य में कोई भी याचक शेष नहीं रह गया था कि जिसकी निर्धनता समाप्त न हो चुकी

हो ऐसी दशा में कोई माँगने वाला याचक राजा के पास आने के लिये अवशिष्ट नहीं रह गया। फिर मेरुपर्वत के टुकड़े २ कर दान देने आदि का प्रश्न ही नहीं उठता।

[इस भाँति उपर्युक्त वर्णन से राजा नल का अत्यधिक दानशील एवं दयालु होना स्पष्ट हो जाता है।

अलङ्कार—यहाँ कृष्णवर्ण के केशों में कृष्णवर्ण के अपयश होने का आरोप किया गया है। अतः उक्त पद्य में "रूपक" अलङ्कार है।

व्याकरण—अर्थिसात् = यहाँ 'अर्थिने देयम्' इस अर्थ में "अर्थिसात् कृतः" की दृष्टि से कृ धातु के योग में 'अर्थिन्' शब्द के आगे "देये त्रा च" से साति प्रत्यय हुआ है। **फालबद्धाः** = 'फल्' धातु से विशरण अर्थ में 'अप्' प्रत्यय हुआ है। **अमानि** = √मन् (दिवादिगणी) + कर्मवाच्य लुङ् लकार।

समास—द्विफालबद्धाः = द्वयोः फालयोः (शिरःपार्श्वयोः) बद्धाः (रचिताः) इति। **निजायशोयुगम्** = निजं अयशसः युगम्—इति।

टिप्पणियाँ—अर्थिसात्कृतः = अर्थिभ्यो देयः कृतः इति—याचकों के लिये दिया जाना—किया। अर्थात् याचकों को दिया। **उत्सर्गजलव्ययैः** = दान करते समय संकल्पजल के रूप में खर्च किये जाने के द्वारा। जब यजमान किसी भी पदार्थ का दान किया करता है तो उस समय पुरोहित द्वारा संकल्प पढ़ कर जल हाथ में दिया जाता है। फिर उस जल को उस पदार्थ के ऊपर छिड़क दिया जाया करता है तदनन्तर वह पदार्थ देय होता है। राजा नल रातदिन दान करते रहते और पुरोहित संकल्प पढ़ पढ़ कर उनसे समुद्र का जल छिड़कवा छिड़कवा कर दान दिलवाते रहते। इस भाँति समुद्र का जल समाप्त हो जाता और वह मरुस्थल (रेगिस्तान) का रूप धारण कर लेता। **द्विफालबद्धाः** = सिर के दो पार्श्वों में बँधे हुये। अर्थात् जिस राजा नल के केश मध्यभाग से दोनों ओर के भागों में समानरूप से विभक्त होकर कढ़े हुये थे। यह 'चिकुराः' का विशेषण है। **चिकुराः** = केश, बाल (चिकुरःकुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः इत्यमरः)। **निजायशोयुगम्** = अपने दो अपयश। (१) सुमेरुपर्वत को टुकड़ों में विभक्तकर दान में न दे सकना तथा (२) दान देते समय संकल्प जल के रूप में समुद्र के जल को व्ययकर उसको न सुखा सकना रूप दो अपयश। राजा नल अपने सिर पर स्थित दो भागों में

विभक्त अपने केशसमूह को इन दोनों अपयशों के रूप में मानते थे अथवा समझते थे। अमानि = माना अथवा समझा।

प्रसङ्ग—राजा नल सदैव अपना समय कवि तथा विद्वानों के साथ व्यतीत किया करते थे। वे इन लोगों के सत्संग में रहकर सदैव हर्ष का अनुभव किया करते थे—

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥ १७॥

म०—अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—अजस्रमिति। दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः पटीयान् समर्थतरः अयं देवो राजा सूर्यश्च 'देवः सूर्ये यमे राज्ञी'ति विश्वः। अजस्रं सततम् अभ्यासं सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति निपातः। कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण बुधेन च विदुषा धर्मशास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन च समं सह मुदैव आनन्देनैव न तु दुःखेनेत्येवकारार्थः समयं नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिदिनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भावञ्च दधौ धारयामास। अत्र श्लेषालङ्कारः॥ १७॥

अन्वय—दिनेश्वरश्रीः पटीयान् अयं देवः अजस्रं अभ्यासं उपेयुषा कविना बुधेन च समं मुदा एव समयं नयन् दिने दिने उदयं दधौ।

संस्कृत-व्याख्या—दिनेश्वरश्रीः = दिनेश्वरस्य सूर्यस्य श्री इव श्रीः यस्य, ऐतादृशः (नलः) अथवा दिने ईश्वरस्य इव श्रीः यस्य तथाभूतः (नलः), पटीयान् = समर्थतरः, अयम् देवः = राजा नलः सूर्यश्च ("देवः सूर्ये यमे राज्ञि"—इति विश्वः), अजस्रम् = सततम्—निरन्तरं वा, अभ्यासम् = सान्निध्यम्, उपेयुषा = प्राप्तवता (सहचारिणा—इति भावः), कविना = काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन—शुक्रेणवा, बुधेन च=विदुषा—धर्मशास्त्रादिदर्शिना—इति भावः, सौम्येन च, समम् = सार्धम्, मुदा एव = आनन्देन एव [—न तु दुःखेन—इति 'एव' इत्यस्यार्थः], समयम् = कालम्, नयन् = अतिवाहयन्, दिने दिने = प्रतिदिनम्, उदयम् = उन्नतिम्, आविर्भावञ्च, दधौ = धारयामास।

हिन्दी-अनुवाद—दिनेश्वर श्रीः—दिनेश्वर अर्थात् सूर्य की कान्ति के सदृश कान्तिमान् अथवा तेजस्वी, पटीयान् = अत्यधिक समर्थ, अयं देवः = यह राजा तथा सूर्य, अजस्रम् = निरन्तर, अभ्यासम् = सामीप्य अथवा समीपता को, उपेयुषा = प्राप्त करने वाले—अथवा—साथ में रहते वाले, कविना =

कवि अथवा काव्यशास्त्र के ज्ञाता और बुधेन = विद्वान् पुरुषों के [सूर्य पक्ष में—कवि अर्थात् शुक्र और बुध नामक दो ग्रहों के] समम् = साथ मुदा एव = प्रसन्नता पूर्वक, समयं नयन् = समय को व्यतीत करते हुये, दिने दिने= प्रतिदिन, उदयम् = उन्नति अथवा अभ्युदय को, दधौ = धारण करता था।

भावार्थ—जिस प्रकार दिन में ईश्वर के सदृश कान्ति को धारण करने वाला, अन्धकार दूर करने में अत्यधिक समर्थ, यह देव सूर्य, सर्वदा समीप में स्थित रहने वाले, कवि (शुक्र) और बुध नामक दो ग्रहों के साथ, प्रतिदिन उदय (निकलने) को धारण करने वाला है उसी प्रकार सूर्य की कान्ति के समान कान्ति को धारण करने वाला अर्थात् तेजस्वी और अपने विरोधी अथवा विपक्षी राजाओं को नीचा दिखलाने में पूर्णतया समर्थ, ये राजा नल भी निरन्तर समीप में विद्यमान रहने वाले काव्यशास्त्र के ज्ञाता पण्डितों तथा विद्वानों के साथ प्रसन्नतापूर्वक समय को व्यतीत करते हुये प्रतिदिन उन्नति को ही धारण किया करते थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस भाँति सूर्य शुक्र तथा बुध ग्रहों के साथ रहते हुये प्रतिदिन उदित होता है उसी भाँति राजानल भी निरन्तर कवियों और विद्वानों के साथ रहकर प्रसन्नतापूर्वक अपने समय को व्यतीत करते हुये प्रति दिन उन्नति को ही प्राप्त करता था।

अलङ्कार—इस श्लोक में दिनेश्वरश्री, देवः, कविना, बुधेन तथा उदयम् शब्दों के श्लेष की दृष्टि से दो-दो अर्थ हैं। अतः उक्त पद्य में श्लेष अलङ्कार है। तथा श्लेषमूलक शब्द-साम्य से उत्पन्न सादृश्य के कारण यहाँ "उपमा" अलङ्कार भी हो सकता है।

समास—दिनेश्वरश्रीः = दिनेश्वरस्य श्री इव श्रीर्यस्य सः। अथवा—दिने ईश्वरस्य इव श्रीः यस्य तथाभूतः।

टिप्पणियाँ—दिनेश्वरश्रीः = (१) दिन का स्वामी अर्थात् सूर्य की कान्ति के समान कान्तिमान् अथवा तेजस्वी। (२) दिन में ईश्वर के सदृश है शोभा जिसकी ऐसा। **पटीयान्**=अत्यधिक समर्थ, शक्तिशाली, सामर्थ्यवान्, **देवः** = दिव्यगुणों से युक्त राजा तथा सूर्य [देवः सूर्ये यमे राज्ञीति विश्वः।], **अभ्यासम्** = सामीप्य अथवा समीपता। **उपेयुषा** = प्राप्त करने वाले अथवा प्राप्त किये हुये। **कविना** = (१) काव्यशास्त्र को जानने वाले पण्डित। (२) शुक्र नामक ग्रह। **बुधेन** = (१) बुद्धिमान्, विद्वान् (२) बुध

नामक ग्रह। **मुदा एव** = प्रसन्नता के साथ ही। यहाँ पर 'एव' का अर्थ यही है—"लेशमात्र भी दुःख के साथ नहीं, अपितु पूर्ण आनन्द के साथ।" **उदयम्** = (१) उन्नति को (२) आविर्भाव को—निकलने को—उदित होने को। **दधौ** = धारण करता था।

प्रसङ्ग—सामुद्रिक लक्षणों के अनुसार राजा नल के चरणों में ऊपर की ओर जाने वाली सर्वोत्कृष्टता की सूचक रेखायें विद्यमान थीं—

अधोविधानात् कमलप्रवालयोः, शिरस्सु दानादखिलक्ष्माभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥१८॥

म०—अध इति। कमलप्रवालयोः पद्मपल्लवयोः कर्मभूतयोः अधोविधानात् अधः करणात् न्यक्करणादिति यावत्। तथा अखिलानां सर्वेषां क्षमाभुजां प्रतिकूलवर्त्तिनां राज्ञां शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् ऊर्ध्वस्थितञ्च पुरा भवति भविष्यतीत्यर्थः। 'यावत् पुरानिपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट्। इति इदं मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम्? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि'ति सामुद्रिकाः। सौन्दर्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः॥ १८॥

अन्वय—कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलक्षमाभुजां शिरस्सुदानात् "इदं पुरा ऊर्ध्वं भवति" इति वेधसा अस्य पदं किं ऊर्ध्वरेखया अङ्कितम्?

संस्कृत-व्याख्या—कमलप्रवालयोः = पद्मपल्लवयोः कर्म्मभूतयोः, अधोविधानात् = अधःकरणात्—न्यक्करणात्—इत्यभिप्रायः, अखिलक्षमाभुजाम् = अखिलानां सर्वेषां क्षमाभुजाम् प्रतिकूलवर्तिनां राज्ञां, शिरःसु, दानात् = विधानात्, "इदम् = अस्य नलस्य पदम्, पुरा, ऊर्ध्वम् = उत्कृष्टं ऊर्ध्वस्थितं च, भवति = भविष्यति—इत्यर्थः", इति = इदं मत्वा इति शेषः, वेधसा = विधात्रा, अस्य = नलस्य, पदम्, किम्, ऊर्ध्वरेखया, अङ्कितम्=चिह्नितम्? सौन्दर्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः॥

हिन्दी-अनुवाद—[यह राजा नल का चरण] कमलप्रवालयोः = [शोभा में] कमल तथा प्रवाल को [मूँगा अथवा नवीन पल्लव को], अधोविधानात् = नीचा करने [सौन्दर्य के द्वारा तिरस्कृत करने] से, अखिलक्षमाभुजाम् = सम्पूर्ण पृथ्वीपतियों (राजाओं) के, शिरःसु दानात् = सिरों पर

रखे जाने से, "इदं पुरा ऊर्ध्वं भवति" = "यह आगे चलकर ऊँचा [उन्नत] होगा", इति = ऐसा सोचकर, वेधसा = ब्रह्मा ने, अस्य = इस राजा नल के, पदम् = चरण को, [उनके उत्पन्न होने से पूर्व ही], किम् = क्या ऊर्ध्व-रेखया = ऊर्ध्वगामिनी रेखा से, अङ्कितम् = चिह्नित कर दिया है ? कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल के चरण सौन्दर्य तथा शुभ लक्षणों से युक्त थे।

भावार्थ—[महाकवि द्वारा राजा नल के सामुद्रिक लक्षणों का वर्णन उक्त पद्य में किया गया है।] सामुद्रिक शास्त्र में कहा गया है कि जिसके चरण में ऊर्ध्व रेखा हुआ करती है वह सर्वोत्तम व्यक्ति हुआ करता है ["ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि"ति सामुद्रिकाः] राजा नल ने अपने चरण के सौन्दर्य से कमल तथा पल्लव पर विजय प्राप्त कर ली है और अपने शत्रु राजाओं के ऊँचे उठे हुये सिरों पर अपना पैर रखा है अर्थात् उन पर भी विजय प्राप्त कर ली है। अतः उनका चरण कमल तथा पल्लव की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ तथा राजाओं के सिर पर भी विराजमान है। अतएव कवि द्वारा यहाँ यह कल्पना की गयी है कि कदाचित् ब्रह्मा ने यह समझ कर कि आने वाले भविष्य में राजा नल का चरण ऊर्ध्वस्थित होगा; उसे सर्वोत्कृष्टता-सम्बन्धी ऊर्ध्वरेखा से अंकित किया है।

व्याकरण—पुराभवति = यहाँ पर 'भवति' का प्रयोग 'भविष्यति' के रूप में हुआ है। इस स्थल पर "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्र के आधार पर "पुरा" निपात के योग में भविष्यत्काल में "लट्" लकार का प्रयोग हुआ है।

समास—अखिलक्ष्माभुजाम् = अखिलानां क्ष्माभुजाम् इति।

टिप्पणियाँ—प्रवाल = शब्द का अर्थ 'मूँगा' तथा 'नवीन पत्ता' (पल्लव) दोनों ही होते हैं। राजानल के चरणों की शोभा ने "मूँगे अथवा नव पल्लव" की शोभा को नीचा कर दिया था अर्थात् मूँगे अथवा नवपल्लव की शोभा की अपेक्षा राजा नल के चरण की शोभा अति उत्कृष्ट थी। **अधोविधानात्** = नीचा कर देने से—तिरस्कृत कर देने से—नीचा दिखला देने से। **शिरस्सुदानात्**=सिरों पर रखे जाने से। **"इदं पुरा ऊर्ध्वं भवति"**= यह [राजानल का चरण] आगे [भविष्य में] ऊँचा [सर्वोत्कृष्ट] होगा। राजा नल की उत्पत्ति से पूर्व ही ब्रह्मा ने यह समझ लिया था कि राजा नल पृथ्वी के समस्त राजाओं में सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होगा। [अतः उन्होंने राजा नल को उत्पन्न करते समय] **अस्यपदम्** = राजा नल के चरण को। **ऊर्ध्वरेखया**=

[सामुद्रिक लक्षणों के आधार पर सर्वोत्कृष्टता की सूचक] ऊर्ध्वरेखा से। अङ्कितम् = चिह्नित कर दिया ।

प्रसङ्ग—आगामी श्लोकों में राजा नल की युवावस्था के प्रारम्भ होने का क्रमिक वर्णन महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥ १९ ॥

म०—अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति—जगदित्यादिभिः । अयं नलः शैशवशेषवान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः । जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः । कोषं धनजातम् अक्षयं प्रणीतवान् कृतवान् । अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः वसन्त इत्यर्थः । वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आलिङ्गत् संश्लिष्टवत् । उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

अन्वय—शैशवशेषवान् अयं जगज्जयं तेन च कोशं अक्षयं प्रणीतवान् । अथ रतीशस्य सखा ऋतुः वनं यथा तथा यौवनं अस्य वपुः आलिङ्गत् ।

संस्कृत-व्याख्या—शैशवशेषवान् = ईषदवशिष्टशैशवावस्थायां एव, अयम् = नलः, जगज्जयम् = जगतां जयम् , तेन च—जयेन, कोशम् = धनजातम् , अक्षयम् = क्षयरहितं यथास्यात्तथा, प्रणीतवान् = कृतवान् । अथ = अनन्तरम् , रतीशस्य = कामस्य, सखा = मित्रम् , ऋतुः = वसन्त इत्यर्थः, वनं यथा, तथा = तेनैव प्रकारेण, यौवनम् = युवावस्था, अस्य = नलस्य, वपुः = शरीरम् , आलिङ्गत् = संश्लिष्टवत् । येन प्रकारेण वसन्तर्तुः वनस्य आलिङ्गनं करोति तथैव युवावस्था अपि नलस्य वपोः आलिङ्गनमकरोत्—इति भावः ।

हिन्दी-अनुवाद—शैशवशेषवान् = जिसकी कुछ बाल्यावस्था अभी शेष थी अर्थात् १५–१६ वर्ष की आयु वाले, अयम् = इस राजा नल ने, जगज्जयम् = संसार की विजय, तथा, तेन च = उससे, कोशम् = अपने खजाने को, अक्षयम् = विनाशरहित अर्थात् कभी नष्ट न होने वाला अथवा सदैव विद्यमान रहने वाला, प्रणीतवान् = कर दिया । अथ = इसके पश्चात् , रतीशस्य = कामदेव का, सखा = मित्र, ऋतुः = वसन्त, वनं यथा = जिस भाँति वन का आलिङ्गन (अथवा स्पर्श) किया करता है; तथा = उसी प्रकार से, यौवनम् = युवावस्था ने भी, अस्य = इस राजा नल के, वपुः = शरीर का, आलिङ्गत् = आलिङ्गन किया ।

भावार्थ—बाल्यावस्था पूरी होते होते ही राजा नल ने संसार पर विजय प्राप्त कर राज्य को शत्रु रहित बना लिया था और इस विजय से अपने खजाने को भी भरपूर (कभी समाप्त न होने वाला—अक्षय) बना दिया था [वास्तव में विश्व-विजय करना ही राजा नल का प्रधान लक्ष्य था। कोष की अक्षय पूर्ति करना तो उनका गौण कार्य था क्योंकि उनके कोष के अक्षय रहने तथा अत्यधिक दानवीर होने का वर्णन तो महाकवि द्वारा इससे पूर्व ही प्रस्तुत किया जा चुका है।]। युवावस्था के आजाने पर अर्थात् उसके प्रारम्भिक आगमनकाल के समय शारीरिक विकास में एक अनुपम सौन्दर्य का आ जाना स्वाभाविक ही हुआ करता है। वह सौन्दर्य युवावस्था के आगमन के समय राजा नल में उसी प्रकार से सुशोभित हो रहा था जैसे वसन्त ऋतु के आगमन-काल में वन का सौन्दर्य अत्युत्तम रूप से प्रस्फुटित हो जाया करता है।

अलङ्कार—उक्त पद्य में "उपमा" अलङ्कार पूर्णतया स्पष्ट ही है।

समास—**शैशवशेषवान्** = शिशोर्भावः शैशवं तस्य शेषः, सः अस्य अस्ति इति शैशवशेषवान्। **जगज्जयम्** = जगतां जयमिति।

टिप्पणियाँ—**शैशवशेषवान्** = जिसकी बाल्यावस्था नाममात्र को अवशिष्ट रह गयी थी। अर्थात् यह समय शैशवावस्था की समाप्ति का तथा शीघ्र ही युवावस्था के प्रारम्भ होने का है। लगभग १५–१६ वर्ष की आयु रही होगी। **जगज्जयम्** = सम्पूर्ण विश्व को जीत लिया था, और **तेन च** = उस (विजय) से। **अक्षयम्** = अक्षीण—अर्थात् कभी क्षीण न होने वाला। **यथा** = जिस प्रकार से। **रतीशस्य** = रति (कामदेव की स्त्री का नाम) का स्वामी (पति) अर्थात् कामदेव का। **सखा** = मित्र—वसन्त। **तथा** = उसी प्रकार से। **आलिङ्गत्** = आलिङ्गन किया अर्थात् युवावस्था ने राजा नल के शरीर का स्पर्श किया—अर्थात् राजा नल की युवावस्था का प्रारम्भिक समय अब प्रारम्भ हुआ।

प्रसङ्ग—युवावस्था का प्रारम्भ हो जाने पर राजा नल का शारीरिक सौन्दर्य अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप शारीरिक सौन्दर्य के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले सभी उपमान राजा नल के शारीरिक सौन्दर्य की समता को भी प्राप्त न कर सके—

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥२०॥

म०—अधारीति। तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः। अधारि धृता। पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शयः पाणिः 'पञ्चशाखः शयः पाणि'रित्यमरः। तस्य छाया तच्छयच्छायं 'विभाषे'त्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम्। तस्य लवो लेशोऽपि क्व? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः। शरदि भवः शारदः शरत्कालीन इत्यर्थः। सन्धिवेलाद्यृतु-नक्षत्रेभ्योऽण्प्रत्ययः। पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः। 'पार्वणे' ति पाठान्तरं कालाट्ठञ् 'नस्तद्धित' इति टिलोपः। स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः। अस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दास्ये कैङ्कर्येऽपि अधिकारितां न गतः न प्राप्तः। एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्यं व्यज्यते। अत्र अङ्घ्रया-दीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः अलङ्कारः ॥ २० ॥

अन्वय—तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अधारि, पल्लवे तच्छयच्छायलवोऽपि क्व? शारदः पार्विक शर्वरीश्वरः तदास्यदास्ये अपि अधिकारितां न गतः।

संस्कृत-व्याख्या—तदङ्घ्रिणा = तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन, पद्मेषु = कमलेषु, घृणा = अवज्ञा, अधारि = धृता। पल्लवे=नवकिसलये, तच्छयच्छायलवः अपि = तस्य नलस्य शयः पाणिः ["पञ्चशाखः शयः पाणिः"—इत्यमरः] तस्य छाया इति तच्छयच्छायं तस्य लवः लेशः अपि क्व? नैव लेशोऽस्ति—इत्यर्थः। शारदः = शरदि भवः शारदः—शरत्कालीन इत्यर्थः, पार्विकशर्वरीश्वरः = पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः, तदास्यदास्ये अपि = तस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दास्ये कैङ्कर्येऽपि, अधि-कारिताम् = योग्यताम्, न गतः = न प्राप्तः। एतेन अस्य नलस्य पाणिपाद-मुखानां अनौपम्यमेव ध्वन्यते।

हिन्दी-अनुवाद—तदङ्घ्रिणा = उस (राजा नल) के चरण ने, पद्मेषु= कमलों के प्रति, घृणा = घृणा का भाव, अधारि = धारण किया। पल्लवे = नवीन किसलय (पत्ता) में, तच्छयच्छायलवः अपि = उस (राजा नल) के हाथ की कान्ति का लेशमात्र भी, क्व = कहाँ? शारदः = शरद् ऋतु का, प्रार्विक शर्वरीश्वरः = पूर्णिमा का चन्द्रमा, तदास्यदास्ये अपि = उस (राजा नल) के मुख की दासता की भी, अधिकारिताम् = योग्यता को, न गतः = प्राप्त नहीं हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल के चरण कमल से, हाथ

नवपल्लव से तथा मुख शरत्कालीन पौर्णमासी के चन्द्रमा से भी कहीं अधिक सुन्दर तथा शोभाधारक थे।

भावार्थ—[इस पद्य में महाकवि द्वारा राजा नल के अतिशय सौन्दर्य का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।] उस राजा नल के चरण ने कमलों के प्रति घृणा की अथवा दया की [''घृणा जुगुप्साकृपयोरिति विश्वः]। क्योंकि उन कमलों में नल के चरण की शोभा विद्यमान थी—ये कमल नल-चरण में रेखारूप में स्थित थे—अतः ''इन कमलों ने मुझसे ही शोभा प्राप्त की होगी। इस कारण मेरी अपेक्षा हीनशोभावाले इन कमलों के साथ मेरे द्वारा स्पर्धा किया जाना उचित नहीं है''—यह समझकर नल-चरण ने कमलों से घृणा की अथवा ''ये कमल रेखारूप में मेरे शरीर या चरण में ही स्थित अर्थात् मेरे ही आश्रित हैं'' यह समझकर राजा नल के चरण ने कमलों पर दया की [अपने से हीन के साथ घृणा करना तथा अपने आश्रित पर दया करना नल-चरण के लिये उपयुक्त ही था।] नूतन किसलय [पल्लव] में उस [नल] के हाथ की कान्ति का लेश [थोड़ा सा अंश] भी कहाँ था। अर्थात् नहीं था। जिस किसलय में राजा नल के हाथ की कांति का लेशमात्र भी अंश विद्यमान नहीं था फिर वह किसलय इनके हाथ की शोभा की समता को कैसे प्राप्त कर सकता था? तथा शरत्कालीन पूर्णिमा का चन्द्रमा उस राजा नल के मुख के दासत्व का अधिकारी भी नहीं हुआ। फिर ऐसी स्थिति में उसकी समता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता—क्योंकि चन्द्रमा शरत्काल एवं पूर्णिमा के योग से रमणीयता को प्राप्त हुआ था और वह भी केवल एक दिन के लिये ही। इसके अतिरिक्त वह चन्द्रमा १६ सोलह कलाओं से ही युक्त था। जब कि राजा नल का मुख स्वतः ही [अर्थात् बिना किसी की सहायता के योग को प्राप्त किये हुये] सदा के लिये रमणीय तथा चौंसठ कलाओं से युक्त था। ऐसी स्थिति में चन्द्रमा द्वारा नल-मुख की समानता प्राप्त कर सकना नितान्त असंभव ही था। अतः चन्द्रमा का उसके मुख की दासता प्राप्त करने की योग्यता भी प्राप्त न कर सकना उचित ही है [क्योंकि रमणीयतम नायक के लिये दास का रमणीय होना भी आवश्यक है।]

अलङ्कार—अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा = इस स्थल पर असम्बन्ध में सम्बन्ध का कथन किये जाने से ''अतिशयोक्ति'' अलङ्कार है। यहाँ चरण द्वारा कमल के प्रति घृणा किये जाने का वर्णन किया गया है जिसका चरण में होना असंभव है।

"उक्त श्लोक में राजा नल के चरण, हाथ और मुख को क्रमशः कमल, पल्लव तथा चन्द्रमा से [जो सभी उपमान की श्रेणी में आते हैं] कहीं अधिक श्रेष्ठ तथा बढ़कर बतलाया गया है। अतएव इसमें 'व्यतिरेक' अलङ्कार भी है।

व्याकरण—तच्छयच्छायलवः—इसमें तत्पुरुष समास है। तत्पुरुष समास के अन्त में छाया शब्द "विभाषा···"इत्यादि में वर्णित नियम के अनुसार नपुंसकलिङ्ग हो गया है। **शारदः** = शरदि भवः शारदः—इस स्थल पर सन्धिवेला आदि ऋतुनक्षत्रों से परे "अण्" प्रत्यय हुआ है।

समास—तदङ्घ्रिणा = तस्य अङ्घ्रिः इति तदङ्घ्रिः तेन। **तच्छयच्छायलवः** = तस्य शयः इति तच्छयः, तस्य छाया इति तच्छयच्छायम्, तस्य लवः इति तच्छयच्छायलवः (तत्पुरुष-समास)। **पार्विकशर्वरीश्वरः** = पर्वणि भवः पार्विकः स असौ शर्वरीश्वरश्चेति पार्विकशर्वरीश्वरः। **तदस्यदास्ये**=तस्य यत् आस्यं इति तदास्यम्—तस्य यत् दास्यं इति तदास्यदास्यं तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—तदङ्घ्रिणा=उस राजा नल के चरण ने। **पल्लवे**=नवीन पत्ते में—जो पत्ता वृक्ष में नया निकलता है तथा अरुणिमा को भी लिये हुये होता है। उसी को किसलय भी कहा जाता है। **तच्छयच्छायलवः** = उस राजा नल के हाथ की कान्ति का लेशमात्र। 'शय' शब्द का अर्थ हाथ है [पञ्चशाखः शयः पाणिः—इत्यमरः।]। **शारदः** = शरद् ऋतु में उत्पन्न हुआ अर्थात् शरत्कालीन। **पार्विकशर्वरीश्वरः** = पर्व अर्थात् पूर्णमासी की रात्रि में निकलने वाला चन्द्रमा—अर्थात् पूर्णचन्द्र। **तदास्यदास्ये** = उस राजा नल के मुख की दासता को प्राप्त करने में। **अधिकारिताम्** = योग्यता को। **न गतः** = नहीं प्राप्त हुआ।

प्रसङ्ग—राजा नल में गुण ही गुण थे, दोष एक भी न था—

किमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान्।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ? ॥२१॥

म०—किमिति। विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कटपेन व्याजेन कोटिभिः कोटिसंख्याभिः रेखाभिः लेखाभिः न अजीगणत् न गणितवान् किम् ? अपितु गणितवानेवेत्यर्थः तथा जगत्कृता, स्रष्ट्रा विधिनेत्यर्थः। रोम्णां कूपाः विवराणि तेषाम् ओघः समूह एव मिषं व्याजः तस्मात्। दूषणानां दोषाणां शून्यस्य

अभावस्य विन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता वर्त्तुलरेखाः न कृताः किम् ? अपि तु कृता एवेत्यर्थः । अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति भावः । अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपटमिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे गुणगणनालेखत्वदूषणशून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

अन्वय—किं विधिः अस्य गुणान् रोम्णां कपटेन कोटिभिः रेखाभिः न अजीगणत् ? किं च जगत्कृता रोमकूपौघमिषात् दूषणशून्यबिन्दवः न कृताः ?

संस्कृत-व्याख्या—किम्, विधिः = विधाता, अस्य = नलस्य, गुणान्, रोम्णाम्, कपटेन = व्याजेन, कोटिभिः = कोटिसंख्याभिः, रेखाभिः न अजीगणत् = न गणितवान् ? अपितु गणितवानेव—इत्यर्थः किं च, जगत्कृता = स्रष्ट्रा—विधिना रोमकूपौघमिषात् = रोम्णां कूपाः विवराणि तेषां ओघः समूहः एव मिषं व्याजः तस्मात्, दूषणशून्यबिन्दवः = दूषणां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूताः वर्त्तुलरेखाः, न कृताः ? अपितु कृता एव—इत्यर्थः । नले गुणा एव सन्ति, न दोषा इति भावः ।

हिन्दी-अनुवाद—किम् = क्या, विधिः = ब्रह्मा ने, अस्य = इस राजा नल के, गुणान् = गुणों को, रोम्णाम् = रोमों के, कपटेन = बहाने से, कोटिभिः रेखाभिः = करोड़ों रेखाओं के द्वारा, न अजीगणत् = नहीं गिना । अपितु गिना ही । किंच = और क्या, जगत्कृता = सृष्टिनिर्माणकर्त्ता ब्रह्मा ने, रोमकूपौघमिषात् = करोड़ों रोम-छिद्रों के बहाने से, दूषणशून्यबिन्दवः = दोषों के अभाव को प्रकट करने वाली गोल गोल रेखाओं को, न कृताः = नहीं बनाया ? अपितु अवश्य ही बनाया ।

भावार्थ—"तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे" इस वचन के अनुसार मानव शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम हुआ करते हैं । तथा "रोमैकैकं कूपके पार्थिवानाम्" इस कथन के आधार पर राजा का प्रत्येक रोम एक-एक रोमकूप के अन्तर्गत विद्यमान माना गया है । अतः अब उपर्युक्त श्लोक का भाव यही होगा कि ब्रह्मा ने राजा नल के शरीर में विद्यमान साढ़े तीन करोड़ रोमों के बहाने से राजा नल के गुणों की गणना की थी । तथा उसी ने राजा नल के शरीर में विद्यमान साढ़े तीन करोड़ रोम-छिद्रों के बहाने से राजा नल के अन्दर दोषों के अभाव स्वरूप गोल-गोल छिद्रों का भी निर्माण किया था । अत्यधिक संख्यावाली वस्तुओं की गणना करते समय विस्मरण न होने देने के लिये रेखाओं द्वारा उनकी गणना किया जाना तथा

अभावसूचक स्थानों पर गोलाकार शून्यविन्दुओं को रखना लोक-व्यवहार में भी देखने को मिलता है। अतएव महाकवि द्वारा यह कल्पना किया जाना कि राजा नल के शरीर में ये रोम नहीं हैं अपितु राजा नल के गुण गणना की रेखाएँ ही हैं तथा ये रोमकूप नहीं हैं किन्तु दोषभावसूचक शून्य-विन्दु ही हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि राजा नल में अत्यधिक गुण थे तथा दोषों का पूर्ण अभाव था।

अलङ्कार—इस श्लोक में रोमों और रोमकूपों का 'कपट' और 'मिष' शब्दों द्वारा निषेध करके क्रमशः अप्रस्तुत गुणों की गणक रेखाओं और दोष-शून्यता के ज्ञापक बिन्दुओं की उत्प्रेक्षा की गयी है। अतः यहाँ सापह्नवोत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—अजीगणत् = √गण् (चुरादि) + लुङ्लकार–प्रथमपुरुष–एकवचन।

समास—रोमकूपौघमिषात् = रोम्णां कूपाः इति रोमकूपाः, तेषां ओघः इति रोमकूपौघः (तत्पुरुष), रोमकूपौघ एव मिषः तस्मात्। **दूषण-शून्यबिन्दवः** = दूषणानां शून्यस्य बिन्दवः इति।

टिप्पणियाँ—कपटेन = बहाने से। **कोटिभिः रेखाभिः** = करोड़ों रेखाओं के द्वारा। **अजीगणत्** = गिना—गणना की। **जगत्कृता** = सृष्टि-निर्माता—जगत् की रचना करने वाले विधाता ने—ब्रह्मा ने। **रोमकूपौघ-मिषात्** = [राजा नल के] रोमों के छिद्रों के बहाने से। **दूषणशून्य-बिन्दवः** = दोषों के अभाव को बतलाने वाले विन्दुओं को। अथवा दोष-राहित्य के सूचक रोमकूप रूपी गोलाकार बिन्दुओं को। **न कृताः** = नहीं किया—निर्माण नहीं किया अथवा नहीं बनाया।

प्रसङ्ग—राजा नल की दोनों भुजायें अत्यधिक लम्बी अथवा आजानु-बाहु थीं। उनका वक्षस्थल अत्यन्त विशाल और कठोर था—

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

म०—अमुष्येति। अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरिदुर्ग-लुण्ठने शत्रुदुर्गभञ्जने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं ना' इत्यमरः। दीर्घञ्च पीनञ्च तयोर्भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्वमित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः। उरसः वक्षसः श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या तत्र अरिदुर्गलुण्ठने गोपुरेषु

पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमरः। स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता अपधृष्यत्वं तिर्य्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः। गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम् ? ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम्। तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति भावः ॥ २२ ॥

अन्वय—अमुष्य दोर्भ्यां अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता उरःश्रियः च तत्र गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरः प्रसारिता गृहीता ध्रुवम्।

संस्कृत-व्याख्या—अमुष्य = नलस्य, दोर्भ्याम् = भुजाभ्यां बाहुभ्यां वा, अरिदुर्गलुण्ठने = शत्रुदुर्गभञ्जने, अर्गलदीर्घपीनता = अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य दीर्घं च पीनं च तयोः भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्वमित्यर्थः, उरश्रियः = उरसः वक्षसः श्रिया लक्ष्म्या, च, तत्र = अरिदुर्गलुण्ठने, गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरः प्रसारिता = गोपुरेषु पुरद्वारेषु स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्धर्षाणि च तानि तिरः प्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता—अप्रधृष्यत्वं तिर्यक्प्रसारित्वञ्च—इत्यर्थः, गृहीता ध्रुवम् = अवलम्बिता किम् ? [राजा नलः दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्च आसीदिति भावः।]।

हिन्दी-अनुवाद—अमुष्य = राजा नल की, दोर्भ्याम् = दोनों भुजाओं ने, अरिदुर्गलुण्ठने = शत्रु के दुर्गों (किलों) को तोड़ने में, अर्गलदीर्घपीनता = मानो अर्गला (किवाड़ों को बन्द करने के पश्चात् एक ओर से दूसरी ओर तक लगाई जाने वाली मोटी लकड़ी [किल्ली] की विशालता तथा स्थूलता को [प्राप्त कर लिया था], च = और, उरःश्रियः = वक्षस्थल की शोभा ने, तत्र = शत्रु के किलों को तोड़ने में, गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता = मानो [शत्रुओं के] नगर द्वार पर स्थित किवाड़ों की दुर्जेयता एवं विशालता को, गृहीता ध्रुवम् = प्राप्त कर लिया।

भावार्थ—इस राजा नल की दोनो बाहों ने शत्रुओं के किलों को लूटने में मानो अर्गल [किवाड़ों को न खुलने देने के लिये लगायी गयी किल्ली] की विशालता तथा स्थूलता को प्राप्त कर लिया था तथा उस [राजा नल] के वक्षस्थल की शोभा ने मानो शत्रुओं के नगर द्वार पर विराजित किवाड़ों की दुर्जेयता एवं विशालता को प्राप्त कर लिया था। अर्थात् राजा नल की दोनों भुजायें अर्गल के समान लम्बी तथा मोटी थीं और उनकी छाती किलों के फाटकों के सदृश दुर्जेय तथा विस्तृत [चौड़ी] थी। इस वर्णन से

यह ध्वनि निकलती है कि राजा नल आजानुबाहु तथा विशाल वक्षस्थल वाले थे ।

अलङ्कार—उक्त पद्य में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है । यहाँ पर "ध्रुवम्" यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द भी प्रयुक्त हुआ है जैसा कि 'साहित्यदर्पण' में कहा भी गया है:—"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः ॥"

समास—अरिदुर्गलुण्ठने = अरीणां ये दुर्गाः तेषां लुण्ठने । **अर्गल-दीर्घपीनता** = दीर्घं च पीनञ्च इति दीर्घपीनम्, तयोः भावः दीर्घपीनता, अर्गलस्य दीर्घपीनता इति अर्गलदीर्घपीनता । **उरश्रियः** = उरसः श्रिया इति । **गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता** = गोपुरेषु स्फुरतां कवाटानां दुर्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता ।

टिप्पणियाँ—अरिदुर्गलुण्ठने = शत्रुओं के किलों को लूटने में अथवा उन पर विजय प्राप्त करने में । **अर्गलदीर्घपीनता** = अर्गला की दीर्घता और स्थूलता को [अर्गला नामक एक मोटी तथा लम्बी लकड़ी हुआ करती थी जो किवाड़ों अथवा फाटकों में लगायी जाती थी । दोनों किवाड़ों अथवा फाटकों की चौड़ाई से इस अर्गला की लम्बाई दूनी हुआ करती थी । किवाड़ों अथवा फाटकों के दोनों ओर की दीवालों में अर्गला की मोटाई से अधिक गोलाई के छिद्र हुआ करते थे । एक ओर का छिद्र बहुत लम्बा हुआ करता था । पूरी अर्गला उसमें समा जाया करती थी । जब किवाड़ या फाटक बन्द किये जाया करते थे तो वह अर्गला बाहर खींची जाती थी और दूसरी ओर की फाटक या किवाड़ वाली दीवाल के छिद्र में अन्दर तक डाल दी जाती थी । फिर किवाड़ अथवा फाटक बहुत ही दृढ़ता से बन्द हो जाया करते थे । उनका खुल सकना किसी भी दशा में संभव न था ।] । राजा नल की भुजायें इसी अर्गला के सदृश लम्बी तथा मोटी थीं । अतः कवि ने उनकी भुजाओं के बारे में यह उत्प्रेक्षा की है कि जब राजा नल ने शत्रुओं के किलों को तोड़ा तो राजा नल की भुजाओं ने मानों किले के फाटकों में लगी हुयी अर्गला की लम्बाई तथा मोटाई (स्थूलता) को प्राप्त कर लिया । **उरःश्रियः** = वक्षस्थल की शोभा ने । **गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता** = शत्रुओं के नगरों में स्थित किले के किवाड़ों और फाटकों की दुर्जेयता और विशालता को राजा नल के वक्षस्थल ने प्राप्त कर लिया था ।

प्रसङ्ग—राजा नल के मुख की शोभा ने चन्द्रमा एवं कमल की शोभा को जीत लिया था। अब अन्य कोई ऐसा पदार्थ संसार में विद्यमान न था जिससे राजा नलके मुखकी उपमा दी जा सकती हो। अथवा उपमेय राजा नल के मुख के लिये कोई उपमान था ही नहीं। अतः राजा नल का मुख अनुपमेय अथवा अनुपम ही था—

स्वकेलिलेशास्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥२३॥

म०—स्वकेलीति। स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निन्दितः तिरस्कृतः इन्दुश्चन्द्रः येन तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन निर्जित-शीतांशुमयूखस्येति भावः। निजांशः स्वावयवः यादृक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्वयी तस्या जित्वरं जयशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचरं स्याज्जगदि'ति विश्वः। प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेषः। अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्य-प्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः तदुक्तं दर्पणे—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

अन्वय—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः तन्मुखस्य अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे चराचरे प्रतिमा न।

संस्कृत-व्याख्या—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः = स्वा स्वकीया केलिः क्रीडा तस्याः लेशः लवभूतं यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निर्जितः तिरस्कृतः इन्दुः चन्द्रः येन तथोक्तस्य, निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = निजः स्वकीयः अंशः भागः तद्रूपे ये दृशौ नेत्रे ताभ्यां तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां कमलानां सम्पत् सौभाग्यं समूहो वा येन तादृशस्य, तन्मुखस्य = तस्य राज्ञः नलस्य मुखस्य आननस्य, अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे = तयोः पद्मचन्द्रयोः द्वयी तस्याः जित्वरं जयनशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति यत्र तथाविधे, चराचरे = जगति, प्रतिमा = उपमानं, न = न आसीदिति शेषः।

हिन्दी-अनुवाद—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः—अपनी क्रीडा के लेश-मात्र ईषद् हास्य के द्वारा अर्थात् अपनी मुस्कान द्वारा चन्द्रमा को तिरस्कृत कर देने वाले, निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = अपने [राजानल के मुख के] अंशभूत नेत्रों के द्वारा कमलों के सौन्दर्य की भर्त्सना करने वाले [अर्थात् नेत्रों

द्वारा कमलों पर भी विजय प्राप्त करने वाले], तन्मुखस्य = उन [राजा नल] के मुख का, अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे = उन दोनों [चन्द्रमा और कमल] को जीतने वाली अन्य सुन्दर वस्तु से रहित, चराचरे—संसारमें, प्रतिमा = [कोई] उपमान, न = नहीं था।

भावार्थ—राजा नल के मुख ने अपनी क्रीडापूर्ण मन्द मुस्कान से चन्द्रमा पर विजय प्राप्तकर ली थी तथा उस [राजानल के] मुख के एक भाग [नेत्रों] ने कमलों की शोभा को जीत लिया था। अतः उस राजानल के मुख की उपमा संसार भर में कोई भी [वस्तु] नही थी क्योंकि राजानल के मुख के द्वारा अखिल विश्व में सुन्दरतम चन्द्रमा तथा कमल पराजित किये जा चुके थे। संसार में अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जो चन्द्रमा और कमल पर विजय प्राप्त करने वाली हो। यदि ऐसी कोई वस्तु विश्व में होती तो वह राजानल के मुख की तुलना में आ सकती थी और उपमान भी बन सकती थी। अतः राजानल के मुख की समानता में भी आ सकने वाली कोई वस्तु नहीं थी। फिर उसकी अपेक्षा और अधिक सौन्दर्यशालिनी अन्य वस्तु की तो आशा भी किया जाना संभव नहीं है। उपमेय की अपेक्षा उपमान पदार्थ के श्रेष्ठ होने पर ही उपमा दी जाया करती है। और ऐसी कोई वस्तु थी ही नहीं जो राजानल के मुख की अपेक्षा अधिक सुन्दर होकर उपमान की श्रेणी में आ सके। अतः राजा नल का मुख अनुपमेय ही था।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में चन्द्रमा और कमल के प्रति विजयसूचक विशेषणों के द्वारा राजा नल के मुख के अनुपमेयत्व का प्रतिपादन किया गया है। अतः इसमें पदार्थ-हेतुक-काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। लक्षण—"हेतोर्वाक्य-पदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते"। कुछ टीकाकारों ने इसमें 'प्रतीप' और कुछ अन्यों ने 'व्यतिरेक' अलङ्कार भी माना है।

व्याकरण—जित्वरम् = जि + क्वरप्। यहाँ "इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्" सूत्र से उक्त प्रत्यय हुआ है।

समास—स्वकेलिलेशस्मितनिन्दितेन्दुनः = स्वा केलिः इति स्वकेलिः [कर्मधारय समास] तस्याः लेशः [षष्ठीतत्पुरुष] तद्रूपं स्मितं, तेन निन्दितः इन्दुः येन सः [बहुव्रीहि समास] तस्य। निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = निजः अंशः इति निजांशः तद्रूपे दृशौ ताभ्यां तर्जिता पद्मसम्पद् येन सः [बहुव्रीहि] तस्य। अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे = तयोः द्वयी इति तद्द्वयी

[षष्ठी तत्पु०], अन्यत् सुन्दरमिति सुन्दरान्तरम् । तद्द्वय्याः जित्वरं तद्द्वयी जित्वरम् [षष्ठी तत्पु०] तादृशं सुन्दरान्तरम् [कर्मधारय] इति तद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरम्, न विद्यते तद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरं यत्र तत् [न० बहु०] अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरम्, तस्मिन् । **चराचरे** = चराश्च अचराश्च इति चराचराम् [द्वन्द], तस्मिन् ।

टिप्पणियाँ—स्वकेलिलेशस्मितनिन्दितेन्दुनः = अपनी क्रीडा के लेशमात्र मुस्कराहट के द्वारा चन्द्रमा को तिरस्कृत [अथवा नीचा दिखा देने वाले] कर देने वाले । यह राजानल के मुख का विशेषण है । **निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः** = अपने मुख के अंशभूत नेत्रों के द्वारा कमलों की शोभा को भी जीत लेने वाले । नेत्र मुख के ही अंश है । जब केवल नेत्रों ने ही कमलों की शोभा पर विजय प्राप्त कर ली तो फिर सम्पूर्ण मुख का तो कहना ही क्या ? **तन्मुखस्य** = उस राजा नल के मुख का । **अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे** = नहीं है उन दोनों [चन्द्रमा और कमल] से बढ़चढ़कर प्रतीत होने वाला कोई अन्य सुन्दर पदार्थ जिसमें—[ऐसे संसार में] । **चराचरे** = स्थावर और जंगम अथवा जड़ और चेतन [चर = गमनशील अर्थात् चेतन, अचर- गतिहीन अर्थात् जड़] इन दो प्रकार के प्राणियों एवं पदार्थों से युक्त संसार में [चराचरं स्याज्जगदिति विश्वः] । **प्रतिमा** = उपमान ।

प्रसङ्ग—उपर्युक्त बात को हो प्रकारान्तर से कहते हैं—

सरोरुहं तस्य दृशैव निर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

म०—उक्तार्थं भङ्गयन्तरेणाह–सरोरुहमिति । तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं तर्जितं न्यक्कृतम् । स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः परम् अन्यत् आभ्यामिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः ? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः । अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः अत्यन्ताभाव इत्यर्थः । सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम् । अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

अन्वय—तस्य दृशा एव सरोरुहं निर्जितम्, स्मितेनैव विधोः श्रियः अपि जिताः । परं भव्यं कुतः ? अहो, तदाननस्य उपमितौ महीयसी दरिद्रता ।

संस्कृत-व्याख्या—तस्य = राज्ञा नलस्य, दृशा एव = नेत्रेण एव, सरोरुहम् = पद्मम्, निर्जितम् = न्यक्कृतम्, स्मितेनैव = मन्दहासेन एव,

विधोः = चन्द्रस्य, श्रियः = कान्तयः, अपि, जिताः = तिरस्कृताः। परम्—अन्यत् आभ्याभिति शेषः, भव्यम् = रम्यम्—रम्यम् वस्तु, कुतः–न कुत्रापि अस्ति–इत्यर्थः। अहो = आश्चर्यम्, तदाननस्य = तस्य नलस्य मुखस्य, उपमितौ = उपमने, महीयसी = अतिमहती, दरिद्रता = अभावः—अत्यन्ताभावः इतिभावः। अस्य राज्ञः नलस्य मुखं सर्वथा निरुपममित्याश्चर्यम्।

हिन्दी-अनुवाद—तस्य = उस राजा नल के, दृशा एव = नेत्र ने ही, सरोरुहम् = कमल को, निर्जितम् = जीत लिया। स्मितेनैव = [उसकी] मुस्कराहट ने, विधोः = चन्द्रमा की, श्रियः अपि = कान्ति अथवा शोभा को भी, जिताः = जीत लिया। परम् = और अधिक, भव्यम् = सुन्दर वस्तु। कुतः = कहाँ ? अहो = आश्चर्य की बात है कि, तदाननस्य = उस [राजा नल] के मुख की, उपमितौ = उपमा [दिलनाने] में, महीयसी = अत्यधिक, दरिद्रता = अभाव है।

भावार्थ—राजा नल के मुख ने कमलों पर विजय प्राप्त करली थी। उसकी मुस्कराहट ने चन्द्रमा की कान्ति अथवा शोभा को जीत लिया था। संसार में चन्द्रमा और कमल ये दो ही पदार्थ मुख आदि के उपमान के रूप में विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं। अब इनके अतिरिक्त कोई अन्य [तीसरा] पदार्थ कहाँ से प्राप्त हो कि जिससे राजा नल के मुख आदि की उपमा दी जा सके। आश्चर्य की बात है कि उस राजा नल के मुख की उपमा के लिये संसार में उपमानों का सर्वथा अभाव ही हो गया है। कहने का तात्पर्य है कि राजा नल का मुख पूर्णरूपेण अनुपम ही है। अखिल विश्व में उसके मुख के सदृश कोई पदार्थ है ही नहीं कि जिससे उसके मुख की उपमा दी जा सके।

अलङ्कार—उक्त पद्य में चन्द्रमा और कमल के ऊपर विजय मुख के उपमानों के अभाव के प्रति हेतु है। अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त यहाँ उपमानस्वरूप कमल और चन्द्रमा की अपेक्षा नेत्र तथा मुस्कराहट का उत्कर्ष अधिक दिखलाये जाने से व्यतिरेक अलङ्कार भी है।

व्याकरण—**सरोरुहम्** = [सरसि रोहतीति—] सरस् + √रुह् + क्विप्। **स्मितम्** = √स्मि + क्त (भाव में) स्मितम्। **उपमिति** = उप + √मा + क्तिन्। **महीयसी** = महत् + ईयसुन् + ङीप् (स्त्रीलिङ्ग)।

समास—**तदाननस्य** = तस्य यत् आननं इति तदाननम्, तस्य।

टिप्पणियाँ—**निर्जितम्** = निःशेषरूप से जीत लिया अर्थात् पूर्णरूप से जीत लिया। किसी २ संस्करण में "तर्जितम्" पाठ भी है। जैसा कि मल्लिनाथीय टीका में है। इसका अर्थ होगा—"भर्त्सितम्"—भर्त्सना कर दी अथवा झिड़क दिया अथवा तिरस्कृत कर दिया—नीचा दिखला दिया। **स्मितेन** = ईषद् हास्य ने अथवा मुस्कराहट अथवा मुस्कानने। **विधोः** = चन्द्रमा की। **श्रियः**=कान्तियाँ अथवा शोभाओं को। **भव्यम्** = सुन्दर, रम्य। **उपमितौ** = उपमा में उपमान में। **महीयसी** = अतिमहती, अत्यधिक। **दरिद्रता** = अभाव—अथवा न होना।

प्रसङ्ग—राजा नल के केश चमरी नामक विशिष्ट मृगी [हरिणी] के केशों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर तथा कोमल थे—

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैः स्वयञ्चमर्यैव तुलाभिलाषिणः।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥२५॥

म०—स्वबालेति। चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहैव तुलाभिलाषिणः सादृश्यकाङ्क्षिणः स्वबालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनागसे अनपराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः। क्वचित्तदभावे नञ्समासो दृश्यते। पुनः पुनः पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनम् एव छलं तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यं शंसति कथयति बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः। अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस्य बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्य-स्थापनं स्यादपह्नुतिरि'ति ॥ २५ ॥

अन्वय—चमरी स्वयमेव तदुत्तमाङ्गजैः तुलाभिलाषिणः स्वबालभारस्य अनागसे पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् बालचापलं शंसति।

संस्कृत-व्याख्या—चमरी = मृगीविशेषः, स्वयमेव, तदुत्तमाङ्गजैः = तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः केशैः शिरोरुहैर्वा, तुलाभिलाषिणः = सादृश्यकाङ्क्षिणः ["स्वयम्" इत्यस्य स्थाने "समम्" इति पाठे तदुत्तमाङ्गजैः = नलस्य केशैः, सममेव = सहैव, तुलाभिलाषिणः = सादृश्यं कर्त्तुमिच्छुकः], स्वबालभारस्य = स्वस्य आत्मनः बालाः केशाः तेषां भारः समूहः तस्य, अनागसे = अनपराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमः अपि महान् अपराधः एव—इति भावः, पुनः पुनः = भूयो भूयः, पुच्छविलोलनच्छलात् = पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनं इति पुच्छविलोलनं तदेव छलं व्याजः—तस्मात्,

बालचापलम् = रोमचाञ्चल्यम् [पक्षान्तरे शिशुचापलम्], शंसति = कथयति। बालचापल्यं सोढव्यमिति धिया—इति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—चमरी = चमरी नामक मृगी विशेष, स्वयमेव = अपने आपही, तदुत्तमाङ्गजैः = उस (राजनल) के केशों के साथ, ["स्वयमेव" के स्थान पर "सममेव" इस पाठान्तर के होने पर—अर्थ होगा—तदुत्तमाङ्गजैः सममेव = उस राज नल के केशों के साथ ही], तुलाभिलाषिणः = समानता करने की इच्छा [रखने] वाले, स्वबालभारस्य = अपने बालों के समूह की, अनागसे = निरपराधता अथवा अपराधविहीनता बतलाने के लिये, पुनः पुनः = बारबार, पुच्छ विलोलनच्छलात् = [अपनी] पूँछ के हिलाने के बहाने से, बालचापलम् = बालों की चंचलता [पक्षान्तर में—शिशु-सुलभ चपलता] को, शंसति = प्रकट करती है—बतलाती है।

भावार्थ—उस राजानल के केशों के साथ समता करने की इच्छा रखने वाले अपने केशसमूह के अपराधाभाव के लिये चमरी नामक मृगीविशेष बार-बार अपनी पूँछ को हिलाने के बहाने से अपनी शिशु-सुलभ चपलता को ही प्रकट करती है। चमरी नामक मृगी अपनी पूँछ को हिलाकर राजा नल से मानो यह कह रही है कि उसके बालों ने नल के केशों से समानता करने की इच्छा करके जो धृष्टता की है वह उनकी शिशु-सुलभ-चपलता ही है। अतः उसे क्षमा कर दिया जाय। लोक में बच्चे द्वारा की गयी चपलता को अपराध नहीं माना जाता है और उस ओर ध्यान भी नहीं दिया जाता है तथा उसे सदैव क्षम्य ही समझा जाता है। अतः चमरी राजा नल से यह कहती है कि उसके बालों ने उसके केशों के साथ समानता करने की जो इच्छा की है—उस इच्छा को [राजानल] बाल-सुलभ चंचलता ही समझें और उसे क्षमा कर दें।

कुछ टीकाकारों ने "चमरी" शब्द का अर्थ चमरी-गाय भी किया है। शेष सम्पूर्ण व्याख्या यथापूर्व ही है।

भावरूप में यही अर्थ निकलता है कि चमरी नामक मृगी अथवा गाय के बालों की अपेक्षा राजा नल के केश कहीं अधिक सुन्दर तथा सुकोमल थे। यद्यपि चमरी नामक मृगी अपने बालों की सुन्दरता तथा सुकोमलता के लिये प्रसिद्ध है। किन्तु राजा नल के केश इतने अधिक सुन्दर तथा सुकोमल थे कि उनकी समानता में चमरी मृग के केश आते ही न थे।

अलङ्कार—इस पद्य में कहा गया है कि मानों चमरी नामक मृगी अपने बालों के हिलाने के बहाने से राजा नल के बालों की समानता करने रूप अपराध के लिये क्षमा याचना कर रही हो। अतः यहा "उत्प्रेक्षा" नामक अलङ्कार है। पुच्छविलोलन के बहाने से निरपराधता का कथन करके बाल-चपलता की स्थापना किये जाने की दृष्टि से "अपह्नुति" अलङ्कार भी कहा जा सकता है। लक्षण—"प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः।"

व्याकरण—**उत्तमाङ्गजैः** = उत्तमाङ्ग + √जन् + ड। यहाँ "सप्तम्यां जनेर्डः" सूत्र से "ड" हो जाता है। **तुलाभिलाषी** = तुला + अभि + √लष् + णिनि (कर्त्ता में)। **चापलम्** = चपल + अण्।

समास—**तदुत्तमाङ्गजैः** = तस्य उत्तमाङ्गे (मस्तके) जायन्ते इति उत्तमाङ्गजाः तैः। **तुलाभिलाषिणः** = तुलां (साम्यं) अभिलषतीति तुलाभिलाषी तस्य। **पुच्छविलोलनच्छलात्** = पुच्छस्य विलोलनं इति पुच्छविलोलनं तदेव छलं इति पुच्छविलोलनच्छलम् तस्मात्।

टिप्पणियाँ—**चमरी** = एक विशिष्ट प्रकार की हरिणी। इसकी पूँछ के बालों का चँवर बनाया जाता है। **तदुत्तमाङ्गजैः** = उस राजा नल के केशों से—अथवा के साथ। **तुलाभिलाषिणः** = तुलना अर्थात् समानता करने की इच्छा रखने वाले। **स्वबालभारस्य** = अपने केश-समूह के। **अनागसे** = अग का अर्थ है अपराध ["अगोऽपराधो मन्युश्च" इत्यमरः], (अन + अगसे) अपने अपराध के न होने के लिये। **बालचापलम्** = बालों की चंचलता अथवा पक्षान्तर में—शिशु-सुलभ-चपलता। तात्पर्य यह है कि जब कोई छोटा बच्चा अपने से किसी महान् व्यक्ति के साथ अपनी समानता करने लगता है तो उसकी माँ इस भय से, कि कहीं वह महान् व्यक्ति उससे अप्रसन्न न हो जाय, कहने लगती है "बालक ["अज्ञो भवति वै बालः"] ने अज्ञानता-वश ऐसा किया है। अतः या तो आप उसकी बात को बालक समझकर सोचिये ही नहीं अथवा यदि उसका अपराध ही समझे तो बच्चा जानकर उसे क्षमा कर दीजिये"। इसी प्रकार जब चमरी मृगी ने यह देखा कि उसके बाल राजा नल के केशों के साथ समता कर रहे हैं तो उसने अपनी पूँछ हिलाकर निवेदन किया कि महाराज! मेरे बालों ने चपलतावश ऐसा अज्ञानपूर्ण कार्य किया है। अतः आप उनका उक्त अपराध या तो मन में न लाइये अथवा क्षमा ही कर दीजिये। **शंसति**=कहती है—प्रकट करती है—अथवा—बतलाती है।

प्रसङ्गः—राजा नल कामदेव के समान सुन्दर थे। अतः तीनों लोकों में निवास करनेवाली स्त्रियाँ उनको चाहती थीं—

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥२६॥

म०—महीभृत इति। तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया च निजस्य चित्तस्य तं नलं प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत्त्रयीभुवां त्रिभुवनवर्त्तिनीनां नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथविभ्रमः अयं मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत्। अत्र श्लेषसङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः ॥ २६ ॥

अन्वय—तस्य महीभृतः मन्मथश्रिया तं प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां द्विधा मन्मथविभ्रमः अभवत्।

संस्कृत-व्याख्या—तस्य = प्रसिद्धस्य, महीभृतः = राज्ञः नलस्य, मन्मथश्रिया = मन्मथस्य कामस्य सदृशा श्रीः कान्तिः तया, तम् = नलम्, प्रति, निजस्य = स्वस्य, चित्तस्य = मनसः, इच्छया = रागेण, च, तत्र = तस्मिन्, नृपे = नले, जगत्त्रयीभुवाम् = त्रिलोकसमुत्पन्नानाम्, नतभ्रुवाम् = सुन्दरीणाम्, द्विधा = द्विप्रकारेण, मन्मथविभ्रमः = "अयं कामः" इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामजनितावेशश्च, अभवत् = जातः।

हिन्दी-अनुवाद—तस्य = उस, महीभृतः = राजानल की, मन्मथश्रिया = कामदेव के समान कान्ति के कारण, और तं प्रति = उस (राजानल) के प्रति, निजस्य = अपने, चित्तस्य = मन की। इच्छया च = अभिलाषा के कारण, तत्र नृपे = उस राजा नल के विषय में, जगत्त्रयीभुवाम् = तीनों लोकों में उत्पन्न हुयीं, नतभ्रुवाम् = सुन्दरियों को, द्विधा = दो प्रकार का, मन्मथविभ्रमः = "यही कामदेव है" इस प्रकार का विशिष्ट भ्रम तथा कामजन्य विलास, अभवत् = हुआ।

भावार्थ—राजा नल कामदेव के समान सुन्दर थे। अतः तीनों लोकों में निवास करने वाली स्त्रियाँ उनको चाहती थीं। इस स्थिति में उन सभी को दो प्रकार का भ्रम होता था [यहाँ "विभ्रम" शब्द का दो प्रकार का अर्थ किया जा सकता है (१) विशिष्टभ्रम (२) विलास] (१) विशिष्टभ्रम—यह (राजा नल) कामदेव ही है और (२) अपने २ हृदयों में राजा नल के प्रति

आसक्ति होने के कारण ये उन्हें देखकर (विलास अर्थात्) कटाक्ष आदि हाव-भाव भी करने लगा करती थीं। [यहाँ यह आशंका होती है कि तीनों लोकों में पतिव्रता स्त्रियाँ नहीं थी—क्योंकि पतिव्रताओं के हृदयों में कामाभिलाष का उत्पन्न होना संभव नहीं है। अतः यहाँ यह अर्थ कर देना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि प्रतिव्रता स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के मन में ही काम सम्बन्धी विलास की उत्पत्ति हुयी।] तात्पर्य यही निकलता है कि राजा नल कामदेव के समान ही सुन्दर थे।

अलङ्कार—इस पद्य में "मन्मथविभ्रम" पद के दो अर्थ हैं (१) कामदेव की भ्रान्ति (२) कामजन्य भावनाओं का विलास (कटाक्ष आदि हाव-भाव)। अतः इस पद में "श्लेष" अलङ्कार हुआ। तथा नल की कान्ति और तीनों लोकों की स्त्रियों की अभिलाषा के साथ इन दोनों प्रकार के अर्थों का यथासंख्य (संख्या के क्रम से) सम्बन्ध होने के कारण श्लेषसंकीर्ण-यथासंख्य-अलङ्कार भी है।

व्याकरण—**महीभृत्** = मही + भृ + क्विप्—तदनन्तर तुक् का आगम। **नृपे** = यहाँ विषयाधिकरण में सप्तमी विभक्ति है।

समास—**महीभृतः**=महीं विभर्ति इति महीभृत् तस्य। **मन्मथश्रिया**= मन्मथस्य इव श्रीः इति मन्मथश्रीः, तया। **जगत्त्रयीभुवाम्** = जगतां त्रयी जगत्त्रयी, तस्यां भवन्ति इति जगत्त्रयीभुवः, तासाम्। **नतभ्रुवाम्** = नते भ्रुवौ यासां ताः नतभ्रुवः (बहुव्रीहि), तासाम्।

टिप्पणियाँ—**महीभृतः** = राजा (नल) के। **मन्मथश्रिया** = कामदेव के समान कान्ति अथवा शोभा धारण करने के कारण। **जगत्त्रयीभुवाम्** = तीनों लोकों में जिनकी उत्पत्ति हुयी है अर्थात् तीनों लोकों में उत्पन्न हुयीं। **नतभ्रुवाम्** = टेढ़ी भौहों वाली स्त्रियों अथवा सुन्दरियों अथवा कामिनियों को। **द्विधा** = दो प्रकार का (१) साक्षात् कामदेव का (२) काम-सम्बन्धी चिन्तन के आधार पर उत्पन्न विलास का [मन्मथः कामचिन्तायां कपित्थे कुसुमायुधे" इति विश्वः]। **मन्मथविभ्रमः** = (१) मन्मथ अर्थात् कामदेव का विशिष्टभ्रम अथवा (२) कामचिन्तनजनित विलास। अभवत् = हुआ।

प्रसङ्ग—अब राजा नल के सौन्दर्य को देख कर देवलोक में स्थित देवाङ्गनाओं अर्थात् देवकामिनियों का कामविभ्रम प्रस्तुत करते हैं—

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥२७॥

म०—निमीलनेति । त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा निर्निमेषेत्यर्थः । दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सतृष्णं दृष्टवेत्यर्थः । यः अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः कृतः, अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिःस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते प्रकटयन्ति । तासां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २७ ॥

अन्वय—त्रिदशीभिः निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय यः अर्जितः, अमूः अधुना अपि निमेषनिःस्वैः लोचनैः तं अभ्यासभरं विवृण्वते ।

संस्कृत-व्याख्या—त्रिदशीभिः = देवाङ्गनाभिः, निमीलनभ्रंशजुषा = निमेषनिवृत्तिभाजा निर्निमेषया—इत्यर्थः, दृशा = नेत्रेण, तम् = नलम्, भृशम् = अतिमात्रम् , निपीय = सतृष्णं दृष्ट्वा—इत्यर्थः, यः = अभ्यासभरः, अर्जितः = कृतः; अमूः = त्रिदश्यः देव्यः, अधुना अपि = इदानीमपि, निमेषनिःस्वैः = निमेषशून्यैः निमेषरहितैः वा, लोचनैः = नयनैः, तम् अभ्यासभरम् = अभ्यासातिशयम्, विवृण्वते = प्रकटयन्ति ।

हिन्दी-अनुवाद—त्रिदशीभिः = देवताओं की स्त्रियों ने, निमीलनभ्रंशजुषा = निर्निमेष अथवा निमेषरहित (अथवा बिना पलक मारे हुये), दृशा = नेत्र से अथवा दृष्टि से , तम् = उस राजा नल को, भृशम् = अत्यधिकरूप से, निपीय = तृष्णा के साथ देखकर, यः = जिस अतिशय अभ्यास को, अर्जितः = प्राप्त किया था; अमूः = वे देवाङ्गनायें, अधुनाऽपि = इस समय भी अथवा अब भी, निमेषनिःस्वैः = निमेषरहित अथवा एकटक, लोचनैः = नेत्रों से, तम् = उस, अभ्यासभरम् = अभ्यास के अतिशय को । विवृण्वते = प्रकट करती हैं ।

भावार्थ—देवाङ्गनाओं ने निमेषरहित दृष्टि से राजा नल को भलीभाँति देखकर जिस अभ्यास के आधिक्य को सम्यक्रूप से प्राप्त किया था उस अभ्यास के आधिक्य को देवाङ्गनायें अब भी अपने निर्निमेष नेत्रों से प्रकट करती हैं ।

देवताओं के बारे में यह प्रसिद्धि सदा से चली आ रही है कि वे कभी भी पलक नहीं मारते हैं। अतएव देवाङ्गनाओं के लिये पलक का न मारना

स्वाभाविक ही है किन्तु कवि द्वारा यह कल्पना की गयी है कि मानों देवाङ्गनायें निर्निमेष नेत्रों से युवावस्था में विद्यमान राजा नल के सौन्दर्य को तृष्णाभरी दृष्टि से देखती रही थीं और इस कारण उन्हें पलक न मारने का अभ्यास ही हो गया था और वे इस समय भी राजा नल को न देखती हुयी होने पर भी अपने निमेषरहित नेत्रों से उसी अभ्यास को प्रकट कर रही हैं। अधिक समय तक किये गये अभ्यस्त-कार्य का बहुत समय के पश्चात् भी विस्मरण न हो सकना स्वाभावसिद्ध है।

अलङ्कार—देवताओं के स्वतःसिद्ध निमेषशून्यता के बारे में राजा नल के दर्शनों के अत्यधिक अभ्यास से उत्पन्न होने की संभावना उपर्युक्त श्लोक में की गयी है। अतः यहाँ "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—**निमीलनभ्रंशजुषा** = निमीलनभ्रंश + जुष + क्विप् = निमीलनभ्रंशजुट्—पुनः तृतीया विभक्ति के एकवचन में निमीलनभ्रंशजुषा। **निपीय** = नि + पा + क्त्वा—ल्यप्। **विवृण्वते** = वि + वृ + लट् (अन्य-पुरुष, बहुवचन का रूप)।

समास—**निमीलनभ्रंशजुषा** = निमीलनं नेत्रसंकोचः तस्य भ्रंशः अभावः तं जुषतीति निमीलनभ्रंशजुट् तया। **निमेषनिःस्वैः** = नास्ति स्वं धनं येषां तैः निःस्वैः निमेषस्य निःस्वैः इति निमेषनिःस्वैः। **अभ्यासभरम्** = अभ्यासस्य भरः इति अभ्यासभरः तम्।

टिप्पणियाँ—**त्रिदशीभिः** = देवताओं की स्त्रियों ने। (त्रिदश नाम देवता का है। तृतीया यौवनाख्या दशा यस्य" अर्थात् जो सदैव युवावस्था में ही विद्यमान रहा करते हैं। अथवा "त्रीन् तापान् दशति नाशयति–इति त्रिदशः" अर्थात् जो त्रिविधतापों को नष्ट कर देने वाले हैं वह त्रिदश या देवता कहलाते हैं। "त्रिदशस्य स्त्री—त्रिदश् + ङीप्" और उन त्रिदशों की स्त्रियाँ—त्रिदशी कहलाती हैं—अर्थात् देवों की स्त्रियों।)। **निमीलनभ्रंशजुषा** पलकों को मारने के अभाव से युक्त, निर्निमेष, निमेषरहित [दृष्टि से], एकटक देखी जाने वाली दृष्टि से। **निपीय** = पान करके—लक्षणा द्वारा—"सादर देखकर" अर्थ होता है। **निमेषनिःस्वैः** = पलकों के मारने से रहित, निमेष-शून्य। **लोचनैः** = नेत्रों से अथवा नेत्रों द्वारा। **अभ्यासभरम्** = अभ्यास का आधिक्य अथवा अतिशय। **विवृण्वते** = प्रकट करती हैं।

प्रसङ्ग—अब राजा नल के सौन्दर्य को देखकर पाताल लोकस्थित नागों की स्त्रियों का कामविभ्रम महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२८॥

म०—अद इति । चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पत्न्य इत्यर्थः । अदः इदं नोऽस्माकं दृशोश्चक्षुषोर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः । अत एव फलाढ्यजीवितं सफलजीवितम् । न वीक्षते इत्यवीक्षि, अत्रोभयोस्ताच्छील्ये णिनिः । तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि तददर्शीत्यर्थः । अत एव अफलञ्च, इति हेतोः । तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वय—चक्षुःश्रवसां प्रियाः तदा आत्मनः हृदा नले अदः नः दृशोः द्वयं तदाकर्णि फलाढ्यजीवितम् च तदवीक्षि अफलम्, इति स्तुवन्ति निन्दन्ति स्म ।

संस्कृत-व्याख्या—चक्षुःश्रवसाम् = नागानां, प्रियाः = स्त्रियः, तदा = तस्मिन् काले, आत्मनः = स्वस्य, हृदा = मनसा, नले = नलविषये, अदः = इदम्, नः = अस्माकम्, दृशोः = नेत्रयोः, द्वयम् = युगलम्, तदाकर्णि = तं नलं आकर्णयति–इति [तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः] [अतएव], फलाढ्यजीवितम् = सफलजीवितम्, च, तदवीक्षि = तं नलं न वीक्षते इति [तददर्शीत्यर्थः, अतएव] अफलम् = निष्फलम्, इति हेतोः, स्तुवन्ति = प्रशंसन्ति, निन्दन्ति स्म = कुत्सयन्ति स्म [च]।

हिन्दी-अनुवाद—चक्षुःश्रवसाम् = नागों की, प्रियाः = प्रियायें [स्त्रियाँ], तदा = उस समय, आत्मनः = अपने, हृदा = हृदय से मन से, नले = राजा नल के विषय में, अदः = यह, नः = हमारे, दृशोः द्वयम् = दोनों नेत्र, तदाकर्णि = उस राजा नल के गुणों को सुननेवाले हैं, अतः, फलाढ्यजीवितम् = जीवन की सफलता से युक्त हैं; च = और तदवीक्षि = उस राजा नल को देखने वाले नहीं हैं [अतः ये मेरे दोनों नेत्र] अफलम् = निष्फल अथवा फल रहित हैं; इति = इस प्रकार, स्तुवन्ति = प्रशंसा करतीं [और] निन्दन्ति स्म = निन्दा भी करती थीं ।

भावार्थ—"हम लोगों के ये दोनों नेत्र उस राजा नल के चरित को सुनकर सफल-जीवन तो हो गये किन्तु उस राजा नल का साक्षात् दर्शन

न कर सके" इस प्रकार सर्पों की प्रियायें अथवा नाग-अङ्गनायें हृदय से क्रमशः अपने दोनों नेत्रों की प्रशंसा तथा निन्दा किया करती थीं।

नाग-अङ्गनायें पाताल में निवास किया करती हैं अतः वे मर्त्यलोकवासी राजा नल के गुणों का श्रवण तो करती हैं किन्तु उनका दर्शन नहीं कर पाती हैं। सर्पजाति आँखों से ही देखती है और आँखों से ही सुनती भी है। इसी कारण इनको "चक्षुःश्रवाः" कहा जाता है। अतः अपने नेत्रों से नल-चरित अथवा राजा नल के गुणों को सुनने के कारण नागों की स्त्रियाँ अपनी आँखों को धन्य समझती हैं। और उनकी प्रशंसा करती हैं। किन्तु स्वयं पाताललोक में निवास करने के कारण राजा नल का साक्षात् दर्शन कर सकने में अपने को असमर्थ पाकर अपने नेत्रों को अधन्य मानती हैं तथा उनकी निन्दा भी करती हैं।

अलङ्कार—उपर्युक्त श्लोक में अतिशयोक्ति अलङ्कार है। तथा "सफल जीवन वाले दोनों नेत्र निष्फल हैं" इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किये जाने के कारण यहाँ विरोध का आभास होता है किन्तु उपर्युक्त भावार्थ में प्रदर्शित स्पष्टीकरण के द्वारा उसका परिहार भी कर दिये जाने से यहाँ "विरोधाभास" अलङ्कार भी है।

व्याकरण—तदाकर्णि=तत् + आ + √कर्ण + णिच् + णिनि (कर्त्ता में)। **तदवीक्षि** = तत् + अ + वि + ईक्ष् + णिनि (कर्त्ता में)।

समास—चक्षुःश्रवसाम् = चक्षूंषि एव श्रवांसि येषां ते चक्षुःश्रवसः (बहुव्रीहि)। **तदाकर्णि**=तं आकर्णयितुं शीलं यस्य तत् तदाकर्णि। **फलाढ्य जीवितम्** = फलेन आढ्यं जीवितं यस्य तत् (बहुव्रीहि समास)। **तदवीक्षि**= वीक्षितुं शीलमस्य इति वीक्षि, न वीक्षि—अवीक्षि, तस्य अवीक्षि-इति-तदवीक्षि (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—चक्षुःश्रवसाम्=आँखे ही जिनके कान हैं अर्थात् जो आखों के द्वारा ही सुनने का भी कार्य करते हैं ऐसे-सर्पों की। **प्रियाः**=प्रियायें, स्त्रियाँ। **हृदा** = हृदय से, मन से। **दृशोः द्वयम्** = आँखों के दो-अर्थात् दोनों आखों को। **तदाकर्णि** = उनको अर्थात् नल के गुणों को सुनने वाले। **फलाढ्य-जीवितम्** = फल से युक्त अथवा फल से सम्पन्न जीवन वाला अर्थात् जीवन की सफलता से युक्त। **तदवीक्षि** = उसको अर्थात् राजा नल को न देख

सकने वाले। सर्पों के बारे में ऐसी प्रसिद्धि परम्परा से ही चलती चली आ रही है कि ये आँखों से ही सुनते तथा देखते हैं। इनके कान नहीं होते हैं। इस प्रसिद्धि के अनुसार वे राजानल के गुणों का श्रवण तो कर लेती हैं किन्तु पाताल-लोक निवासिनी होने के कारण पृथ्वीलोक पर स्थित राजा नल का दर्शन नहीं कर पाती हैं। **अफलम्** = निष्फल—अर्थात् निरर्थकता से युक्त। नाग-अङ्गनाओं की आँखे राजानल के सौन्दर्य आदि गुणों का श्रवण [नेत्रों द्वारा] कर लिये जाने के कारण धन्य हैं तथा वही आँखे राजा नल के दूरस्थ होने के कारण दर्शन प्राप्त न कर सकने से अधन्य भी हैं। **स्तुवन्ति स्म** = प्रशंसा करती थीं। **निन्दन्ति स्म**=निन्दा करती थीं।

प्रसङ्ग—अब इस पृथ्वी-लोक पर स्थित मानवों की स्त्रियों द्वारा राजा नल के सौन्दर्य को देखकर जो काम-विभ्रम उत्पन्न हुआ, उसका वर्णन करते हैं—

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥२९॥

म०—विलोकयन्तीभिरिति। अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं तत्र भावनायामिति भावः। निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभिः उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्शने निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि न अलम्भि न प्राप्तः। 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति नुमागमः। मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्ट्वा अदृष्टिगोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ २९ ॥

अन्वय—अजस्रभावनाबलात् नेत्रनिमीलनेषु अपि अमुं विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेशः अपि न अलम्भि।

संस्कृत-व्याख्या—अजस्रभावनाबलात् = अजस्रं निरन्तरं या भावना वासना चिन्तनं वा तद् बलात् तत्प्रभावात्-निरन्तरचिन्तनप्रभावात्, नेत्रनिमीलनेषु अपि = नेत्राणां निमेषावस्थासु अपि, अमुम् = नलम्, विलोकयन्तीभिः = पश्यन्तीभिः, मर्त्याभिः = मानवीभिः, अमुष्य = नलस्य, दर्शने = अवलोकने, निमेषनिर्मितः = नेत्रनिमीलनोत्पन्नः, विघ्नलेशः अपि = अन्तरायलवः अपि, न अलम्भि = न प्राप्तः। मानव्यः दृष्टिगोचरं तं दृष्ट्वा, अदृष्टिगोचरञ्च तं मनसा निरन्तरं अवलोकयन्ति स्म-इत्यभिप्रायः।

हिन्दी-अनुवाद—अजस्रभावनाबलात् = निरन्तर (सतत) चिन्तन किये जाने के प्रभाव से, नेत्रनिमीलनेषु अपि = नेत्रों के बन्द होने के समय में भी, अमुम् = उस [राजा नल] को ही, विलोकयन्तीभिः = देखती हुयी, मर्त्याभिः = मानवी स्त्रियों ने, अमुष्य = उन [नल] के, दर्शने = दर्शन के सम्बन्ध में, निमेषनिर्मितः = नेत्र के निमीलन [बन्द करने अथवा पलक मारने] के समय, विघ्नलेशः अपि = विघ्न का लेश मात्र भी, न अलम्भि = नहीं प्राप्त किया।

भावार्थ—निरन्तर नल का ही चिन्तन किये जाने के कारण इस नल को सतत् देखती हुयी [मर्त्यलोकवासिनी] कामिनियों अथवा सुन्दरियों ने इस राजा नल को देखने के विषय में पलक मारने मात्र तक से उत्पन्न थोड़े विघ्न को भी प्राप्त नहीं किया। अर्थात् पलक मारने के क्षण में भी वे नल का ही निरंतर चिन्तन किये जाने के कारण मन से राजा नल का दर्शन किया ही करती थीं। देवताओं की पलकें नहीं गिरा करती हैं अर्थात् उनको पलक मारने की आदत नहीं हुआ करती है। किन्तु पृथ्वीलोकवासी मनुष्य एवं स्त्रियों को तो पलक मारने की स्वाभाविक आदत हुआ करती है। अतः उन पलक मारने के क्षणों में स्त्रियों को राजा नल का दर्शन हो सकना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में महाकवि ने यहाँ दर्शाया है कि ये स्त्रियाँ राजा नल का सतत् चिन्तन किया करती थीं। अतएव पलक मारने की अवस्था में भी मन द्वारा राजा नल का दर्शन उनको होता ही था। महाकवि के कहने का अभिप्राय यह है कि मानवी-स्त्रियाँ प्रत्यक्षरूप से देखे जाने योग्य नल का दर्शन तो अपनी दृष्टि से करती ही थीं तथा पलकों के मारने के समय अप्रत्यक्ष-रूप से मन के द्वारा दर्शन किया करती थीं।

अलङ्कार—उपर्युक्त पद्य में "पलकों के मारने के समय भी देखने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ी"—इस कथन में विरोधाभास अलङ्कार है। अथवा "नेत्रनिमीलन रूप कारण के विद्यमान होते हुये होने पर भी विघ्नसहित दर्शन रूप कार्य नहीं हो रहा है"—की दृष्टि से विशेषोक्ति अलङ्कार भी है।

व्याकरण—विलोकयन्ति = वि + लोक् + णिच् + लट्—शतृ + ङीप। अलम्भि = लभ् + लुङ् लकार (कार्य में)—यहाँ पर "लभेश्च" की अनुवृत्ति में "विभाषाचिण्णमुलोः" से "मुम्" का आगम हो जाता है।

समास—**अजस्रभावनाबलात्** = अजस्रं भावना (सुप्सुपा समास) इति अजस्रभावना, तस्याः बलम् इति (षष्ठी तत्पुरुष) अजस्रभावनाबलम् तस्मात्। **नेत्रनिमीलनेषु** = नेत्रयोः निमीलनेषु इति। **निमेषनिर्मितः** = निमेषैः निर्मितः इति (तृतीया तत्पु०) निमेषनिर्मितः।

टिप्पणियाँ—**अजस्रभावनाबलात्** = निरन्तर किये गये चिन्तन के प्रभाव से अथवा राजा नल के चिन्तन में तन्मय होने के कारण। **नेत्रनिमीलनेषु** = [अपने] दोनों नेत्रों के बन्द कर लेने में—अर्थात् स्वाभाविकरूप में होने वाले पलकों के मारने के समय। **मर्त्याभिः** = मृत्युलोक में निवास करने वाली स्त्रियों ने [म्रियन्ते अत्र इति मर्त्तः भूलोकः—तत्र भवाः मर्त्याः ताभिः मर्त्याभिः—इसके आधार पर] **निमेषनिर्मितः** = पलकों के गिरने अथवा मारने से उत्पन्न। **अलम्भि** = प्राप्त किया।

प्रसङ्ग—पतिव्रता स्त्रियों को छोड़कर शेष सभी प्रकार की स्त्रियों का नल के प्रति अनुराग था—

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम्?।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम्? ॥३०॥

म०—नेति। का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः। का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः। का च रते सुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्त्ता यया तथाभूता 'धवः प्रियः पतिर्भर्त्ते' त्यमरः। स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः तं वा न चकार? अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ ३० ॥

अन्वय—का निशि तं स्वप्नगतं न ददर्श, का च गोत्रस्खलिते तं न जगाद। च रते तदात्मताध्यातधवा का वा स्वमनोभवोद्भवं न चकार।

संस्कृत-व्याख्या—का—नारी, निशि = रात्रौ, तम् = नलम्, स्वप्नगतम् = स्वप्नप्राप्तम्, न ददर्श = न अवलोकितवती? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः। का च, गोत्रस्खलिते = नामस्खलने, तम् = नलम्, न जगाद = न उक्तवती? स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती? अपितु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः। च रते = च सुरतव्यापारे, तदात्मताध्यातधवा = तदात्मतया ध्यातः चिन्तितः

धवः भर्त्ता यया तथाभूता, का वा, स्वमनोभवोद्भवम् = स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः उत्पत्तिः तम्, न चकार = न कृतवती ? अपितु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः।

हिन्दी-अनुवाद—का = किस स्त्री ने, निशि = रात्रि में, तम् = उस राजा नल को, स्वप्नगतम् = स्वप्न में, न ददर्श = नहीं देखा ? [अर्थात् सभी ने स्वप्न में उसे देखा]। का च = किस स्त्री ने, गोत्रस्खलिते = [अपने पति के रूप में] राजा नल का नाम ले देने में, तम् = उस राजानल को, न जगाद = नहीं कहा ? [अर्थात् सभी ने कहा]। च = और, रते = संभोग-व्यापार में, तदात्मताध्यातधवा = उस राजानल के रूप में अपने पति का चिन्तन करने वाली, का वा = किस स्त्री ने, स्वमनोभवोद्भवम् = अपने काम का प्रकाशन, न चकार = नहीं किया ? [अर्थात् सभी ने किया]।

भावार्थ—किस स्त्री ने स्वप्न में राजानल का साक्षात्कार नहीं किया ? अर्थात् सभी मुग्धा नायिकायें स्वप्न में राजानल को ही देखती थीं। किस स्त्री ने राजानल के प्रति मन के लगे हुए होने के कारण अपने पति को पुकारने के स्थान पर राजा नल को नहीं पुकारा ? अर्थात् सभी मध्या-नायिकाओं ने अपने पति का नाम लेने की इच्छा रहते हुये भी निरन्तर राजानल की ही ओर चित्त के संलग्न रहने के कारण [पति के नाम के स्थान पर] राजानल के ही नाम का उच्चारण किया। और नलरूप से पति का ध्यान करने वाली किस स्त्री ने रतिकाल में अपने अन्दर काम की उत्पत्ति नहीं की ? अर्थात् सभी प्रगल्भा अथवा प्रौढ़ा नायिकाओं ने अपने पति को ही नल के रूप में समझते हुये उनके साथ रमण किया। कहने का तात्पर्य यह है कि पतिव्रता स्त्रियों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा अथवा प्रौढ़ा स्त्रियों का राजानल के प्रति अनन्य प्रेम था।

अलङ्कार—ऊपर्युक्त पद्य में दर्शन आदि के असम्बन्ध में भी सम्बन्ध का वर्णन किये जाने के कारण "सम्बन्धातिशयोक्ति" अलङ्कार है।

व्याकरण—जगाद = गद् + लिट् तिप् = (णल्—अ)। **रते** = रम + क्त (भाव में) रतम्—सप्तमी एकवचन में। **तदात्मता** = तदात्मन् + तल् + टाप्।

समास—**तदात्मताध्यातधवा** = तस्य नलस्य आत्मा स्वरूपे यस्य (बहुव्रीहि) तस्य भावः तदात्मता, तया ध्यातः धवः पतिः यया सा (बहु-

व्रीहि समास)। **स्वमनोभवोद्भवम्** = स्वस्य मनोभवः कामः तस्य उद्भवः, तम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—स्वप्नगतं न ददर्श = स्वप्नावस्था में प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा अथवा साक्षात्कार किया। **गोत्रस्खलिते** = गोत्र अर्थात् नाम ("नाम गोत्रं कुलं गोत्रं गोत्रस्तु धरणीधरः" इति यादवप्रकाशः) का उच्चारण करने में की गयी त्रुटि में। स्त्रियों के मन में राजा नल बसे हुये थे—अतएव अपने पति का नाम उच्चारण करते समय वे त्रुटिवश राजा नल का ही नाम ले लिया करती थीं। **जगाद** = कहा, उच्चारण किया। **रते** = रतिकाल में, संभोग के समय अथवा सुरत-व्यापार में। **तदात्मताध्यातधवा** = उस (राजा नल) रूप से पति का चिन्तन किया है जिसने ऐसी। अर्थात् स्त्रियाँ अपने पति के साथ रमण करते समय अपने पति को ही नल के रूप में देखा करती थीं अर्थात् उन्हीं को राजा नल समझ कर उनके साथ रमण किया करती थीं। उनकी इतनी अधिक आत्मीयता राजा नल के साथ थी [धवः = पति—"धवः प्रियः पतिर्भर्त्ता" इत्यमरः] **स्वमनोभवोद्भवम्** = अपने मनोभव अर्थात् काम का प्रकाशन (प्रकट किया जाना)।

प्रसङ्ग—दमयन्ती को छोड़कर अन्य कोई भी स्त्री राजा नल को अपने पति के रूप में वरण करने योग्य नहीं थीं—

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ? ॥३१॥

म०—श्रियेति। तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा श्रिया सौन्दर्य्येण अहमस्य नलस्य योग्यानुरूपा इति धियेति शेषः स्वम् आत्मानं स्वावयवमित्यर्थः। ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः गृहीतः दर्पणः भैमीं भीमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः। विहाय विनेत्यर्थः। कया सुरूपया शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्य्या अपदर्पया सत्या श्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीमसः मलदूषितः 'मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमि'त्यमरः। न कृतः ? अपि तु सर्वथैव कृत इत्यर्थः। सौन्दर्य्य-गर्विताः सर्वा एव भैमीव्यतिरिक्ताः कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्य-भिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कटुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः ॥ ३१ ॥

अन्वय—तम् आलोक्य श्रिया अहं अस्य योग्या इति स्वं ईक्षितुं करे धृतः दर्पणः भैमीं विहाय कया सुरूपया अपदर्पया श्वासमलीमसः न कृतः ?

संस्कृत-व्याख्या—तम् = नलम्, आलोक्य = दृष्ट्वा, श्रिया = सौन्दर्येण, अस्य = नलस्य, योग्या = अनुरूपा, इति, स्वम् = आत्मनम्, ईक्षितुम् = द्रष्टुम्, करे = हस्ते, धृतः = गृहीतः, दर्पणः = आदर्शः, भैमीम् = भीमनन्दिनीम्—दमयन्तीम्—इत्यर्थः, विहाय = त्यक्त्वा, कया, सुरूपया = सुन्दर्या नार्या—शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्या वा, अपदर्पया = अभिमानशून्यया (सत्या), श्वासमलीमसः = श्वासेन दुःखपूर्णमुखवायुना मलीमसः मलिनः, न कृतः = न विहितः ? अपितु सर्वथा एव कृतः इत्यर्थः। स्वस्वसौन्दर्यगर्विताः दमयन्तीविरहिताः सर्वा एव कामिन्यः तं नलमवलोक्य अहमेवास्य योग्या इति अभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं विलोक्य नाहमस्य योग्या—इति निश्चयेन दुःखिताः सत्यः कदुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्म—इत्यभिप्रायः।

हिन्दी-अनुवाद—तम् = उस (नल) को, आलोक्य = देखकर, श्रिया = सौन्दर्य की दृष्टि से, अहम् = मैं, अस्य = इस राजानल के, योग्या = योग्य हूँ", इति = इस प्रकार, स्वम् = अपने आपको, ईक्षितुम् = देखने के लिये, करे = हाथ में, धृतः = लिये हुये, दर्पणः = शीशे को, भैमीम् = राजा भीम की पुत्री दमयन्ती को, विहाय = छोड़कर, कया = किस, सुरूपया = सुन्दर स्त्री ने, अपदर्पया = अभिमानरहित होकर, श्वासमलीमसः = [अपनी] श्वासवायु से मलिन, न कृतः = नहीं किया ?

भावार्थ—अपने सौन्दर्य के अभिमान में चूर स्त्रियाँ राजा नल के चित्र को देखकर "मैं भी इनके योग्य सुन्दरी हूँ, ऐसा निश्चय कर शीशे को हाथ में ले लेती थीं और जब उसमें अपने सौन्दर्य का निरीक्षण करती थीं तो राजा नल के सौन्दर्य की अपेक्षा अपने सौन्दर्य को तुच्छ पाती थीं और उनका अभिमान नष्ट हो जाता था तथा वे समझ लेती थीं कि मैं राजानल के योग्य नहीं हूँ। ऐसी स्थिति में वे दुःखपूर्ण गहरा-श्वास छोड़ती थीं जिससे दर्पण (शीशा) भी मलिन हो जाता था। केवल दमयन्ती ही इस प्रकार की थी कि जो अपने आपको राजा नल के अनुरूप पाती थी।

व्याकरण—विहाय = वि + हा + ल्यप्। धृतः = धृ + क्त।

समास—सुरूपया = सुष्ठु रूपं यस्याः सा सुरूपा (प्रा० बहुव्रीहि) तया। अपदर्पया = अपगतः दर्पः यस्याः सा अपदर्पा (प्रा० बहुव्रीहि), तया। श्वासमलीमसः = श्वासेन मलीमसः इति।

टिप्पणियाँ—श्रिया = शोभा अथवा सौन्दर्य से। **स्वम्** = अपने आप को। **ईक्षितुम्** = देखने के लिये। **धृतः** = धारण किया हुआ—हाथ में लिया गया हुआ। **सुरूपया** = सुन्दररूप को धारण करने वाली—सुन्दरी स्त्री। **अपदर्पया** = दूर हो गया है अभिमान जिसका ऐसी। शीशे में अपना सौन्दर्य देखने के पश्चात् जिसका अपना सौन्दर्य सम्बन्धी गर्व नष्ट हो गया था ऐसी स्त्री के द्वारा। **श्वासमलीमसः** = श्वासों अथवा आहों से मैला अथवा दूषित—गन्दा ["मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्"—इत्यमरः]।

प्रसङ्ग—दमयन्ती के मन में राजा नल के प्रति स्नेह उत्पन्न कराया गया और इसके निमित्त काम को दमयन्ती के मन में बलपूर्वक प्रविष्ट कराया गया—

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥ ३२॥

म०—एवमस्यालौकिकसौन्दर्यद्योतनाय स्त्रीमात्रस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति = यथेति। मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत् भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः। उह्यमानः नीयमानः, वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम्। अनलावरुद्धम् अग्निपरिवेष्टितं विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य बाणासुरस्येत्यर्थः। पत्तनं शोणितपुरमिति यावत्। प्रसह्य सहसा यथा वेशितः खलु प्रवेशित एव, 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागतं हरिः'। उषाहरणे विष्णुपुराणात्। तथा नलावरुद्धं नलासक्तं विदर्भजायाः दमयन्त्याः मनः भोगभोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः, वयसा यौवनेन उह्यमानः परैस्तर्क्यमाणः ऊहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक्। वेशितः प्रवेशितः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरि'त्यमरः। पुरा उषा-नाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्धं दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरीं चित्र-लेखामवदत्। सा च योगबलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकायां प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसा समानीय तथा समगमयत्। कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्णः प्रद्युम्नबलरामाभ्यां बहुभिर्बलैश्च गत्वा बाणनगरमरौत्सीदिति कथा अत्रानु-सन्धेया। अत्र यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः। तदनुप्राणिता उपमा च सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसानमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषां सङ्करः॥ ३२॥

अन्वय—यथा भोगभोजिना वयसा एव उह्यमानः मदनः वैरोचनिजस्य अनलावरुद्धं पत्तनं प्रसह्य वेशितः खलु तथा [भोगभोजिना वयसा एव उह्यमानः मदनः] विदर्भजायाः [नलावरुद्धम्] मनः [प्रसह्य वेशितः] ।

संस्कृत-व्याख्या—यथा = येन प्रकारेण, खलु, भोगभोजिना = भोगं सर्पशरीरं भुङ्क्ते एवंशीलः तेन—सर्पशरीराशिना—इत्यर्थः, वयसा = गरुडे-नेत्यर्थः, एव, उह्यमानः = नीयमानः = प्रद्युम्नः, वैरोचनिजस्य = विरोचस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य-वाणासुरस्य इत्यर्थः, अनलाव-रुद्धम् = अनलेन अग्निना अवरुद्धं समन्ततो व्याप्तम्, पत्तनम् = नगरम्, प्रसह्य = बलात्कारेण, वेशितःखलु = प्रवेशित एव; तथा = तेनैव प्रकारेण, [भोग-भोजिना = भोगं सुखं भुङ्क्ते भोजयति वा तच्छीलेन, सुखभोगासक्तेन—इत्यर्थः, वयसा एव = यौवनेन एव, उह्यमानः = परैः तर्क्यमाणः, मदनः = कामः विदर्भजायाः = दमयन्त्याः [नलावरुद्धम् = नलासक्तम्] मनः = हृदयम्, [प्रसह्य = सहसा, वेशितः = प्रवेशितः] ।

हिन्दी-व्याख्या—यथा = जिस प्रकार, खलु = निश्चितरूप से, भोग-भोजिना = सर्पभक्षी, वयसा एव = पक्षी गरुड़ के द्वारा ही, उह्यमानः = ले जाया जाता हुआ, मदनः = प्रद्युम्न, वैरोचनिजस्य = बाणासुर के, अनलाव-रुद्धम् = अग्नि से घिरे हुये, पत्तनम् = नगर [शोणितपुर] में, प्रसह्य=जबरदस्ती अथवा बलपूर्वक, वेशितः एव = प्रविष्ट कराया गया था, तथा = उसी प्रकर से, [भोगभोजिना = विषयों का भोग करानेवाली, वयसा एव = युवावस्था के द्वारा ही, उह्यमानः = प्राप्त हुआ, मदनः = कामदेव] विदर्भजायाः = दमयन्ती के [नलावरुद्धम् = नल में आसक्त] मनः = मन अथवा हृदय में [प्रसह्य = सहसा, वेशितः = प्रविष्ट कराया गया ।] ।

भावार्थ—जिस भाँति प्रद्युम्न गरुड़ की सहायता से बाणासुर के अग्नि से व्याप्त नगर [शोणितपुर] में प्रविष्ट हो गया था; उसी भाँति कामदेव भी युवावस्था की सहायता से दमयन्ती के नल में आसक्त मन में प्रविष्ट हुआ ।

इस सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है और वह इस प्रकार है—

बाणासुर की पुत्री उषा ने (श्रीकृष्ण के पौत्र एवं) प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को देखा और जब वह सोकर उठी तो उसने अपने इस स्वप्न का वर्णन अपनी सखी चित्रलेखा को बतलाया । चित्रलेखा योगिनी थी । अतः उसने योगबल द्वारा द्वारिकापुरी में जाकर सोते हुये अनिरुद्ध को लाकर उषा के

साथ उसका संगम करा दिया। जब वाणासुर को इस बात का पता लगा तो वह अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और उसने अनिरुद्ध को बाँधकर डाल दिया। नारद द्वारा यह वृत्तान्त श्रीकृष्ण को ज्ञात हुआ। श्रीकृष्ण बलराम तथा प्रद्युम्न के साथ गरुड़ पर चढ़कर वाणासुर के नगर शोणितपुर में, जो कि चारों ओर से प्रज्वलित अग्नि से घिरा हुआ था, पहुँचे। युद्ध में वाणासुर को परास्तकर श्रीकृष्ण ने अनिरुद्ध का उद्धार किया—"ततो गरुड़मारुह्य स्मृतमात्रगतं हरिः। वलप्रद्युम्नसहितौ वाणस्य प्रययौ पुरीम् ॥" [विष्णुपुराण—उपाहरण]।

अलङ्कार—उपर्युक्त पद्य में श्लेष अलङ्कार है। "भोगभोजिना" "मदनः" यथा "वयसा" शब्दों में 'अभङ्गश्लेष' है। "यथोह्यमानः" और "मनोनलावरुद्धम्" पदों में क्रमशः "यथा + उह्यमानः" तथा "यथा + ऊह्यमानः" और "मनः अनलावरुद्धम्" तथा "मनःनलावरुद्धम्" दो दो प्रकार का पदच्छेद करने से 'सभङ्गश्लेष' बनता है।

व्याकरण—भोगभोजिना = भोग + भुज् + णिनि (कर्त्ता में)। उह्यमानः = (प्रद्युम्न पक्ष में) वह् + लट् (कर्मणि) + यक् + शानच्। ऊह्यमानः = (कामदेव के पक्ष में) ऊह् + लट् (कर्मणि) + यक् + शानच्। **वैरोचनिः** = विरोचन + इञ्। **वैरोचनिजस्य** = वैरोचनि + जन् + ड (षष्ठी-एकवचन)। **वेशितः** = विश् + णिच् + क्त। **विदर्भजायाः** = विदर्भ + जन् + ड + टाप् (षष्ठी-एकवचन)।

समास—भोगभोजिना = भोगंभोक्तुं शीलमस्य इति भोगभोजी, तेन। अथवा भोगान् भोक्तुं शीलमस्य इति भोगभोगी तेन। **वैरोचनिजस्य** = विरोचनस्य अपत्यं वैरोचनिः, तस्माज्जातः इति वैरोचनिजः, तस्य। **अनलावरुद्धम्** = अनलेन अवरुद्धं इति (तृतीया तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—भोगभोजिना = [गरुड़ के पक्ष में] सर्पभक्षी अथवा साँप के शरीर को खाने वाले। [युवावस्था के पक्ष में—] विषय-सुखों को भोगने वाले अथवा भोगवाने वाले [भोगः सुखे स्त्र्यादि भृतावहेश्च फणकाययोः—इत्यमरः]। **वयसा**=पक्षी [गरुड़] के द्वारा। [युवावस्था के पक्ष में] यौवन अथवा युवावस्था के द्वारा [खगवाल्यादिनोर्वयः—इत्यमरः]। **उह्यमानः** = [प्रद्युम्न पक्ष में]—ढोये जाते हुये अथवा ले जाये जाते हुये। [कामदेव के पक्ष में—] **ऊह्यमानः** = जाना जाता हुआ। **मदनः** = कामदेव का अवतार

प्रद्युम्न—(कृष्ण का पुत्र), अथवा कामदेव। **वैरोचनिजस्य** = बाणासुर के। विरोचन के पुत्र का नाम बलि था। उस बलि से उत्पन्न बाणासुर। **अनलावरुद्धम्** = अग्नि से व्याप्त अर्थात् जिसके चारों ओर अग्नि प्रज्वलित थी। [दमयन्ती के मन के पक्ष में—] **नलावरुद्धम्**—पाठ मानकर—अर्थ होगा—नल में संबद्ध अथवा नल में आसक्त अथवा नल की ओर लगा हुआ। **पत्तनम्** = नगर—शोणितपुर। **प्रसह्य** = बलपूर्वक (जबरदस्ती) अथवा सहसा (एकाएक)। **वेशितः** = प्रविष्ट कराया गया।

प्रसङ्ग—राजाभीम की पुत्री दमयन्ती ने अपने काम के वशीभूत मन को राजा नल के प्रति पूर्णरूप से लगा दिया—

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥३३॥

म०—इह विरहिणां चक्षुःप्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरागस्याप्युपलक्षणमतस्तत्पूर्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयावस्थामाह—नृप इत्यादि। सा भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। निजरूपसम्पदां स्वलावण्यसम्पत्तीनामनुरूपे बहुशः 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्यामि'त्यपादानार्थे शस्प्रत्यः। श्रुतिं श्रवणं गते एतेन श्रवणानुराग उक्तः, तस्मिन् नृपे नले मनोभवाज्ञाया एकं वशंवदम् एकस्यैव विधेये शिवभागवतवत् समासः। 'प्रियवशे वदः खच्' 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना तस्य मुम्। मनो विशिष्य दिदेश अस्येदमिति निश्चित्यातिससर्जेत्यर्थः, तद्गुणश्रवणात्तदासक्तचित्तासीदित्यर्थः॥३३॥

अन्वय—सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजरूपसम्पदां अनुरूपे बहुशः श्रुतिं गते तस्मिन् नृपे मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः विशिष्य दिदेश।

संस्कृत-व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, भीमनरेन्द्रनन्दना = दमयन्ती, निजरूपसम्पदाम् = स्वसौन्दर्यसम्पत्तीनाम्, अनुरूपे = योग्ये, बहुशः = अनेकेभ्यः, श्रुतिम् = श्रवणम्, गते = प्राप्ते, तस्मिन्, नृपे = नले, मनोभवाज्ञैकवशंवदम् = मनोभवस्य कामस्य आज्ञायाः आदेशस्य एकं मुख्यं वशंवदम् = प्रवणम्, मनः = चित्तम्, विशिष्य = अतिशयेन, दिदेश = निदधौ। नलगुणश्रवणात् नलासक्तचित्तासीदित्यभिप्रायः।

हिन्दी-व्याख्या—सा=वह (उस), भीमनरेन्द्रनन्दना=राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने, निजरूपसम्पदाम्=अपने सौन्दर्य या शोभा के, अनुरूपे=अनुरूप अथवा योग्य, तथा, बहुशः=अनेक व्यक्तियों से अथवा अनेकबार, श्रुतिं गते=सुने

गये हुये, तस्मिन् नृपे = उस राजा नल के प्रति, मनोभवाज्ञैकवशंवदम् = कामदेव की आज्ञा के एकमात्र वशीभूत, मनः = मन को, विशिष्य = अतिशय-रूप से, दिदेश = लगा दिया।

भावार्थ—राजा भीम की पुत्री दयमन्ती ने चारण-वन्दी आदि जनों के मुखों से अनेकबार राजा नल के गुणों तथा प्रशंसा आदि को सुना था और तदनुसार यह समझ लिया था कि यह राजा नल सौन्दर्य आदि की दृष्टि से उस के पतिके रूप में स्वीकार किये जाने योग्य है। अतः उसने अपने काम के वशीभूत हुये मन को राजा नल की ओर लगा दिया था। कहने का तात्पर्य यह है कि कामदेव ने जब यह देखा कि राजा नल दमयन्ती के लिये सुयोग्य वर है तो उसने दमयन्ती के मन पर अपना प्रभाव डाला और उसके मन को अपने अधीन कर लिया। दमयन्ती तो पहले से ही राजा नल की ओर आसक्त थी ही। अतएव कामदेव के प्रभाव के कारण उसका मन राजा नल से मिलने हेतु प्रतिक्षण और भी उद्विग्न हो उठा।

अलङ्कार—इस पद्य में "अनुप्रास" अलङ्कार है।

व्याकरण—**नन्दना** = नन्द + णिच् + ल्यु (नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः—इस सूत्र से), + टाप्। **बहुशः** = बहु + शस्—यहाँ "बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्" से अपादान अर्थ में। तथा ("अनेकवार"–अर्थ की दृष्टि से—) "संख्यैकवचनात्" से "शस्" प्रत्यय होता है। **श्रुतिम्** = श्रु + क्तिन्। **वशंवदम्** = वश (उपपद) + वद् + खच्—यहाँ "प्रियवशे वदः खच्" से 'खच्' प्रत्यय तथा "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" से मुम् का आगम होता है। **दिदेश** = दिश् + लिट् (तिप्)—णल्।

समास—**भीमनरेन्द्रनन्दना** = भीम एव नरेन्द्रः भीमनरेन्द्रः (कर्मधारय) तस्य नन्दना (षष्ठी तत्पु०)। **निजरूपसम्पदाम्** = निजं रूपम् निजरूपम् (कर्मधारय) तस्य सम्पदः (षष्ठी तत्पु०) तासाम्। **अनुरूपे** = रूपं अनुगतः अनुरूपः तस्मिन्। **श्रुतिम्** = श्रूयते अनया इति श्रुतिः ताम्। **मनोभवाज्ञैकवशंवदम्** = मनसः मनसि वा भवतीति अथवा मनसः भवः उत्पत्तिर्यस्य स मनोभवः (बहुव्रीहि) तस्य आज्ञा (तत्पु०)। वशंवदतीति वशंवदम्, एकं वशंवदम् इति एकवशंवदम् (कर्मधारय) मनोभवाज्ञायाः एकवशंवदम्—मनोभवाज्ञैकवशंवदम् (षष्ठी तत्पु०)।

टिप्पणियाँ—**भीमनरेन्द्रनन्दना** = राजा भीम की पुत्री—दमयन्ती।

निजरूपसम्पदाम् = अपने रूपरूपी सम्पत्तियों के अर्थात् अपने सौन्दर्य के। **अनुरूपे** = अनुरूप, योग्य। **बहुशः** = अनेक व्यक्तियों से [चारण, वन्दी आदि जनों से) अथवा–अनेकबार। **श्रुतिं गते** = श्रवणोचर हुये अथवा सुने गये हुये। **मनोभवाज्ञैकवशंवदम्** = कामदेव की आज्ञा के वश में विद्यमान— अर्थात् जिसका मन कामदेव की आज्ञा पर ही आधारित हो गया था। **विशिष्य** = विशेषरूप से। **दिदेश** = लगा दिया, प्रेरित किया।

प्रसङ्ग—जब स्तुतिपाठकर्त्ता चारण आदि भीम के समीप आते थे तब दमयन्ती भी अपने पिता के पास आकर बैठ जाती थी और जब वे अन्य राजाओं का गुणगान करते हुये राजा नल का भी यशोगान करना प्रारम्भ करते थे तो दमयन्ती अति हर्षित होती थी और उसे रोमाञ्च भी हो जाता था—

उपासनामेत्य पितुस्स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम्॥ ३४॥

म०—अथास्याः श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति–उपासनामित्यादि। सा भैमी दिने दिने प्रतिदिनं 'नित्यवीप्सयोरि'ति वीप्सायां द्विर्भावः। वन्दिनां स्तुतिपाठकानामवसरेषु पितुरुपासनां सेवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दिषु भूपतीन् प्रति भूपतीनुद्दिश्य पठत्सु सत्स्विति शेषः। नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म रक्ताऽभूदित्यर्थः। रञ्जेर्दैवादिकाल्लट्। अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः। जनेः कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना च्लेश्चिणादेशः। नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः॥ ३४॥

अन्वय—सा दिने दिने वन्दिनां अवसरेषु पितुः उपासनां एत्य तेषु भूपतीन् प्रति पठत्सु नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म, विनिद्ररोमा अजनि।

संस्कृत-व्याख्या—सा = दमयन्ती, दिने दिने = प्रतिदिनम्, वन्दिनाम् = स्तुतिपाठकानाम्, अवसरेषु = समयेषु, पितुः = भीमस्य, उपासनाम् = सेवाम्, एत्य = प्राप्य, तेषु = वन्दिषु, भूपतीन् = राज्ञः, प्रति = उद्दिश्य, पठत्सु = स्तुतिपूर्वकं वदत्सु सत्सु, नलम् = निषधपतिम्, शृण्वती = आकर्णयन्ती अलम् = अत्यर्थम्, रज्यते स्म = अनुरक्ता बभूव; विनिद्ररोमा = रोमाञ्चिता, अजनि = जाता। तस्याः रोमाञ्चेन नलगुणश्रवणजन्यः रागः व्यक्तः अभूदिति भावः।

हिन्दी-व्याख्या—सा = वह [दमयन्ती], दिने दिने = प्रतिदिन,

वन्दिनाम् = वन्दियों के (राजाओं की प्रशंसा करने के) अवसरेषु = अवसरों पर, पितुः = अपने पिता भीम के, उपासनाम् = समीप, एत्य = आकर, तेषु = उन [वन्दियों] के, भूपतीन् प्रति = राजाओं के विषय में, पठत्सु = गुणगान [प्रशंसा आदि] करने पर, नलम् = राजा नल के बारे में, शृण्वती = सुनती हुयी, अलम् = पूर्णरूप से [पर्याप्त रूप से], रज्यते स्म = प्रसन्न होती थी, तथा, विनिद्ररोमा = रोमाञ्चयुक्त, अजनि = हो जाती थी। अर्थात् राजा नल के गुण और उनकी प्रशंसा सुनकर राजा नल के प्रति विद्यमान उसका प्रेम उसके शरीर में उत्पन्न हुये रोमाञ्च द्वारा स्पष्ट हो जाया करता था।

भावार्थ—राजा भीम के समीप जब भाट-चारण आदि वन्दीगण आकर उपस्थित हुआ करते थे तो वह दमयन्ती भी अपने पिता के समीप आकर बैठ जाया करती थी और जब वे वन्दीगण अन्य राजाओं का गुणगान आदि किया करते थे तो उस समय वह नल सम्बन्धी गुणों का वर्णन ध्यान पूर्वक सुना करती थी तथा मन ही मन अत्यधिक हर्षित होती थी। यहाँ तक कि हर्षाधिक्य के कारण उसका शरीर रोमाञ्चयुक्त हो जाता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि दमयन्ती के अन्दर नल-विषयक श्रवणानुराग नामक सात्विक भाव जाग्रत हो जाता था।

अलङ्कार—उक्त पद्य में राजा नल के बारे में श्रवण करने में अनुराग और तदनन्तर सात्विक-भाव के उदित होने में "भावोदय" नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—**दिनेदिने** = इस स्थल पर "नित्यवीप्सयोः" सूत्र से वीप्सा अर्थ में द्वित्व हुआ है। **उपासनाम्** = उप + आस् + "ण्यासश्रन्थो युच्" से युच् और तदनन्तर यु के स्थान पर अन हुआ है। **एत्य** = आ + इ + क्त्वा—ल्यप्। **रज्यते स्म** = रञ्ज् + लट्—यहाँ भूत-अर्थ में "स्मे लट्" से लट् लकार हुआ है। **अजनि** = जन् (दिवादिगणी) + लुङ् लकार [प्रथम पुरुष एकवचन का रूप]।

समास—**विनिद्ररोमा** = विनिद्राणि रोमाणि यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**दिनेदिने** = प्रदि दिन। **वन्दिनाम्** = स्तुति पाठ करने वाले अथवा विरुदावली का गान करने वाले भाट-चारण आदि के। **अवसरेषु** = अवसरों अथवा समयों पर—अर्थात् विभिन्न राजाओं के गुण-गान के अवसरों पर। **उपासनम्** = समीपता को। **एत्य** = प्राप्त करके। **पठत्सु** = पाठ करते हुये अथवा पढ़ते हुये होने पर—गुणगान करते हुये होने पर।

रज्यते स्म = अनुराग युक्त हो जाती थी अर्थात् दमयन्ती का हृदय राजा नल के प्रति उत्पन्न हुये अनुराग से परिपूर्ण हो जाता था। अलम् = पर्याप्तरूप से अथावा अत्यधिक रूप से। विनिद्ररोमा = पुलकायमान शीर से युक्त अथवा रोमाञ्चित। अजनि = हो जाती थी।

प्रसङ्ग—परस्पर वार्त्तालप के प्रसङ्ग सें सखी के मुख से 'नल' नामक घास का भी नाम सुन लेने पर वह (दमयन्ती) तुरन्त ही अपने कानों को उस ओर लगा देती थी—

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥ ३५॥

म०—कथेति। मिथोऽन्योऽन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेपु विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेपु सखीमुखान्नलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सति 'नलः पोटगले राज्ञी'ति विश्वः। अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्यान्तरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि। 'भुवो भावे' लङ्। अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः॥ ३५॥

अन्वय—मिथः कथाप्रसङ्गेपु सखीमुखात् नलनामनि तृणे अपि अनया तन्व्या द्रुतं अन्यत् विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया अभूयत।

संस्कृत-व्याख्या—मिथः = परस्परम्, कथाप्रसङ्गेपु=विस्रम्भगोष्ठी प्रसङ्गेपु, सखीमुखात् = सख्याः वयस्यायाः मुखात् आननात्, नलनामनि = नलाख्ये, तृणे अपि = तृणविशेषेऽपि, श्रुते = आकर्णिते, सति, अनया तन्व्या = दमयन्त्या, द्रुतम् = शीघ्रमेव, अन्यत् = इतरत् कार्यं, विधूय = त्यक्त्वा, मुदा = हर्षेण, तदाकर्णनसज्जकर्णया = तस्य नलशब्दस्य आकर्णने श्रवणे सज्जकर्णया दत्तकर्णया, अभूयत = अभावि। अर्थान्तरप्रयुक्तः अपि नलशब्दः राज्ञः नलस्य स्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—मिथः = परस्पर, कथाप्रसङ्गेपु = वार्त्तालाप के प्रसङ्ग में, सखीमुखात् = सखी के मुख से, नलनामनि = 'नल' नामक [नरसल], तृणे = घास के विषय सें अपि = भी, श्रुते = सुन लेने पर, अनया तन्व्या = यह कोमल अङ्गों वाली दमयन्ती, द्रुतम् = तुरन्त, अन्यत् = दूसरी बात अथवा दूसरे कार्य को, विधूय = छोड़कर, मुदा = हर्ष से, तदाकर्णनसज्जकर्णया = उसको ही सुनने के लिये उद्यत कानों वाली, अभूयत् = हो जाती थी।

भावार्थ—आपस में वार्त्तालाप के अवसरों पर अपनी सखी के मुख से तृण (नरसल नामक घास) के बारे में भी 'नल' नाम सुनकर कृशाङ्गी दमयन्ती तुरन्त ही अन्य बातचीत अथवा कार्य को छोड़कर ["मेरी यह सखी मेरे प्रियतम 'नल' की ही चर्चा कर रही है" ऐसा समझ कर] उस बात को सुनने में ही दत्तचित्त हो जाती थी।

यदि कभी वार्त्तालाप करती हुयीं दमयन्ती की सखियाँ प्रसङ्गवश 'नल' नामक घास का नाम भी ले लेती थीं तो दमयन्ती, यह समझ कर कि ये राजा नल के बारे में कुछ कह रही हैं, सब कार्यों का त्याग कर उनकी बातों की ही ओर अपने कानों को लगा दिया करती थी।

इस वर्णन से दमयन्ती का नल के प्रति अनन्य प्रेम ही अभिव्यक्त होता है।

अलङ्कार—इसमें 'अतिशयोक्ति' नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—तन्व्या=तनु + ङीष = तन्वी (तृतीया एकवचन में-तन्व्या)।, **प्रभूयत्** = भू + लङ् (भाव में) प्रथम पुरुष-एकवचन का रूप।

समास—**कथाप्रसङ्गेषु** = कथायाः प्रसङ्गः इति कथाप्रसङ्गः तेषु। **सखीमुखात्** = सख्याः मुखात्-इति। **तदाकर्णनसज्जकर्णया** = तस्य आकर्णनम् (षष्ठी तत्पु०) इति तदाकर्णनम् तस्मिन् सज्जौ कर्णौ यस्याः सा तदाकर्णनसज्जकर्णा (बहुव्रीहि) तया।

टिप्पणियाँ—**मिथः** = परस्पर, आपस में अथवा एकान्त में। **कथाप्रसङ्गेषु** = कथा अथवा बातचीत के प्रसङ्ग में। यहाँ "कथानुषंगेषु" पाठभेद भी है। **नलनामनि** = नल नामक अथवा नरसल या नरकट नामक। **तृणे** = घास का नाम लेने पर। **श्रुते** = सुन लेने पर। **तन्व्या** = कोमल अङ्गोंवाली दमयन्ती के द्वारा। **द्रुतम्** = शीघ्र ही, तत्काल ही, तुरन्त ही। **विधूय** = छोड़ कर अथवा त्यागकर। **मुदा** = हर्ष से, प्रसन्नता से—"मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः" इत्यमरः। **तदाकर्णनसज्जकर्णया** = 'नल' शब्द के श्रवण करने में लगादिया है अपने कानों को जिसने—ऐसी (दमयन्ती)। **अभूयत** = हो जाती थी।

प्रसङ्ग—सौन्दर्य में उसकी सखियाँ स्मृत-कामदेव के स्थान पर उपमान के रूप में राजा नल का ही नाम प्रस्तुत किया करती थीं—

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥३६॥

म०—स्मरादिति । परासोर्मृतात् अत एवानिमेषलोचोनान्निश्चालाद्याहे-वादिति च गम्यते । उभयथापि भयहेतूक्तिः । तस्माद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरेति तत्सदृशं निदर्शयेत्याह सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोगकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जनपद-शब्दात्क्षत्रियादञ्' । अभ्यषेचयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः । स च नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नल उदाहृतेऽनुतर्षं शृणोतीति रागाति-रेकोक्तिः । 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—परासोः अनिमेषलोचनात् स्मरात् बिभेमि । "तत् भिन्नं उदाहर" इति सा यूनः स्तुवता जनेन तदास्पदे नैषधं निदर्शनं अभ्यषेचयत् ।

संस्कृत-व्याख्या—परासोः=मृतात्, अनिमेषलोचनात्=निमेषरहितनेत्रात्, स्मरात्=कामात्, बिभेमि=भयमनुभवामि । तत् = तस्मात् कामात्, भिन्नम् = अन्यम्, उदाहर = निदर्शय, इति = अनेन प्रकारेण, सा = दमयन्ती, यूनः=युवा-पुरुषान्, स्तुवता=प्रशंसता, जनेन=प्रयोज्यकर्त्रा, तदास्पदे=स्मरस्थाने, नैषधम्= निषधानां राजानं नलम्, निदर्शनम् = दृष्टान्तम्, अभ्यषेचयत् = स्थापयामास ।

हिन्दी-अनुवाद—परासोः = मृत अथवा निष्प्राण, अनिमेषलोचनात् = निर्निमेष नेत्रों वाले, स्मरात् = कामदेव से [मैं], बिभेमि = डरती हूँ । [अतएव] तद्भिन्नम् = उससे भिन्न किसी अन्य का, उदाहर = उदाहरण दो । इति = इस प्रकार, सा = उस दमयन्ती ने, यूनः = यूवकों की, स्तुवता = प्रशंसा करने वाले, जनेन = [सखी] जन से, तदास्पदे = उस कामदेव के स्थान पर, नैषधम् = निषधदेश के राजानल को, निदर्शनम् = उदाहरण अथवा दृष्टान्त के रूप में, अभ्यषेचयत् = अभिषिक्त कराया ।

भावार्थ—"मृत (अतएव) निर्निमेष नेत्रों वाले कादेव से मैं डरती हूँ । अतः कोई अन्य उदाहरण प्रस्तुत करो" ऐसा कहकर उस दमयन्ती ने युवा पुरुषों की प्रशंसा करते हुये (सखी) लोगों के द्वारा कामदेव के स्थान पर नल को अभिषिक्त कराया ।

दमयन्ती की सखियाँ सुन्दर युवा व्यक्तियों की प्रशंसा करती हुयी उनकी उपमा कामदेव से दिया करती थीं । किन्तु दमयन्ती राजा नल के प्रति अनुराग रखने के कारण युवकों के वर्णन में उपमा के रूप में राजा नल का ही नाम

सुनना चाहती थी। अतः वह अपनी सखियों से कहती थी कि मुझे मरे हुये तथा निमेषरहित कामदेव से भय प्रतीत होता है। अतः तुम लोग उपमान कामदेव के स्थान पर किसी अन्य का नाम लो। कामदेव के स्थान पर लोक में उपमान होने योग्य नल के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति था ही नहीं अतः उसकी सखियाँ राजा नल का ही नाम उपमान के स्थान पर प्रस्तुत कर देती थीं। इस भाँति दमयन्ती अपने अभिलषित को अप्रकट रूप से करा लेती थी।

शिव जी द्वारा कामदेव को भस्म कर दिया गया था। अतः वह मृत थे मृत व्यक्ति का निमेषशून्य होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त कामदेव को भी देवताओं की श्रेणी में रखा जाता है। देवगण निमेषशून्य होते ही हैं।

जब किसी राजा आदि विशिष्ट व्यक्ति की मृत्यु हो जाया करती है तब उसके स्थान पर किसी अन्य विशिष्ट व्यक्ति को अभिषिक्त किया जाता है। कामदेव को तो शिव द्वारा भस्म किया ही जा चुका है। अतएव वे मृत हैं। उनके स्थान पर किसी अन्य अनुपम सुन्दर व्यक्ति का नाम उपमान रूप में लिया जाना आवश्यक ही था। अतः उसके स्थान पर अपूर्व सौन्दर्य युक्त नल का नाम लेना उचित ही है।

अलङ्कार—कामदेव देवता होने से निमेषशून्य हैं। उसे यहाँ मरा हुआ अतएव निमेषशून्य होने तथा उससे भय-भीत होने सम्बन्धी "उत्प्रेक्षा" की गयी है।

महाकवि ने जिस कामदेव को यहाँ मृतक रूप में प्रस्तुत किया है। उसी के स्थान पर "तदास्पदे" पद का प्रयोग कर नल को प्रस्तुत किया है। अत एव इस स्थल पर अमङ्गलसूचक अश्लील दोष आ गया है।

व्याकरण—उदाहर = उद् + आ + हृ + लोट्—सिप्—हि—लुक् । **स्तुवता** = स्तु + लट् = शतृ = स्तुवन् (तृतीया एकवचन का रूप)। **निदर्शनम्** = नि + दृश् + णिच् + ल्युट्—अन। **नैषधः** = निषध + अण् ("तस्येदम्" से)॥ **स्मरात्** = यहाँ "भीत्रार्थानां भयहेतुः" सूत्र से पंचमी विभक्ति हुयी है। **अभ्यषेचयद्** = अभि + सिच् + णिच् + लङ्—तिप्।

समास—परासोः = परागताः असवः (प्राणाः) यस्य सः (बहुव्रीहि) परासुः तस्मात्। **अनिमेषलोचनात्** = नास्ति निमेषो ययोः ते अनिमेषे, अनिमेषे लोचने यस्य सः (बहुव्रीहि) तस्मात्। **तदास्पदे** = तस्य आस्पदम्

इति तदास्पदम् (षष्ठी तत्पु०) तस्मिन् । नैषधम्—निषधानां अयमिति नैषधः तम् ।

टिप्पणियाँ—परासोः = प्राणरहित-मृत-निष्प्राण । **अनिमेषलोचनात्**= निमेषशून्य अथवा निश्चल नेत्रों से युक्त । **स्मरात्**=कामदेव से । **उदाहर**= उदाहरण अथवा दृष्टान्त दो । **स्तुवता** = प्रशंसा करते हुये । **तदास्पदे** = उस (कामदेव) के स्थान पर । **निदर्शनम्** = उदाहरण अथवा दृष्टान्त । **नैषधम्** = राजा नल । **अभ्यषेचयत्** = अभिषिक्त कराया ।

प्रसङ्ग—निषधदेश से आये हुये दूतों, ब्राह्मणों, वन्दियों तथा चारणों से वह दमयन्ती (उस देश के राजा का नाम क्या है ? प्रजाओं का पालन कैसा करता है ? तथा उसकी क्या २ विशेषतायें हैं ? इत्यादि प्रकारों से) राजा नल के गुणों को ही पूछा करती थी—

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः ।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥ ३७ ॥

म०—नलस्येति । निषधेभ्य आगता दूताः सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, वन्दिनः स्तावकाः चारणाः देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य गुणान् पृष्टाः पृच्छतेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः । अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्त्तिकथा नलस्य यशःकथामृतं निपीय नितरां श्रुत्वेत्यर्थः । चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या भृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ततो लटः शानचादेशः । तदा तस्थे स्थितं तिष्ठतेर्भावे लिट् । अयञ्च दूतादिव्यवधाने गुणकीर्त्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभवः ॥ ३७ ॥

अन्वय—निषधागता दूतद्विजवन्दिचारणाः मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टाः, अथ तत्कीर्तिकथां निपीय अनया चिराय विमनायमानया तस्थे ।

संस्कृत-व्याख्या—निषधागताः = निषधदेशात् आगताः, दूतद्विजवन्दिचारणाः = दूताः सन्देशहराः द्विजाः ब्राह्मणाः वन्दिनः स्तुतिपाठकाः चारणाः देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे, मिषेण = व्याजेन, नलस्य, गुणान् = सौन्दर्यादीन्, पृष्टाः = जिज्ञासिताः, अथ = प्रश्नानन्तरम्, तत्कीर्तिकथाम् = तस्य नलस्य कीर्तिकथां यशः कथामृतम्, निपीय = नितरां श्रुत्वा, अनया = दमयन्त्या, चिराय = चिरकालं यावत्, विमनायमानया = विमनीभवन्त्या, तस्थे = स्थितम् ।

हिन्दी-अनुवाद—निषधागताः = निषधदेश से आये हुये, दूतद्विजवन्दि-

चारणाः = दूतों, ब्राह्मणों, स्तुतिपाठकों तथा चारणों से, [वह दमयन्ती], भिषेण = किसी बहाने से, नलस्य = नल के, गुणान् = गुणों को, पृष्टाः = पूछती थी अथ = और तदनन्तर, तत्कीर्तिकथाम् = उस राजा नल के यशसम्बन्धी वर्णन को, निपीय = भली भाँत पानकर (सुनकर), अनया = दमयन्ती, चिराय = बहुत समय तक, विमनायमानया तस्थे = अन्यमनस्क रहा करती थी।

भावार्थ—वह दमयन्ती निषध देश से आये हुये दूतों, ब्राह्मणों, वन्दीजनों तथा भाटों चारणों आदि से यह प्रश्न किया करती थी कि उस देश का राजा कौन है—? प्रजा के साथ उसका व्यवहार कैसा है ? कौन-कौन से विशिष्ट गुणों से वह सम्पन्न है ? इसके पश्चात् उन लोगों द्वारा वर्णित राजा नल की उत्तम-कीर्ति तथा गुणों आदि का श्रवण कर वह अन्यमनस्क हो जाया करती थी। वह इस सोच में पड़ जाती थी कि ऐसे सद्गुणों एवं कीर्ति से युक्त राजा नल को मैं किस भाँति प्राप्त कर सकूगी ? इस भावना से वह बहुत समय तक अन्य-मनस्क रहा करती थी **अथवा**—ऐसे उत्तमगुणों से युक्त राजा नल के प्रति मेरा अनुराग हुआ है। अतः उनको प्राप्तकर मैं निश्चय ही कृतकृत्य हो जाऊँगी। इस भावना से वह बहुत समय तक आनन्द का अनुभव करते हुये उदासीन रूप में स्थित रहा करती थी।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'भावोदय' नामक अलङ्कार की संभावना की जा सकती है।

व्याकरण—गुणान् पृष्टाः = इस स्थल पर "प्रच्छ्" धातु के द्विकर्मक होने के कारण "पृष्टा" में कर्म में 'क्त' प्रत्यय हुआ है तथा कर्म के उक्त होने के कारण "दूतद्विजवन्दिचारणाः" में द्वितीया-विभक्ति नहीं हुयी है। 'गुणान्' में "न लोका"—इत्यादि सूत्र से षष्ठी का निषेध हो जाने पर द्वितीया (वहुवचन) विभक्ति हुयी है। **निपीय** = नि + पा + क्त्वा—ल्यप् + ईत्व होकर। **चिराय** = यह अव्यय शब्द है। **विमनायमानया** = विमनस् + क्यङ् (नामधातु), 'स' का लोप, दीर्घ होने के पश्चात् + शानच् + टाप् विमनायमाना—[तृतीया एकवचन]। **तस्थे** = स्था + लिट् (भाव में)।

समास—दूतद्विजवन्दिचारणाः = दूताश्च द्विजाश्च वन्दिनश्च चारणाश्च इति दूतद्विजवन्दिचारणाः (द्वन्द्व समास)। **विमनायमानया** = विमना इव आचरति इति विमनायते—विमनायमाना तया—विमनायमानया।

टिप्पणियाँ—निषधागताः = निषध देश से आये हुये। प्राचीनकाल में 'निषध' नामक एक देश था जिसके अधिपति राजा नल थे। इसकी राजधानी 'अलका' नामक नगरी थी—यह नदी तट पर स्थित थी। **दूतद्विजवन्दिचारणाः** = दूतों, ब्राह्मणों, वन्दियों (स्तुति–प्रशंसा करने वालों) और चरणों (भाटों) से। **मिषेण** = व्याज से—बहाने से। **गुणान् पृष्टाः** = गुणों को पूछती थी। **निपीय** = निश्शेप रूप से पानकर के—भलीभाँति [सन्तोष के साथ] सुनकर। **चिराय** = अधिक समय तक—चिरकालपर्यन्त। **विमनायमानया** = अन्यमनस्क होकर अथवा उदासीनता के साथ। **तस्थे** = उपस्थित रही—स्थित रहती थी।

प्रसङ्ग—उपर्युक्त पाँच श्लोकों में नल के प्रति दमयन्ती के श्रवणजन्य अनुराग का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अब महाकवि द्वारा चित्र एवं स्वप्न आदि में दर्शनजन्य दमयन्ती के अनुराग का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

म०—प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः, अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागञ्चास्या दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह—प्रियमिति। सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत्। समाहारो द्विगुरेकवचनम्। तस्य जयिनो लोकत्रयजित्वरी श्रीः शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रियं प्रियाञ्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। लिखेत्युक्तौ कारुतरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं रूपसाम्यापादनम् ईक्षते स्म ॥ ३८ ॥

अन्वय—अधिलीलागृहभित्ति त्रिजगज्जयिश्रियौ कावपि प्रियं प्रियां च लिख इति सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म।

संस्कृत-व्याख्या—अधिलीलागृहभित्ति = विलासवेश्मकुड्ये, त्रिजगज्जयिश्रियौ = त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत् तत् जयति इत्येवंशीला श्रीः शोभा ययोः तादृशौ, कावपि = अनिर्दिष्टनामानौ, प्रियम् = नायकम्, प्रियाम् = नायिकां च, लिख = चित्रय, इति = एवम्, सा = दमयन्ती, कारुतरेण = कुशलशिल्पिना, लेखितम् = चित्रितम्, नलस्य च, स्वस्य च = स्वकीयस्य च, सख्यम् = रूपसाम्यापादनं रूपसादृश्यम् वा, ईक्षते स्म = पश्यति स्म।

हिन्दी-अनुवाद—अधिलीलागृहभित्ति = क्रीड़ागृह अथवा विलासगृह की

दीवाल पर, त्रिजगज्जयिश्रियौ = तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य (शोभा) वाले—अथवा–तीनों लोकों को जीतने वाली शोभा से युक्त, कावपि = किन्हीं दो, प्रियम् = प्रेमी, च = और, प्रियाम् च = प्रेमिका के, लिख = चित्र बनाओ । इति = इस प्रकार [कहकर], सा = वह दमयन्ती, कारुतरेण = चतुर शिल्पी अथवा चित्रकार के द्वारा, लेखितम् = चित्रित, नलस्य = राजा नल के, च = और, स्वस्य च = अपने, सख्यम् = रूपसादृश्य को, ईक्षते स्म = देखा करती थी ।

भावार्थ—वह दमयन्ती 'लोकत्रय-विजयिनी सुन्दरतावाले किसी प्रिय तथा प्रिया अर्थात् स्त्री-पुरुष को विलासगृह की दीवाल पर चित्रित करो' ऐसा कहने पर चित्रकार द्वारा चित्र में बनाये गये राजा नल के तथा अपने रूपसाम्य को देखा करती थी ।

अपने प्रिय के चित्र के दर्शन द्वारा उत्कण्ठा दूर करने की इच्छा से दमयन्ती चित्रकार से लीलागृह की दीवाल पर संसार में सबसे अधिक सुन्दर युवक तथा युवती का चित्र बनाने को कहती और चित्रकार नल तथा दमयन्ती का चित्र बना देता—क्योंकि ये दोनों ही संसार में सर्वाधिक सुन्दर थे । इस चित्र को देखकर दमयन्ती अपना मनोरञ्जन कर लेती थी ।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'उपमेयोपमा' नामक अलङ्कार व्यञ्जित हो रहा है ।

व्याकरण—सख्यम् = सखि + यत् (भाव में) । **ईक्षते स्म** = यहाँ 'स्म' के योग में भूत अर्थ में 'लट्' लकार का प्रयोग हुआ है । **कौ** = यहाँ पर "पुमान स्त्रिया" सूत्र से एकशेषसमास हुआ है ।

समास—अधिलीलागृहभित्ति = लीलायाः गृहम्—इति (षष्ठी तत्पु०) अथवा लीलार्थं वा गृहम् (चतु० तत्पु०), तस्य भित्तिः (षष्ठी तत्पु०), लीलागृहभित्तौ इति अधिलीलागृहभित्ति—यहाँ "अव्ययं विभक्तिसमीप'— इत्यादि सूत्र से अव्यय के साथ सुबन्त का समास हुआ है (अव्य० समास) । **त्रिजगज्जयिश्रियौ** = त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत्, त्रिजगत् जयतीत्येवंशीला त्रिजगज्जयिनी ["जिदक्षि—" इत्यादि सूत्र से "इनि" प्रत्यय] त्रिजगज्जयिनी श्रीः ययोः तौ त्रिजगज्जयिश्रियौ (बहु० समा०) । पुंवद्भाव । **कारुवरेण** = कारुषु तरः कारुतरः (सप्तमी तत्पु०) तेन । **सख्यम्** = सख्युर्भावः सख्यम् ।

टिप्पणियाँ—**अधिलीलागृहभित्ति** = लीलागृह अथवा विलासगृह की दीवाल पर। **त्रिजगज्जयिश्रियौ** = तीनों लोकों के सौन्दर्य को जीत लिया है जिन्होंने अर्थात् त्रिभुवन विजयी शोभा (सौन्दर्य) से युक्त। **प्रियं-प्रियाम्** = प्रेमी-प्रेमिका अथवा नायक नायिका को। **कारुतरेण** = उत्तम शिल्पी अथवा चित्रकार द्वारा ["कारुः शिल्पी" इत्यमरः]। **सख्यम्** = सादृश्य, सौन्दर्य के अथवा रूप के सादृश्य को। इस स्थल पर 'सखि' शब्द-का लक्षणया सदृश अर्थ में प्रयोग किया गया है। **ईक्षते स्म** = देखा करती थी, देखती थी॥

अपने प्रिय का दर्शन तीन रूपों में किया जाया करता है (१) चित्र दर्शन (२) स्वप्नदर्शन तथा (३) साक्षात् दर्शन। इस श्लोक में चित्र द्वारा दर्शन का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

प्रसङ्ग—यद्यपि दमयन्ती ने नल का साक्षात् दर्शन अभी तक नहीं किया था किन्तु फिर भी अपने प्रारब्ध कर्मों के परिणाम स्वरूप वह स्वप्न में उनको देख लेती थी—

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्॥ ३९॥

म०—मनोरथेनेति। मनोरथेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृतं स्वभर्तृकृतं नलम् अभूततद्भावेच्वौ दीर्घः। स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती। तथा हि सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भावः। अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादृष्टात्तादृक् स्वप्न-ज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ३९॥

अन्वय—मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं स्वपती सा क निशि न पश्यति स्म? सुप्तिः अदृष्टवैभवात् अदृष्टमपि अर्थं जनदर्शनातिथिं करोति।

संस्कृत-व्याख्या—मनोरथेन = संकल्पेन, स्वपतीकृतम्, नलम् = नैषधम्, स्वपती = निद्राती, सा = दमयन्ती, क्व = कुत्र, निशि = रात्रौ, न पश्यति स्म = न दृष्टवती? सुप्तिः = स्वप्नः, अदृष्टवैभवात् = प्राक्तनभाग्यबलात्, अदृष्टमपि = अत्यन्ताननुभूतमपि, अर्थम् = वस्तु, जनदर्शनातिथिम् = लोकदृष्टि-गोचरम्, करोति = विदधाति॥

हिन्दी-अनुवाद—मनोरथेन = संकल्प के द्वारा, स्वपतीकृतम् = अपना

पति बनाये हुये, नलम् = राजा नल को, स्वपती = निद्रा में पड़ी हुयी, सा = वह दमयन्ती, क्व निशि = किस रात्रि में, न पश्यति स्म = नहीं देखती थी ? अर्थात् सभी रात्रियों में देखा करती थी । [क्योंकि] सुप्तिः = स्वप्न, अदृष्टवैभवात् = पुरातन भाग्य के बल से, अदृष्टमपि अर्थम् = कभी न देखी गयी हुयी वस्तु को भी, जनदर्शनातिथिम् = लोगों की दृष्टि का अतिथि, करोति = कर देता है अथवा बना देता है ।

भावार्थ—अपने मन के द्वारा संकल्पित तथा अपने पति के रूप में स्वीकृत राजा नल को वह दमयन्ती प्रतिदिन रात्रि में सोयी हुयी अवस्था में देखा करती थी । क्योंकि स्वप्न पहले कभी न देखे गये हुये पदार्थ को भी पूर्वजन्मकृत भाग्य के बल से मनुष्य को अवश्य दिखला दिया करता है । चूँकि भाग्य दमयन्ती को स्वप्न में राजा नल का दर्शन करा देने वाला है, अतएव दमयन्ती का राजा नल के प्रति किया गया हुआ प्रेम भाग्य द्वारा अनुमोदित ही प्रतीत होता है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि "यद्यपि दमयन्ती ने राजा नल को पहले कभी नहीं देखा था किन्तु फिर भी वह उसे स्वप्न में देख लेती थी क्योंकि कभी पहले न देखी गयी वस्तु का दर्शन भी स्वप्नावस्था में प्रारब्ध द्वारा हो जाया करता है ।"

अलङ्कार—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध भाग में "स्वपती" तथा उत्तरार्धभाग में "अदृष्ट" पदों की आवृत्ति के भिन्न २ अर्थ होने के कारण यहाँ "यमक" अलङ्कार है । इसके अतिरिक्त उक्त श्लोक के पूर्वार्धभाग में वर्णित विषय का उत्तरार्धभाग के सामान्य वर्णन द्वारा समर्थन किये जाने से "अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार भी बन जाता है ।

व्याकरण—**स्वपतीकृतम्** = स्वपति + च्वि, ईत्व, दीर्घ—कृ + क्त । **स्वपती** = स्वप् + लट्—शतृ + ङीप । **सुप्तिः** = स्वप् + क्तिन् ।

समास—**मनोरथेन** = मनसः रथः—मनोरथः तेन । **स्वपतीकृतम्** = स्वस्य पतिः स्वपतिः, न स्वपतिः इति = अस्वपतिः, अस्वपतिः स्वपतिः कृतः इति स्वपतीकृतः तम् । **जनदर्शनातिथिम्** = जनस्य दर्शनम् इति जनदर्शनम्, तस्य अतिथिः—तम् ।

टिप्पणियाँ—**मनोरथेन** = इच्छा अथवा मन में किये संकल्प के द्वारा । **स्वपतीकृतम्** = जिसको अपना पति मान लिया गया है उसको—अर्थात्

राजा नल को। **स्वपती** = शयन करती हुयी अथवा निद्रा की अवस्था में विद्यमान। **अदृष्टवैभवात्** = [अपने पुरातन] भाग्य के वैभव से—भाग्य के प्रभाव से। **अदृष्टमपि अर्थम्** = जीवन में पहले कभी भी न देखी गयी हुयी वस्तु को। **जनदर्शनातिथिम्** = लोगों के दर्शनों के अतिथि के रूप में—अर्थात् लोगों द्वारा देखे जाने योग्य। **करोति** = कर देता है—बना देता है।

प्रसङ्ग—जैसे कोई दासी चुपके से नायिका को किसी नायक को संकेत द्वारा दिखला दिया करती है उसी प्रकार से निद्रा ने दमयन्ती को राजा नल का दर्शन कराया—

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपतिः ॥४०॥

म०—निमीलितादिति। निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान्मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनांमौनेन व्यापारराहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टब्धात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः। हृदो हृदयादपिसङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छती'त्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम्। अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामथर्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव। तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह=कदाप्यवीक्षित इति। अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः महद्रहस्यमतिगोप्यं वस्तु स महीपतिर्नलः। अस्या भैम्या अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। यथा काचिच्चेटी कस्यैचित्कामिन्यै कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः ॥ ४० ॥

अन्वय—निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् च बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् हृदः अपि संगोप्य कदापि अवीक्षितः महत् रहस्यं स महीपतिः अस्याः अदर्शि।

संस्कृत-व्याख्या—निद्रया = प्रयोजिकया सुषुप्त्या, निमीलितात् = मुकुलितात्—उपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगात् = नेत्रद्वयात्, च, बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बाह्य इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौनेन स्वविषयग्रहणाभावेन मुद्रितात् प्रतिष्टब्धात् मनसः बहिरस्वातन्त्र्यात्—इति भावः, हृदः अपि = हृदयादपि, संगोप्य = गोपयित्वा-इत्यर्थः, कदापि अवीक्षितः = अत्यन्तादृष्टचरः-इत्यर्थः, महद् रहस्यम् = अतिगोप्यं वस्तु, स महीपतिः = नलः, अस्याः = दमयन्त्याः, अदर्शि = दर्शयाञ्चक्रे। यथा काचित् दासी कस्यैचित् कामिन्यै कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तथैव निद्रा दमयन्त्यै नलं संगोप्य अदर्शयत्।

हिन्दी-अनुवाद—निद्रया = निद्रा ने, निमीलितात् = बन्द हुयी, अक्षियुगात् = दोनों आखों से, च = और, बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बहिरिन्द्रियों के अपने २ विषयों को ग्रहण न करने के कारण स्तब्ध, हृदः अपि = हृदय से भी, संगोप्य = छिपाकर, कदापि = कभी भी, अवीक्षितः = न देखे गये हुये, महद्रहस्यम् = अत्यधिक रहस्य रूप, स महीपतिः = उस राजानल को, अस्याः = इस [दमयन्ती] को, अदर्शि—दिखला दिया।

भावार्थ—निद्रा ने बन्द हुये दोनों नेत्रों से तथा बाह्य (कर्ण आदि) इन्दियों के अपने २ विषय (सुनना आदि) को ग्रहण करने में मौन हो जाने से स्तब्ध अर्थात् शयन-अवस्था में विषयों को ग्रहण न करते हुये हृदय से भी छिपाकर, कभी पहले न देखे गये हुये अतएव रहस्य रूप उस राजा नल को इस दमयन्ती के लिये दिखला दिया।

जैसे कोई चतुर दूती नायिका को अन्य लोगों से छिपाकर उसके प्रियतम नायक को दिखला दिया करती है उसी प्रकार निद्रा ने भी, नायिका दमयन्ती द्वारा जिनका दर्शन पहले कभी नहीं किया जा सका था, ऐसे नायक राजा नल को नायिका दमयन्ती को दिखला दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि दमयन्ती ने राजा नल को स्वप्न में देखा किन्तु उसके दोनों नेत्रों तथा वाह्य-इन्द्रियों की क्रिया से रहित हृदय को भी इसका पता न लग सका।

जाग्रत् अवस्था में किसी वस्तु अथवा पदार्थ अथवा व्यक्ति का चाक्षुष ज्ञान मन के नेत्रेन्द्रिय के साथ तथा नेत्रेन्द्रिय का उस वस्तु के साथ सम्बद्ध होने पर ही संभव है किन्तु स्वप्नावस्था में होने वाला ज्ञान केवल मानस ही है क्योंकि इस अवस्था में वाह्य-इन्द्रियां व्यापार-शून्य रहा करती हैं। इस कारण यहाँ यह कहा गया है कि निद्रा ने, नेत्रों तथा शेष वाह्य-इन्द्रियों के मौन से मुद्रित मन से छिपाकर राजा नल का दर्शन दमयन्ती को कराया।

अलङ्कार—इसमें रूपक अलङ्कार की प्रतीति होती है।

व्याकरण—संगोप्य = सम् + गुप् + णिच् + क्त्वा—ल्यप्। अदर्शि = दृश् + णिच् + लुङ् (कर्म में)।

समास—वाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = वाह्येन्द्रियाणां मौनेन मुद्रितात्।

टिप्पणियाँ—निद्रया = निद्रा के द्वारा। निमीलितात् = बन्द हुयीं। अक्षियुगात् = दोनों नेत्रों से। वाह्येनिद्रियमौनमुद्रितात् = वाह्य-इन्द्रियों

द्वारा अपने २ विषयों का ग्रहण न किये जाने के कारण सुप्त अथवा शून्य। हृदः = हृदय से, मन से। संगोप्य = छिपाकर। अदर्शि = दिखला दिया।

प्रसङ्ग—कामपीड़ित उस दमयन्ती को हेमन्त ऋतु की रात्रियाँ बड़ी प्रतीत होने लगी—

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्त्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥४१॥

म०—अथास्याश्चिन्ताजागरावाह—अहो इति। हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दितां तां दमयन्तीं प्रति अहोभिर्दिवसैः अतिमहिमा अतिवृद्धिः प्रपेदे तथा तपर्त्तुपूर्त्तावपिग्रीष्मान्तेऽपि विभावरीभिर्निशाभिः मेदसां भरा मांसराशयोऽतिवृद्धिरिति यावत्। बिभराम्बभूविरे बभ्रिरे, भृञः कर्मणि लिट् आम् प्रत्ययः। अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः। विरहिणां तथा प्रतीयत इत्यविरोधः, एतेनास्या निरन्तरचिन्ता जागरश्च गम्यते। अहोशब्दस्य 'ओदि' ति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः॥

अन्वय—अहो, स्मरार्दितां तां प्रति हिमागमे अपि अहोभिः अति महिमा प्रपेदे। तपर्तुपूर्त्तौ अपि विभावरीभिः मेदसां भरा बिभरांबभूविरे।

संस्कृत-व्याख्या—अहो = आश्चर्यम्, स्मरार्दिताम् = कामपीडिताम्, ताम् = दमयन्तीं, प्रति = लक्ष्यीकृत्य, हिमागमे अपि = हेमन्ते अपि, अहोभिः= दिवसैः, अति महिमा = दैर्घ्यम्, प्रपेदे = प्राप्तः। [अभिप्रपेदे पाठोऽपि लभ्यते] तपर्तुपूर्त्तौ अपि = ग्रीष्मान्ते अपि, विभावरीभिः = निशाभिः, मेदसां भरा = मांसलतातिशयः—स्थूलत्वमिति यावत्, बिभरांबभूविरे = बभ्रिरे।

हिन्दी-अनुवाद—अहो = आश्चर्य की बात है कि, स्मरार्दिताम् = कामपीड़ित, ताम् = उस दमयन्ती के प्रति अथवा [दनयन्ती को] लक्षित करके, हिमागमे अपि = हेमन्त ऋतु के आ जाने पर भी, अहोभिः = दिनों ने, अति महिमा = दीर्घता को, प्रपेदे = प्राप्त कर लिया। [तथा] तपर्तुपूर्त्तौ अपि= ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर भी, विभावरीभिः = रात्रियों ने, मेदसां भरा = अतिशय मांसलता स्थूलता (लक्षणा से) दीर्घता, बिभरांबभूविरे = धारण करली।

भावार्थ—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उस दमयन्ती के लिये हेमन्तऋतु में भी दिन बड़े प्रतीत होने लगे तथा ग्रीष्म ऋतु की पूर्णता होने पर भी रात्रियाँ बड़ी प्रतीत हुयीं।

हेमन्तऋतु में दिन तथा ग्रीष्म-ऋतु में रात्रि छोटी हो जाया करती हैं। विरह अवस्था में अल्प-काल भी बहुत बड़ा प्रतीत होने लगा करता है। अतः नल के विरह का अनुभव करने वाली दमयन्ती को हेमन्तऋतु सम्बन्धी दिन तथा ग्रीष्मकालीन रात्रियाँ अत्यधिक लम्बी प्रतीत हो रहीं थी।

अलङ्कार—उपर्युक्त श्लोक में हिम-आगम रूप कारण के रहते हुये होने पर भी दिनों का लघुत्व नहीं हुआ तथा ग्रीष्म रूप कारण के विद्यमान रहते हुये भी रात्रियों में लघुता का कथन न किये जाने से "विशेषोक्ति" अलङ्कार की संभावना की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त श्लोक के अन्तिम चरण में "अनुप्रास" अलङ्कार है।

व्याकरण—अहो = यह आश्चर्य वाचक अव्यय है। इस स्थल पर "ओत्" सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा तथा प्रकृतिभाव हो जाने के कारण "एङःपदान्तादति" सूत्र से होने वाला पूर्वरूप नही हुआ। **अभिप्रपेदे** = अभि (उपसर्ग) प्र + पद् + लिट् (लकार)। **विभरांबभूविरे** = भृ + लिट्।

समास—हिमागमे—हिमस्य आगमः इति हिमागमः तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—स्मरार्दिताम् = काम से पीड़ित अथवा विह्वल। **हिमागमे** = हेमन्त ऋतु में [अगहन तथा पौष मास में हेमन्त ऋतु होती है।] **अहोभिः** = दिनों ने। **महिमा** = महत्व (लक्षणा-व्यापार द्वारा) महानता अथवा दीर्घता-लम्बा हो जाना)। **अभिप्रपेदे** = प्राप्त की। **तपर्तुपूर्तौ**=ग्रीष्म ऋतु की पूर्णता पर। **विभावरीभिः** = रात्रियों ने। **मेदस्वांभरा** = मेद के (चर्बी के) कारण अत्यधिक स्थूलता—अर्थात् दीर्घता। **विभरांबभूविरे** = धारण की—स्वीकार की।

प्रसङ्ग—इधर राजा नल ने भी जब दमन्यती के गुणों का श्रवण किया तब उनके हृदय में भी उसके प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। उसी अनुराग का वर्णन निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है—

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादश्रृणोद् गुणोत्करम्॥४२॥

म०—स्वेत्यादि। अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्येण याः कीर्त्तयः तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्या अन्तः अभ्यन्तरे घटनागुणश्रियं गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं श्रयन्तं भजन्तं युवधैर्यलोपिनं तरुणचित्तस्थैर्यपरिहारि-

णम् अस्या दमयन्त्या गुणोत्करं सौन्दर्यसन्दोहं लोकादागन्तुकजनात् अश्रृणोत् ।
अत्र कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ४२ ॥

अन्वय—नलः अपि कदाचिद् लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रज = अन्तर्घटनागुणश्रियं श्रयन्तं युवधैर्यलोपिनं अस्याः गुणोत्करं अश्रृणोत् ।

संस्कृत-व्याख्या—नलः = नैषधः, अपि, कदाचित् = कस्मिंश्चित्समये, लोकात् = आगन्तुकजनात्, स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = स्वस्य निजस्य कान्त्या सौन्दर्येण याः कीर्त्तयः यशांसि तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्याः, अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अन्तः अभ्यन्तरे घटनागुणश्रियम् गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं (शोभाम्), श्रयन्तम् = भजन्तम्, युवधैर्यलोपिनम् = तरुणचित्तस्थैर्यपरिहारिणम्, अस्याः = दमयन्त्याः, गुणोत्करम्, अश्रृणोत् = श्रुतवान् ।

हिन्दी-अनुवाद—नलः = राजा नल ने, अपि = भी, कदाचिद् = किसी समय, लोकात् = आगन्तुक लोगों से, स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = अपने सौन्दर्य सम्बन्धी कीर्तिसमूह रूपी मोतियों की माला को, अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अन्दर से गूँथने वाले सूत्र की शोभा को, श्रयन्तम् = धारण करते हुये, युवधैर्यलोपिनम् = युवकों के धैर्य को लुप्त करने वाले, अस्याः = इस दमयन्ती के, गुणोत्करम् = सौन्दर्य सम्बन्धी गुण समूह को, अश्रृणोत् = सुना ।

भावार्थ—राजा नल ने भी कभी आगन्तुक लोगों के द्वारा अपने सौन्दर्य के यशःसमूह रूपी मुक्ताहार को अन्दर से गूँथने वाले सूत्र की शोभा से युक्त एवं युवकों के धैर्य को नष्ट कर देने वाले इस [दमयन्ती] के गुणसमूह को सुना ।

राजा नल के [अपने] सौन्दर्य सम्बन्धी कीर्त्ति-समूह रूपी मोतियों के हार को अन्दर से जोड़ने वाले धागे (सूत) के समान दमयन्ती के गुणों को राजा नल ने आगन्तुक लोगों के मुखों से सुना । तात्पर्य यह है कि राजा नल ने दमयन्ती के गुणों को सुना ।

कीर्ति अथवा कीर्तिसमूह का रंग श्वेत माना जाता है । अतः राजा नल के सौन्दर्य सम्बन्धी कीर्ति के शुभ्र होने से उसमें मोतियों की कल्पना की गयी है । इन मोतियों से निर्मित माला का गुम्फन करने के लिये बीच के धागे के समान दमयन्ती के गुण-समूह की कल्पना की गयी है । इस भाँति गुँथी हुयी मुक्तामाला के रूप में राजा नल तथा दमयन्ती-दोनों ही के गुण गुम्फित हो गये ।

अलङ्कार—इस पद्य में "कीर्तिव्रज" में "मौक्तिकस्त्रज" का तथा "गुणोत्कर" में "घटनागुण" का आरोप किये जाने से "रूपक" अलङ्कार है।

व्याकरण—**युवधैर्यलोपी** = युवधैर्य + लुप् + णिच् + णिनि [कर्त्तरि ताच्छील्ये]।

समास—**स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्त्रजः** = स्वस्य कान्त्या याः कीर्त्तयः तासां व्रजः एव मौक्तिकस्त्रक् तस्याः इति। **अन्तर्घटनागुणश्रियम्** = अन्तः घटना इति अन्तर्घटना, तदर्थं गुणः [चतुर्थी तत्पुरुष] इति अन्तर्घटनागुणः तस्य श्रीः [षष्ठी तत्पु०] ताम्। **युवधैर्यलोपिनम्** = यूनां धैर्यम् [षष्ठी तत्पु०] इति युवधैर्यम्, तत् लोपयितुं शीलमस्य इति युवधैर्यलोपी तम्। **गुणोत्करम्** = गुणानां उत्करमिति [षष्ठी तत्पु०] गुणोत्करम्।

टिप्पणियाँ—**लोकात्** = लोगों से [आगन्तुक व्यक्तियों से]। **स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्त्रजः** = अपने [राजा नल के] सौन्दर्य विषयक यशः-समूहरूपी मोतियों की माला के। **अन्तर्घटनागुणश्रियम्** = [मोतियों को] अन्दर से जोड़ने वाले सूत्र [धागा] की शोभा को। **श्रयन्तम्** = सेवन करने वाले—धारण करने वाले। [ऐसे दमयन्ती के गुण समूह को] **युवधैर्यलोपिनम्** = युवा-पुरुषों के धैर्य को नष्ट कर देने वाले अथवा युवा व्यक्तियों के धैर्य को खो देने वाले। यह "गुणोत्करम्" का विशेषण है। **अस्याः** = इस [दमयन्ती] के। **गुणोत्करम्** = गुण समूह को। **अशृणोत्** = सुना, श्रवण किया।

प्रसङ्ग—शारीरिक सौन्दर्य में राजा नल ने कामदेव को पराजित कर दिया था। अतः कामदेव उसका बदला लेना चाहता था। इस दृष्टि से कामदेव ने अवसर पाकर अपनी अमोघ शक्तिरूपिणी दमयन्ती के द्वारा राजा नल पर विजय प्राप्त करने की इच्छा की—

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरश्शरीरशोभाजयजातमत्सरः।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम्॥ ४३॥

म०—अथास्य तस्यां रागोदयं वर्णयति=तमेवेति। ततो गुणश्रवणानन्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवावसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्त्तया मूर्तिमत्या निजया अमोघशक्त्येव अकुण्ठितसामर्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा। तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रान्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः। तेन रागोदय उक्तः॥ ४३॥

अन्वय—ततः शरीरशोभाजयजातमत्सरः स्मरः तमेव अवसरं लब्ध्वा मूर्त्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषधं विनिर्जेतुं इयेष।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = [दमयन्त्याः] गुणश्रवणानन्तरम्, शरीरशोभाजयजातमत्सरः = शरीरशोभायाः देहसौन्दर्यस्य जयेन जातः उत्पन्नः मत्सरः वैरः यस्य तादृशः, स्मरः = कामः, तमेव, अवसरम् = अवकाशम्, लब्ध्वा = प्राप्य, मूर्त्तया = शरीरधारिण्या, निजया = स्वकीयया, अमोघशक्त्या = अकुण्ठितसामर्थ्येन इव, तया = दमयन्त्या, नैषधम् = नलम्, विनिर्जेतुम् = पराभवितुम्, इयेष = इच्छति स्म।

हिन्दी-अनुवाद—ततः = दमयन्ती के गुणों का [राजा नल द्वारा] श्रवण कर लिये जाने के पश्चात्, शरीरशोभाजयजातमत्सरः = [अपने] शरीर की कान्ति [शोभा] को जीत लिये जाने के कारण उत्पन्न हुयी ईर्ष्या से युक्त, स्मरः = कामदेव ने, तमेव = उस ही, अवसरम् = अवसर को, लब्ध्वा = पाकर, मूर्तया = शरीरधारिणी, निजया = अपनी, अमोघशक्त्या = अमोघशक्तिरूपिणी, तया = उस दमयन्ती के द्वारा, नैषधम् = राजा नल को, विनिर्जेतुम् = जीतने की, इयेष = इच्छा की।

भावार्थ—[जब राजा नल ने दमयन्ती के सौन्दर्य एवं तत्सम्बन्धी गुणों का श्रवण कर लिया तो उनके हृदय में दमयन्ती के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया—राजा नल की इस प्रकार की स्थिति हो जाने के] अनन्तर [राजा नल के शरीर की शोभा द्वारा कामदेव के] शरीर की शोभा को जीत लिये जाने के कारण उत्पन्न हुयी ईर्ष्या (डाह तथा द्वेष) से युक्त कामदेव ने उसी अवसर को पाकर शरीरधारिणी [मूर्तिमती] अपनी अमोघ [कभी विफल न होने वाली] शक्ति के सदृश उस दमयन्ती के द्वारा राजा नल को जीतने की अभिलाषा की।

कामदेव को अपने सौन्दर्य पर गर्व था। किन्तु समस्त ब्रह्माण्ड में सर्वाधिक सौन्दर्यशाली राजा नल को ही माना गया है। अतः इस प्रकार राजा नल कामदेव से कहीं अधिक सौन्दर्यशाली हुए। अतएव यह कहा जाना उचित ही था कि राजा नल ने सौन्दर्य में कामदेव को परास्त कर दिया था। कामदेव ने जब यह देखा कि मैं सौन्दर्य में राजा नल से पराजित हो गया हूँ तो वह राजा नल का शत्रु बन गया। और ऐसा अवसर ढूँढने लगा कि जिससे मैं नल को नीचा दिखला सकूँ।

शत्रु छिद्रान्वेषी हुआ करता है और वह अवसर प्राप्त हो जाने पर बदला लेने की इच्छा रखा करता है। जब राजा नल के हृदय में दमयन्ती के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया तो कामदेव ने सोचा कि मेरे लिये यही अच्छा अवसर है। अतः नल पर विजय प्राप्त करने के लिये इसी अवसर को उचित समझकर कामदेव ने दमयन्ती के रूप में विद्यमान अपनी अमोघ शक्ति का प्रयोग [राजा नल पर] करने की इच्छा की।

अलङ्कार—इस श्लोक में "अमोघशक्त्येव" में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—शोभा = शोभ् + अङ् [षिद्भिदादिभ्योऽङ्-सूत्र से] तदन्तर टाप् होकर शोभा शब्द बनता है। **इयेष** = इष् + लिट्।

समास—शरीरशोभाजयजातमत्सरः = शरीरस्य शोभा तस्याः जयः (षष्ठी तत्पुरुष), तेन जातः मत्सरः यस्य सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—ततः = तदनन्तर, उसके पश्चात्—राजा नल द्वारा दमयन्ती के गुणों का श्रवण किये जाने के बाद। **शरीरशोभाजयजातमत्सरः** = [अपने] शरीर के सौन्दर्य को [राजा नल द्वारा] जीत लिये जाने के कारण उत्पन्न हुयी ईर्ष्या से युक्त। दूसरे के शुभ अर्थात् उत्कर्ष के कारण जो द्वेष उत्पन्न हो जाता है उसी को "मत्सर" शब्द द्वारा कहा जाता है—"मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे"—इत्यमरः। **तमेव अवसरम्** = उस ही अवसर को—राजा नल ने जब लोगों के मुख से दमयन्ती के सौन्दर्य और उसके गुणों का श्रवण कर कर लिया तब। **मूर्त्तया**—मूर्तिधारिणी अथवा शरीरधारिणी। **अमोघशक्त्या इव** = कभी भी निष्फल न होने वाली शक्ति के सदृश। **नैषधम्** = निषध देश के राजा नल को। **विनिर्जेतुम्** = जीत लेने के लिये। **इयेष** = इच्छा की।

प्रसङ्ग—दमयन्ती के गुणों का श्रवण करने के अनन्तर राजा नल के मन में दमयन्ती के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया और परिणामस्वरूप उनका मन काम-पीड़ित हो गया—

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥ ४४ ॥

म०—अकारीति। तेन क्षमाभुजा नलेन भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रितः गुणः तदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः श्रुतः इत्यर्थः। करोतेः कर्मणि लुङ्। तस्य नलस्य उच्चधैर्यव्ययाय उच्चधैर्यनाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि

आकर्णं कृष्ट इत्यर्थः। दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः। अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

अन्वय—तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः गुणः श्रवणातिथिः अकारि। च तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेपुणा स्मरेण स्वात्मशरासनाश्रयः [गुणः श्रवणातिथिः अकारि]।

संस्कृत-व्याख्या—तेनक्षमाभुजा = राज्ञा नलेन, भीमनृपात्मजाश्रितः = भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रितः आश्रितः [भीमनृपात्मजालयः पाठे सति] भीमनृपात्मजालयः = भीमनृपकन्या आलयः स्थानमाश्रयो वा यस्य तादृशः, गुणः = तदीयः सौन्दर्यादिः गुणः, श्रवणातिथिः = श्रोत्रविषयः, अकारि = कृतः [श्रुतः—इत्यर्थः]। च, तदुच्च धैर्यव्ययसंहितेपुणा = तस्य नलस्य उच्चं उत्कृष्टं धैर्यं तस्य व्ययः नाशः तस्यै संहितः धनुषि आरोपितः इषुः बाणः येन तथाभूतेन, स्मरेण = कामेन, स्वात्मशरासनाश्रयः = स्वात्मनः यत् शरासनं धनुः तदाश्रयः आधारः स्थानं वा यस्य तथाभूतः, [गुणः = मौर्वी, श्रवणातिथिः अकारि = आकर्णं [कर्णपर्यन्तं वा] कृष्टः—इत्यर्थः]। दमयन्तीगुणश्रवणानन्तरं नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूतः—इति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—तेन क्षमाभुजा = पृथ्वी के पालक उस राजा नल ने, भीमनृपात्मजाश्रितः = राजा भीम की कन्या के अधीन [पाठान्तर में] भीमनृपात्मजालयः = राजा भीम की पुत्री दमयन्ती के आश्रित [अर्थात् दमयन्ती में विद्यमान], गुणः = गुणों को, श्रवणातिथिः = श्रवण (कान) का अतिथि, अकारि = बनाया। च = और, तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेपुणा = उस राजा नल के उत्कृष्ट धैर्य को नष्ट करने के लिये बाणों का संधान करने वाले, स्मरेण = कामदेव ने, स्वात्मशरासनाश्रयः = अपने धनुष पर आश्रित रहने वाली [गुणः = प्रत्यञ्चा को, श्रवणातिथिः = कान का अतिथि, अकारि = बनाया।]

भावार्थ—उस राजा (नल) ने भीमनन्दिनी (दमयन्ती) के आश्रित गुणों को अपने कानों का अतिथि बनाया अर्थात् दमयन्ती के गुणों को सुना और उस (नल) के अत्यधिक धैर्य को नष्ट करने के लिये बाण चढ़ाये हुये कामदेव ने अपने धनुष पर आश्रित प्रत्यञ्चा को कान का अतिथि बनाया अर्थात् कामदेव ने धनुष की डोरी को कान तक खींचा।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे ही राजा नल ने दमयन्ती के सौन्दर्य

सम्बन्धी गुणों का श्रवण किया वैसे ही वह दमयन्ती के प्रति अनुरक्त हो गया।

अलङ्कार—उपर्युक्त श्लोक में "स्वात्मशरासनाश्रयः" में "पुनरुक्ताभास" नामक अलङ्कार की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त श्लोक के पूर्वार्ध सम्बन्धी वाक्यार्थ के प्रति श्लोक के उत्तरार्ध का वाक्यार्थ हेतु है। अतः "काव्यलिङ्ग" नामक अलङ्कार की भी संभावना की जाती है।

व्याकरण—क्ष्माभुजा = क्ष्मा + भुज् + क्विप्। तृतीया विभक्ति के एकवचन का रूप। अकारि = कृ + लुङ्।

समास—क्ष्माभुजा = क्ष्मां पृथ्वीं भुङ्क्ते इति क्ष्माभुज् तेन। भीमनृपात्मजाश्रितः = भीमनृपस्य आत्मजा तस्याः श्रितः। [पाठान्तरे] भीमनृपात्मजालयः = भीम एव नृपः (कर्मधारय) इति भीमनृपः तस्य आत्मजा (षष्ठी तत्पु०) सा एव आलयः यस्य सः (बहुव्रीहि)। तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = उच्चं धैर्यं (कर्मधारय) इति उच्चधैर्यम्, तस्य व्ययः, तस्मै संहितः इषुः येन सः (बहुव्रीहि) तेन। स्वात्मशरासनाश्रयः = स्वात्मनः शरासनम् अथवा सु—शोभनं यत् आत्मशरासनं तत् आश्रयो यस्य सः (बहुव्रीहि)। श्रवणातिथिः = श्रवणस्य अतिथिः इति।

टिप्पणियाँ—क्ष्माभुजा = पृथ्वी का भोग करने वाले अर्थात् राजा ने। भीमनृपात्मजाश्रितः=भीम कन्या दमयन्ती के अधीन। (पाठान्तरमें) भीमनृपात्मजालयः = भीमनन्दिनी दमयन्ती ही जिसका आश्रय अथवा स्थान हो ऐसे गुण। गुणः = सौन्दर्य आदि गुण। [कामदेव के धनुष के पक्ष में—] प्रत्यञ्चा अथवा डोरी। तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = उस [राजा नल] के महान् धैर्य को नाश करने के लिये [अपने] धनुष पर बाण चढ़ाने वाले। स्वात्मशरासनाश्रयः = अपना अथवा [शोभन] धनुष ही है आश्रय जिसका ऐसी प्रत्यञ्चा। श्रवणातिथिः अकारि = कान का अतिथि किया। दमयन्ती के गुणों के पक्ष में अर्थ होगा—श्रवण किया—सुना-कर्णगोचर किया। कामदेव के धनुष की डोरी के पक्ष में अर्थ होगा—कान तक [डोरी अथवा प्रत्यञ्चा को] खींचा।

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैस्सनाथयन्।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥४५॥

म०—अमुष्येति। स स्मरः साहसी साहसकारः 'न साहसमनारुह्य नरो

भद्राणि पश्यती'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थः। अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलस्य जयाय शरासनज्यां निजधनुर्मौर्वीं विशिखैः शरैः सनाथयन् सनाथां कुर्वन् संयोजयन्नित्यर्थः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समासः, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यत' इति स्त्रीलिङ्गत्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप्। तस्य विजयेनार्जितानि सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपिशब्दार्थः। वृद्धयपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थः। अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ४५॥

अन्वय—तदा खलु धीरस्य अमुष्य जयाय ज्यां विशिखैः सनाथयन् साहसी स्मरः त्रिलोकीविजयार्जितानि यशांसि अपि संशये निमज्जयामास।

संस्कृत-व्याख्या—तदा = तस्मिन् समये, खलु—निश्चयेन, धीरस्य = अविचलितस्य, अमुष्य = नलस्य, जयाय = विजयाय, ज्याम् = मौर्वीम् विशिखैः = शरैः, सनाथयन् = सनाथां कुर्वन्—संयोजयन्—इत्यर्थः, साहसी = साहसकरः, स्मरः = कामदेवः, त्रिलोकीविजयार्जितानि = त्रयाणां लोकानां समाहारः—त्रिलोकी तस्य विजयेन अर्जितानि सम्पादितानि, यशांसि = कीर्त्तयः, अपि, संशये = संदेहे, निमज्जयामास = निक्षिप्तवान्। वृद्धयपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थः।

हिन्दी-अनुवाद—तदा = उस समय, खलु = निश्चय के साथ, धीरस्य = धैर्यशाली, अमुष्य = इस राजा नल को जयाय = जीतने के लिये, ज्याम् = [अपने धनुष की] प्रत्यञ्चा को, विशिखैः = बाणों से, सनाथयन् = युक्त करते हुये, साहसी = साहसयुक्त, स्मरः = कामदेव ने, त्रिलोकीविजयार्जितानि = तीनों लोकों को जीतने से प्राप्त हुये [अपने], यशांसि = यश को, अपि = भी, संशये = सन्देह में, निमज्जयामास = डाल दिया।

भावार्थ—उस समय इस धैर्यशाली नल पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को बाणों से युक्त करते हुये साहसी कामदेव ने तीनों लोकों के लोगों पर विजय प्राप्त करने से प्राप्त हुये अपने यश को सन्देह में डाल दिया।

यद्यपि महान् धैर्यशाली राजा नल को जीत लेना कामदेव के लिये एक दुष्कर कार्य ही था किन्तु फिर भी उसने ऐसा करने का साहस किया। क्योंकि अनुचित कार्य के करने से यश की वृद्धि तो दूर रही, मूल भी नष्ट हो जाया करता है।

अलङ्कार—उपर्युक्त श्लोक में वर्णित संशय के साथ कामदेव का सम्बन्ध न होने पर भी कामदेव के साथ उसका सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है—अतः "अतिशयोक्ति" अलङ्कार है।

व्याकरण—**जयाय** = इसमें "तुमर्थाच्च भाववचनात्" सूत्र से चतुर्थी विभक्ति हुई है। **त्रिलोकी** = त्रयाणां लोकानां समाहारः "त्रिलोकी" इस द्विगु समास में "द्विगोः" इस सूत्र से ङीप् होता है।

समास—**त्रिलोकीविजयार्जितानि** = त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी (द्विगु), त्रिलोक्याः विजयः त्रिलोकीविजयः, (षष्ठी तत्पु०) तेन अर्जितानि (तृतीया तत्पु०) इति।

टिप्पणियाँ—**धीरस्य** = धैर्यशाली।, **अमुष्य** = इस (राजा नल) के। **जयाय** = जीतने के लिये। **ज्याम्** = डोरी अथवा प्रत्यञ्चा को—"मौर्वीज्या-शिञ्जिनी गुणः',–इत्यमरः। **विशिखैः** = बाणों से—" पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगाः—इत्यमरः। **सनाथयन्** = सनाथ अर्थात् युक्त करते हुये। **साहसी** = साहसयुक्त—साहस से परिपूर्ण। अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने की क्षमता साहस से ही आया करती है—"न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति"। **स्मरः** = कामदेव। **त्रिलोकीविजयार्जितानि** = तीनों लोकों अथवा भुवनों को जीत लेने से प्राप्त हुये। **यशांसि** = यश को, कीर्ति को। **निमज्जयामास** = डुबो दिया—डाल दिया। राजा नल कामदेव की अपेक्षा सौन्दर्य, गुणों तथा बल आदि सभी में कहीं अधिक थे अतः उनपर विजय प्राप्त करने की इच्छा करना भी कामदेव के लिये नितान्त अनुचित था। अतएव उनके द्वारा राजा नल को जीतने के लिये किया गया साहस दुस्साहस मात्र ही कहा जायगा। फिर भी उसने साहस किया और इस भाँति उसने अपने त्रिलोकविजयी यश को खतरे में डाल दिया।

प्रसङ्ग—राजा नल अत्यन्त महान् तथा धीर व्यक्ति थे फिर भी वे काम के वशीभूत होगये। इससे प्रतीत होता है कि भगवदिच्छा ही ऐसी थी—

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरबन्ध्येच्छतया व्यलासि तत्।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम्॥ ४६॥

म०—दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकारः फलित इत्याह=अनेनेति। अनेन नलेन सह भैमीं घटयिष्यतः योजयिष्यतो विधेर्विधातुरबन्ध्येच्छतया अमोघ-

सङ्कल्पत्वेन यत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण योऽग्रे वक्ष्यते इति भावः। व्यलासि विलसितं लसतेर्भावे लुङ्। यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य न तु देहवतः मार्गणैर्धैर्यमेव कञ्चुकमस्य नलस्य अभेदि भिन्नं, कर्म्मणि लुङ्। दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरवन्ध्येच्छत्वं विज्ञायत इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भावः। तत्रानङ्गपौष्पयोः कञ्चुकं भिन्नमिति विरोधः, तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरोधाभासः, स च धैर्यकञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ४६॥

अन्वय—अस्य तत् तादृक् धैर्यकञ्चुकं पौष्पैः अपि अनङ्गमार्गणैः यत् अभेदि तत् तथा अनेन भैमीं घटयिष्यतः विधेः अवन्ध्येच्छतया व्यलासि।

संस्कृत-व्याख्या—अस्य = नलस्य, तत् = प्रसिद्धम्, तादृक् = तथा अभेद्यमित्यर्थः, धैर्यकञ्चुकम् = धैर्यमेव कञ्चुकम्, पौष्पैः अपि = कुसुम निर्मितैरपि, अनङ्गमार्गणैः = कन्दर्पबाणैः, यत् = यस्माद्, अभेदि = भिन्नम्; तत् = तस्मात्, तथा = तेन प्रकोरण, अनेन = नलेन, भैमीम् = दमयन्तीम्, घटयिष्यतः = योजयिष्यतः, विधेः=विधातुः, अवन्ध्येच्छतया = अमोघसंकल्पत्वेन, व्यलासि = विलसितम्। दमयन्तीनलयोः दाम्पत्यघटनाय कामबाणैः नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद् विधातुः अमोघसंकल्पत्वं विज्ञायतेः, इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करम् ?—इति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—अस्य = इस नल का, तत् = प्रसिद्ध, तादृक् = वैसा (अभेद्य), धैर्यकञ्चुकम् = धैर्यरूपी कवच, पौष्पैरपि = कुसुमनिर्मित अर्थात् अति सुकोमल, अनङ्गमार्गणैः = कामदेव के बाणों से, यत् = जिस कारण, अभेदि = विदीर्ण हो गया; तत् = उस कारण, तथा = उस प्रकार से, अनेन = नल के साथ, भैमीम् = दमयन्ती का, घटयिष्यतः = संगम कराने वाले, विधेः= विधाता के, अवन्ध्येच्छतया = अमोघ संकल्प का ही, व्यलासि = विलास था।

भावार्थ—वैसे प्रसिद्ध एवं दुर्भेद्य राजा नल के साथ उस प्रकार का (इन्द्र आदि देवों का त्यागकर) दमयन्ती का संगम कराने वाले विधाता के सफल मनोरथ का ही यह विलास था। अन्यथा अत्यधिक शूरवीर एवं महान् धैर्यसम्पन्न राजा नल का धैर्य अशरीरी कामदेव के पुष्पनिर्मित कोमलतम बाणों से कदापि भेदा नहीं जा सकता था। इससे ज्ञात होता है कि विधाता की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कर सकना संभव नहीं हुआ करता है अथवा विधाता के अनुकूल होने पर संसार में कुछ भी असंभव नहीं हुआ करता है।

कामदेव के पुष्पसदृश सुकोमल वाणों ने राजा नल के धैर्यरूपी कवच को विदीर्ण कर डाला। इससे यह भाव प्रकट होता है कि ब्रह्मा की ही यह दृढ़ इच्छा थी कि दमयन्ती का संयोग राजा नल के साथ हो।

अलङ्कार—इसमें "शरीररहित (कामदेव) के बाणों द्वारा कवच नष्ट हो गया" में स्पष्ट विरोध की प्रतीति होती है किन्तु विधाता के विलास द्वारा उस विरोध का परिहार भी प्रस्तुत कर दिया गया है। अतः विरोधाभास" अलङ्कार है। "धैर्यकञ्चुकम्" में रूपक अलङ्कार का होना स्पष्ट ही है। अतएव दोनों में अंग-अंगी भाव से "संकर" है।

व्याकरण—**पौष्पैः**=पुष्प + अण्। **अभेदि**=भिद् + लुङ्। **घटयिष्यतः**= घट् + णिच् + लृट्—शतृ = घटयिष्यन् (षष्ठी एकवचन में—घटयिष्यतः)। **अवन्ध्येच्छतया** = अवन्ध्येच्छ + तल् + टाप् (तृतीया एकवचन में—अवन्ध्येच्छतया)।

समास—**धैर्यकञ्चुकम्** = धैर्यमेव कञ्चुकम्—इति। **अनङ्गमार्गणैः**= नास्ति अङ्गं यस्य स अनङ्गः (बहुव्रीहि) तस्य मार्गणैः। **अवन्ध्येच्छतया** = अवन्ध्या अव्यर्था इच्छा यस्य स अवन्ध्येच्छया तया।

टिप्पणियाँ—**तादृक्** = उस प्रकार का अर्थात् दुर्भेद्य। **धैर्यकञ्चुकम्**= धैर्यरूपी कवच अथवा कंचुक [कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री—इत्यमरः]। **पौष्पैः**= फूलों से निर्मित। **अनङ्गमार्गणैः** = अशरीरी अथवा शरीररहित (भगवान् शिव द्वारा कामदेव का शरीर नष्ट कर दिया गया था—तभी से कामदेव का नाम "अनङ्ग" पड़ गया ["कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मृतः"—इत्यमरः।] कामदेव के पंच प्रसिद्ध बाण पाँच फूल ही माने जाते हैं और वे ये हैं—"अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका। नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥" **यत्** = जिस कारण से। **अभेदि** = भेद दिया—विदीर्ण कर दिया। **घटयिष्यतः** = आगे आने वाले समय में संगम कराने की इच्छा रखने वाले। **विधेः** = विधाता के अथवा भाग्य के। **अवन्ध्येच्छतया** = सफल मनोरथ अथवा दृढ़संकल्प वाला होने से। **व्यलासि** = विलास था।

प्रसङ्ग—राजा नल अपने से न्यून कान्ति वाले कामदेव को नहीं लाँघ सके—

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मना शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥४७॥

म०—अथ विधिमपि जितवतः किं विध्यपेत्त्यैत्याशयेनाह—किमिति। किमन्यत् अन्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति भावः। सर्वनीतेरपचारश्च गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम्। पितामहतापिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोः छायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छायतया तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते 'छाया त्वनातपे कान्ताविति'वैजयन्ती। लङ्घितुं न शशाक इत्यहं शङ्के, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः। अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्थापत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः। 'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया'॥ इति लक्षणात्। तनोश्छायेवच्छायेत्युपमा छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्ति एतत्त्रितयोपजीवनेनालङ्घ्यत्वे तनुच्छायतताया हेतुत्वोत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा, सा च शङ्क इति व्यञ्जकप्रयोगा द्वाच्येति॥ ४७॥

अन्वय—किमन्यत्? अहो, यदस्त्रतापितः पितामहः अद्यापि वारिजं आश्रयति। तं स्मरं स नलः आत्मनः तनुच्छायतया लंघितुं न शशाक [इति] शङ्के।

संस्कृत-व्याख्या—किम् अन्यत्=अन्यत् किं उच्यते ?, अहो = आश्चर्यम्, यदस्त्रतापितः = यस्य कामस्य अस्त्रैः बाणैः तापितः सन्तापितः, पितामहः = विधिः, अद्यापि = इदानीमपि, वारिजम् = जलजम्, आश्रयति = अवलम्बते [तस्य पद्मासनत्वादित्यर्थः]। तम्, स्मरम् = कामम्, सः नलः, आत्मनः = स्वस्य, तनुच्छायतया = तनोः शरीरस्य छाया कान्तिः यस्य तस्य भावः तत्ता तया, लंघितुम् = अतिक्रमितुम्, न शशाक = शक्तः नाभूत्, [इति] शङ्के = इत्यहं मन्ये।

हिन्दी-अनुवाद—किमन्यत् = और क्या कहा जाय ?, अहो = आश्चर्य की बात है कि, यदस्त्रतापितः = जिस (कामदेव) के अस्त्रों से संतापित, पितामहः = ब्रह्मा भी, अद्यापि = आज तक भी [कमलासन होने के कारण] वारिजम् = कमल का, आश्रयति = सहारा लिये हुये है। तम् = उस, स्मरम्, कामदेव को, स नलः = वह नल, आत्मनः = अपने, तनुच्छायतया = अपने शरीर की कान्ति की छाया सदृश कान्ति से युक्त होने के कारण, लंघितुम् = अतिक्रमण कर सकने में, न शशाक = समर्थ न हो सके [इति] शङ्के = ऐसा मैं मानता हूँ।

भावार्थ—और अधिक क्या कहा जाय ? ब्रह्मा भी इस कामदेव के वाणों के प्रभाव से संतप्त होकर निरन्तर कमल का ही आश्रय प्राप्त किये हुये हैं और इसी कारण उनको "कमलासन" भी कहा जाता है फिर राजा नल तो सांसारिक पुरुष ही थे वे, यद्यपि शारीरिक कान्ति की दृष्टि से कामदेव को नीचा दिखला चुके थे, किन्तु उनकी दमयन्ती के प्रति अनुरक्ति देखकर कामदेव को अपना बदला लेने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया था, अतः इस अवस्था में वे काम के वाणों के प्रभाव को अपने से दूर न कर सके। जब ब्रह्मा, जिन्हे सृष्टि का उत्पादक कहा जाता है, वे ही काम के प्रभाव को अपने से दूर हटा सकने में समर्थ नहीं हो सके तो फिर राजा नल की तो हस्ती ही क्या थी ? वे किस भाँति उस काम के बाणों के प्रभाव का उल्लंघन कर सकने में सक्षम हो सकते थे ?

जिस कामदेव ने अतिशय वृद्ध पितामह (ब्रह्मा) को ऐसा सन्तप्त कर दिया कि इतना अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी उन्हें आज तक कमल का आश्रय प्राप्त करना पड़ रहा है, फिर वही काम अपने प्रतिद्वन्दी राजा नल को संतप्त नहीं करेगा, यह कैसे संभव हो सकता था ?

राजा नल अत्यधिक (काम से अधिक) सुन्दर थे। कामदेव को उनके शरीर की छाया (परछाईं) ही माना गया था। अतएव नल अपने शरीर की छाया रूप उस कामदेव का उल्लंघन कैसे कर सकते थे ? क्योंकि संसार में अति प्रबल व्यक्ति भी अपने शरीर की परछाईं को कभी भी लाँघ नहीं सकता—स्वशरीर की छाया सभी के लिये अनतिक्रमणीय (अनुल्लंघनीय) ही हुआ करती है।

अलङ्कार—इस श्लोक में कामदेव के 'अलंघ्यत्व सम्बन्धी हेतु की संभावना किये जाने से "हेतूत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। उत्प्रेक्षावाचक शब्द "शङ्के" है। "कामदेव का अतिक्रमण किये जाने में जब ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हैं तब राजा नल की तो बात ही क्या ?" इस भाग में "अर्थापत्ति" अलङ्कार है तथा "तनोश्छायेव छाया" में "उपमा" भी बन जाती है।

व्याकरण—वारिजम् = वारि + जन् + ड (नपु० लिं० प्रथमा वि० एकवचन)। तनुच्छायतया=तनुच्छाय + तल् + टाप् (तृतीया-एकवचन)। शशाक—शक् + लिट्।

समास—यदस्त्रतापितः = यस्य अस्त्राणि (षष्ठी तत्पु०) यदस्त्राणि, तैः

तापितः (तृतीया तत्पु०) । **वारिजम्** = वारिणि जायते इति वारिजम् । **तनुच्छायतया** = तनोः छाया इव छाया यस्य स तनुच्छायता तया ।

टिप्पणियाँ—किमन्यत् = और क्या कहा जाय अर्थात् इससे भी अधिक और क्या कहा जा सकता है कि भगवान् ब्रह्मा भी काम के बाणों से संतप्त हो गये थे और आज तक उसी अवस्था में विद्यमान हैं। इसी कारण कमलों का आश्रय भी प्राप्त किये हुये हैं। **अहो** = यह आश्चर्योत्पादक अव्यय है। **यदस्त्रतापितः**=जिसके अस्त्रों अर्थात् पुष्पनिर्मित बाणों से संतप्त। **पितामहः**= ब्रह्मा। **वारिजम्** = कमल का। ब्रह्मा का आसन कमल माना गया है अतः महाकवि ने ब्रह्मा के स्वभाव सिद्ध कमलासनत्व के बारे में कामसंतप्त होने सम्बन्धी संभावना की है। संतप्तावस्था में विद्यमान व्यक्ति शीतलवस्तु के आश्रय की ही सदैव इच्छा किया करता है। **आश्रयति** = आश्रय अथवा सहारा प्राप्त किया है। **तनुच्छायतया** = [अपने] शरीर की छाया के सदृश छाया को धारण किये हुये होने के कारण—"छाया त्वनातपे कान्तौ"—इति वैजयन्ती। **लङ्घितुम्** = अतिक्रमण कर सकने में, उल्लंघन करने हेतु, लाँघ सकने में। **शशाक** = समर्थ अथवा सक्षम हुआ।

प्रसङ्ग—वह दमयन्ती लज्जारूपिणी नदी को पार करके राजा नल के हृदय में प्रविष्ट हो गयी—

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥ ४८ ॥

म०—उरोभुवेति। सा तन्वी भैमी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रतीर्य्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, वयस्कृतेन नवोपहारेण नूतननिर्म्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुगेन कुचयुगाख्येनेति भावः, इत्यतिशयोक्तिः। 'न लोके'त्यादिना कृद्योगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव उपसंख्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम्। जृम्भितं जृम्भणं किमुत्प्रेक्षा सा चोक्तातिशयोक्तिमूलेति सङ्करः। दमयन्तीकुचकुम्भविभ्रमश्रवणात्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचित्तोऽभूदित्यर्थः, तेन मनःसङ्ग उक्तः ॥ ४८ ॥

अन्वय—सा तन्वी त्रपासरिद्दुर्गं अपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं यत् विवेश, [तत्] किं वयस्कृतेन नवोपहारेण उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितम् ॥

संस्कृत-व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, तन्वी = कृशाङ्गी, दमयन्ती, त्रपासरित्-दुर्गमपि = त्रपा लज्जा एव सरित् नदी तस्याः दुर्गं नल सम्बन्धि तदपि, प्रतीर्य = तीर्त्वा, नलस्य, हृदयम् = चित्तम्, यत्, विवेश = प्रविष्टवती, [तत् = प्रवेशनम्], किम् वयस्कृतेन = वयसा युवावस्थया कृतेन संपादितेन, नवोपहारेण = नवः नूतनः उपहारः उपायनं तद्रूपेण, उरोभुवा = उरसि जन्येन, कुम्भयुगेन = कुचकलशद्वयेन कुचयुगाख्येन वा, जृम्भितम् = विलसितम् ? दमयन्तीकुचकुम्भविलासश्रवणात् नलः त्रपां विहाय तस्यां आसक्त-चित्तः अभूदित्यर्थः ।

हिन्दी-अनुवाद—सा = उस, तन्वी = कृशाङ्गी (दमयन्ती) ने, त्रपासरिद्दुर्गमपि = लज्जारूपिणी नदीरूप दुर्ग को भी, प्रतीर्य = पार करके, नलस्य = (राजा) नल के, हृदयम् = हृदय में, यत् = जो, विवेश = प्रवेश पा लिया; [तत् = वह], किम् = क्या, वयस्कृतेन = युवावस्था द्वारा दिये गये, नवोपहारेण = नवीन उपहाररूप, उरोभुवा = वक्षःस्थल पर उत्पन्न हुये, कुम्भयुगेन = दोनों स्तनरूपी कलशों का, जृम्भितम् = विलास था ?

भावार्थ—कृशाङ्गी वह दमयन्ती अपनी लज्जारूपिणी नदी के उत्कृष्टतम प्राकार को पारकर जो नल के हृदय में प्रविष्ट होगयी, वह क्या युवावस्था द्वारा दिये गये नवीन (मुक्ताहार के सदृश) उपहार से युक्त वक्षस्थल पर उत्पन्न हुये स्तनरूप दो कलशों का ही प्रभाव था ।

जिस भाँति कोई अभिसारिका दो घड़ों की सहायता से नदी को पारकर दुर्गम संकेतस्थल पर पहुँच जाया करती है उसी भाँति दमयन्ती ने भी दो स्तनरूपी कलशों की सहायता से लज्जारूपिणी नदी के प्राकार को पार करके राजा नल के हृदय में प्रवेश प्राप्त कर लिया ।

अलङ्कार—इस श्लोक में अतिशयोक्तिमूलक "उत्प्रेक्षा" नामक अलङ्कार है ।

व्याकरण—**प्रतीर्य**=प्र + तॄ + क्त्वा—ल्यप् । **उरोभुवा** = उरस् + भू + क्विप् (तृतीया एकवचन में) । **जृम्भितम्** = जृम्भ् + क्त (भाव में) ।

समास—**त्रपासरिद्दुर्गम्** = त्रपा एव सरित् तस्याः दुर्गम्—इति । **वयस्कृतेन** = वयसा कृतं इति वयस्कृतम्—तेन । **नवोपहारेण** = नवः उपहारः इति नवोपहारः (कर्मधारय) तेन । **उरोभुवा** = उरसि भवतीति उरोभू तेन ।

टिप्पणी—तन्वी = कृशाङ्गी—दुबले अंगों वाली—पतली दुबली। **त्रपासरिद्दुर्गम्** = लज्जारूपी नदी के दुर्ग को अथवा लज्जा-नदी रूपी दुर्ग को। [दुर्ग–किला]। **प्रतीर्य** = पार करके। **वयस्कृतेन** = युवावस्था द्वारा किये गये अथवा युवावस्था द्वारा दिये गये। **नवोपहारेण** = नवीन उपहाररूप। **उरोभुवा** = वक्षस्थल पर उत्पन्न होने वाले। **कुम्भयुगेन** = दो कलशों से। दो स्तनों रूपी कलशों से। **जृम्भितम्** = विलास था।

प्रसङ्ग—दमयन्ती के विरह से उत्पन्न राजा नल की अधीरता को उनकी शय्या ही जान सकी—कोई दूसरा नहीं—

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥४९॥

म०—अथास्य जागरावस्थामाह—अपह्नुवानस्येति। निजामधीरतां चपलत्वं जनायापह्नुवानस्यापलपतः 'श्लाघह्नुङ्स्थे' त्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतन्तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी। 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि'ति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप्। शशाङ्केन कोमला रम्या निशा चाबोधि। 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि च्लेश्चिणादेशः। तथा शशाङ्कवत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भावः॥ ४९॥

अन्वय—निजां अधीरतां जनाय अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतं तत् जागरदुःखसाक्षिणी शशाङ्ककोमला शय्या च निशा च अबोधि।

संस्कृत-व्याख्या—निजाम्=स्वकीयाम्, अधीरताम्=चपलत्वम्, जनाय= लोकाय, अपह्नुवानस्य = गोपायतः, अस्य = नलस्य, मनोभुवा = कामेन, यत् = अनिर्वाच्यम्, कृतम् = विहितम्, तत्, जागरदुःखसाक्षिणी = जागरणजन्यकष्टस्य साक्षिणी, शशाङ्ककोमला = शशस्य मृगविशेषस्य अङ्कः उत्सङ्गः तद्वत् कोमला मृदुला, शय्या = आस्तरणम्, च [शशाङ्केन चन्द्रेण कोमला रम्या—] निशा च = रात्रिश्च, अबोधि = जानाति स्म।

हिन्दी-अनुवाद—निजाम् = अपनी, अधीरताम् = अधीरता को, जनाय= लोगों से, अपह्नुवानस्य = छिपाते हुये, अस्य = इस राजा नल के साथ, मनोभुवा = कामदेव ने, यत् कृतम् = जो किया था, तत् = उसे, जागरदुःखसाक्षिणी = जागरण के कष्ट को साक्षात् (प्रत्यक्ष) रूप से देखने वाली तथा शशाङ्ककोमला = मृगविशेष की गोद के समान कोमल, शय्या = शय्या, च =

और, [शशाङ्ककोमला = चन्द्रमा से रमणीय—] निशा = रात्रि ही, अबोधि= जानती थी।

भावार्थ—अन्य लोगों से अपनी दमयन्ती संबंधी अनुरक्ति से होने वाली चंचलता को छिपाने वाले राजा नल के साथ कामदेव ने जो भी व्यवहार किया उसको राजा नल के रात्रिपर्यन्त जागरण को देखने वाली सुकोमल शय्या अथवा चन्द्रमा के कारण अत्यन्त मनोहर रात्रि ही जानती थी।

राजा नल काम द्वारा संतप्त किये जा चुके थे अतः उनको रात्रि में निद्रा नहीं आती थी और वे अपनी शय्या पर करवटें ही बदलते रहते थे। इसी भाँति उनकी रात्रियाँ व्यतीत हो रही थीं। अतः राजा नल की शारीरिक एवं मानसिक कष्टजन्य विकलता को प्रत्यक्षरूप से देखने वाली या तो उनकी शय्या ही थी अथवा रात्रि ही थी।

व्याकरण—**अधीरताम्** = अधीर + तल् + टाप् = अधीरता—द्वितीया-एकवचन में—अधीरताम्। **जनाय** = यहाँ पर "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" सूत्र से "जनाय अपह्नुवानस्य" के प्रयोग की दृष्टि से ह्नु धातु के योग में "चतुर्थी विभक्ति" हुयी है। **अपह्नुवानस्य** = अप + ह्नु + लट्—शानच् = अपह्नुवानः—षष्ठी एकवचन में अपह्नुवानस्य। **मनोभुवा** = मनस् + भू + क्विप्—तृतीया एकवचन में। **साक्षिणी** = साक्षात् + इनि + ङीप्। **शय्या** = शी + क्यप् ("सत्तायां समजनिपदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः" सूत्र से) तदनन्तर "अयङ् यि क्ङिति" सूत्र से अयङादेश। **अबोधि** = बुध् (दिवादिगणी) + लुङ् (कर्त्ता में—) तिप्—"दीपजन···" इत्यादि सूत्र से च्लि के स्थान पर चिणादेश होकर।"

समास—**अधीरताम्** = अधीरस्य भावः अधीरता ताम्। **मनोभुवा** = मनसि भवतीति मनोभूः तेन। **जागरदुःखसाक्षिणी** = जागरस्य यत् दुःखम् तस्य साक्षिणी। **शशाङ्ककोमला** = शशाङ्कवत् कोमला इति (उपमित समास)। **शय्या** = शेते अस्यामिति शय्या। **निशा** = नितरां श्यति तनूकरोति व्यापारान् इति निशा।

टिप्पणियाँ—**निजाम् अधीरताम्** = अपनी अधीरता को। राजा नल के हृदय में दमयन्ती को स्थान प्राप्त हो चुका था। इस परिस्थिति को समझकर कामदेव ने भी राजा नल पर अपना प्रभाव उत्पन्न किया। अतः उनकी दमयन्ती विषयक अभिलाषा और भी अधिक उत्कट हो गयी। और उसी के

कारण उनके हृदय में अधैर्य उत्पन्न हो गया। जनात्=लोगों से। अपह्नुवानस्य=छिपाते हुये। मनोभुवा=कामदेव ने। जागरदुःखसाक्षिणी=(राजा नल के सम्पूर्ण रात्रि—) जागरण किये जाने से उत्पन्न हुये कष्ट की प्रत्यक्ष द्रष्टा। शशाङ्ककोमला=मृगविशेष की गोद के सदृश सुकोमल अथवा चन्द्रमा के समान शुभ्रवर्ण की [रात्रि के पक्ष में—] चन्द्रमा के सदृश सुन्दर अथवा चन्द्रमा (की चाँदनी) से सुशोभित। निशा=रात्रि। अवोधि=जाना, समझा—अथवा—जानती थी।

प्रसङ्ग—अत्यधिक काम-संतप्त हो जाने पर भी राजा नल ने विदर्भराज भीम से उनकी कन्या दमयन्ती की याचना नहीं की—

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥५०॥

म०—ननु किमनेन निबन्धनेन, याच्यताम्भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह—स्मरेत्यादि। भृशं गाढं स्मरोपतप्तः कामसन्तप्तोऽपि प्रभुः समर्थः स नलः विदर्भराजं भीमनृपतितनयां दमयन्तीं न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाची' त्यादिना याचेर्द्विकर्मकता। तथाहि—मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः असून् प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति एतत्त्यागोऽपि वरं मनाक् वरमिति मनागुत्कर्ष इति महोपाध्यायवर्द्धमानः। किन्तु, एकमद्वितीयमयाचितव्रतम् अयाञ्चानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुःसहं याञ्चाया दुःखमित्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५० ॥

अन्वय—भृशं स्मरोपतप्तोऽपि स प्रभुः विदर्भराजं तनयां न अयाचत। मानिनः असून् शर्म च वरं त्यजन्ति, तु एकं अयाचितव्रतं न त्यजन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—भृशम्=गाढम्, स्मरोपतप्तः अपि=कामसंतप्तः अपि, स प्रभुः=सः राजा नलः, विदर्भराजम्=विदर्भदेशाधिपं भीमम्, तनयाम्=कन्यां दमयन्तीम्, न अयाचत=न याचितवान्। मानिनः=मनस्विनः, असून्=प्राणान्, शर्म च=सुखं च, वरम्=कामम्, त्यजन्ति; तु=किन्तु, एकम्=अद्वितीयम्, अयाचितव्रतम्=अयाञ्चानियमम्, न त्यजन्ति=न जहति। मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् याचनायाः दुःखं दुःसहं भवतीत्यर्थः।

हिन्दी-अनुवाद—भृशम्=अत्यधिक, स्मरोपतप्तः अपि=कामद्वारा संतप्त हो जाने पर भी, स प्रभुः=उस राजा नल ने, विदर्भराजम्=विदर्भ-नरेश राजा भीम से, तनयाम्=उनकी कन्या दमयन्ती को, न अयाचत=नहीं

माँगा। मानिनः = स्वाभिमानी अथवा मनस्वी जन, असून् = प्राणों, शर्म च = और सुख को, वरम् = भलेही, त्यजन्ति = छोड़ दिया करते हैं, तु = किन्तु, एकम् = एक, अयाचितव्रतम् = याचना न करने के नियम को, न त्यजन्ति = नहीं छोड़ा करते हैं। मानी पुरुष प्राण एवं सुख के त्याग की अपेक्षा न माँगने सम्बन्धी नियम को न त्यागना ही अधिक श्रेष्ठ समझा करते हैं। तात्पर्य यह है कि वे प्राणों तथा अपने सुखों का उत्सर्ग सरलतापूर्वक कर सकते हैं किन्तु किसी से याचना न करने सम्बन्धी नियम को कभी भी छोड़ना पसन्द नहीं करते हैं।

भावार्थ—कामदेव द्वारा अत्यधिक रूप से सताये जाने पर भी राजा नल ने विदर्भराज भीम से उनकी कन्या दमयन्ती की याचना नही की क्योंकि मानी पुरुष प्राण एवं सुख का त्याग भले ही कर देते हैं किन्तु एकमात्र अयाचना के नियम का त्याग नहीं किया करते हैं।

कामदेव राजा नल से बदला लेना चाहता था। अतः उसने राजा नल के हृदय पर पूर्ण प्रभाव डाला और यह चाहा कि वह विदर्भराज से उनकी कन्या दमयन्ती की याचना करें किन्तु राजा नल बड़े ही स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उन्होंने कामदेव द्वारा उत्पन्न की गयी हुयी संतप्तावस्था की कोई चिन्ता नहीं की और परिणामस्वरूप दमयन्ती की याचना भी नहीं की क्योंकि स्वाभिमानी व्यक्तियों का यह स्वभाव हुआ करता है कि वे अपने प्राणों अथवा सुखों का त्याग सरलतापूर्वक कर सकते हैं किन्तु न माँगने सम्बन्धी अपने नियम का उल्लंघन कभी भी नहीं किया करते हैं।

अलङ्कार—इस श्लोक में उत्तरार्ध के वाक्यार्थ रूप सामान्य द्वारा पूर्वार्ध के वाक्यार्थ रूप विशेष का समर्थन किया गया है अतः "अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है।

समास—स्मरोपतप्तः = स्मरेण उपतप्तः इति (तृतीया तत्पुरुष)। **विदर्भराजम्** = विदर्भस्य राजा विदर्भराजः तम्। **मानिनः** = मानः अस्ति एषाम् इति मानिनः। अयाचितव्रतम् = न याचितम् अयाचितम् (नञ् तत्पु०), तस्य व्रतम् (षष्ठी तत्पु०)।

व्याकरण—विदर्भराजम् = यहाँ पर "राजाहः सखिभ्यष्टच्" सूत्र से समासान्त "टच्" प्रत्यय हुआ है। **मानिनः** = मान + इनि। **याचित** = याच् + क्त (भाव में)।

साँसों के लेने की अथवा आहें भरने की। **मृषाविषादाभिनयात्** = झूठे विषाद (दुःख) के अभिनय अथवा बहाने से। अथवा विषमत्तीति विषादः [विष + अद् + अण् के अनुसार] इस व्युत्पत्ति के आधार पर "विषाद" शब्द का अर्थ होगा—शिव। तब इस समूचे पद का अर्थ होगा—लम्बी साँसों की परम्परा को झूठे "शिव—शिव" उच्चारण के बहाने से। **जुगोप** = छिपाया। **पाण्डुताम्** = अपने शरीर की सफेदी युक्त पीतिमा (पीलापन) को। **अधिकचन्द्रभागताविभावनात्** = [लेप में] कर्पूर के अंश के अधिक हो जाने की तर्कणा से। चन्द्रभागः = कर्पूर—"घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका" इत्यमरः। **अपललाप** = छिपाया।

प्रसङ्ग—अपनी प्रिया दमयन्ती की प्राप्ति सम्बधी भावना से ओतप्रोत हृदय वाले राजा नल न तो मिथ्यारूप में देखी गयी दमयन्ती के साथ किये गये भाषण को ही लोगों से छिपा सके और न उसके विरह के कारण उत्पन्न हुयी अपनी मूर्च्छा को ही—

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चमसूर्च्छनासु च॥ ५२॥

स०—शशाकेति। अयन्नलोऽलीकवीक्षितां मिथ्यादृष्टां प्रियां दमयन्तीं समाजे सभायामेव यत् बभाषे, वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः वीणावादैः 'शिल्पमि'ति ठञ्। आलपितासु सूच्चरितासु व्यक्तिं गतास्वित्यर्थः। 'रागव्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात्। पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु 'क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहादवरोहणम्। मूर्च्छनेत्युच्यत' इति लक्षणात्। पञ्चमग्रहणन्तस्य कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम्। मुमूर्च्छेत्यपि यत्तदुभयम् अनेक प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक। 'अये' इति पाठे विषादे इत्यर्थः। 'अये क्रोधे विषादे चे'ति विश्वः। एतेन ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छावस्थाः सूचिता॥ ५२॥

अन्वय—अयं यत् अलीकवीक्षितां प्रियां बभाषे च यत् वैणिकैः पञ्चममूर्च्छनासु आलपितासु समाजे एव मुमूर्च्छ, अये, तत् निह्नोतुं न शशाक।

संस्कृत-व्याख्या—अयम् = नलः, यत्, अलीकवीक्षिताम्=मिथ्यादृष्टाम्, प्रियाम् = दमयन्तीम्, बभाषे = बभाण, च, यत्, वैणिकैः = वीणावादनचतुरैः, पंचममूर्च्छनासु = पंचमस्य पंचमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु, आलपितासु = सु उच्चरितासु—व्यक्तं गतासु—इत्यर्थः, समाजे एव = सभायां

एव, मुमूर्च्छ = मूर्च्छा आप्नोत्, अये = विषादे, तत्, निह्नोतुम् = आच्छादयितुम्, न शशाक = अशक्नोत्।

हिन्दी-अनुवाद—अयम् = इस [राजा नल] ने, यत् = जो, अलीकवीक्षिताम् = मिथ्यारूप में देखी गयी, प्रियाम् = प्रिया (दमयन्ती) से, बभाषे = वार्त्तालाप किया, च = और, यत् = जो, वैणिकैः = वीणावादकों द्वारा, पंचमसूर्च्छनासु = पंचमस्वर की सूर्च्छनाओं के, आलपितासु = आलापों के अवसर पर, समाजे एव = सभा में ही [वे], मुमूर्च्छ = मूर्च्छित हो गये, अये = दुःख है, तत् = उसे, निह्नोतुम् = छिपा सकने में, वे, न शशाक = समर्थ न हो सके।

भावार्थ—इस राजा नल ने [भावना के वशीभूत होकर] मिथ्यारूप में देखी गयी प्रिया दमयन्ती से जो वार्त्तालाप किया तथा वीणा बजाने वालों के पंचमस्वर सम्बन्धी सूर्च्छनाओं के अवसर पर समाज में ही जो वे बेहोश (सूर्च्छित) हो गये, बड़े दुःख की बात है कि इन दोनों बातों को छिपा सकने में वे समर्थ न हो सके।

[टीकाकार मल्लिनाथ ने "अये न" के स्थान पर "अनेन" पाठ मानकर व्याख्या की है। उसके अनुसार यह व्याख्या होगी—] उक्त वार्त्तालाप और स्वयं सूर्च्छित हो जाने सम्बन्धी दोनों बातों को [अनेन = अनेन प्रकारेण] इस प्रकार से अर्थात् भाग्य के बल पर ही राजा नल छिपाने में समर्थ हो सके। अर्थात् नल के उक्त भाषण और सूर्च्छा को संयोगवश लोग सुन देख नहीं सके।

अथवा—["अये न" पाठ होने पर—] मिथ्यारूप में देखी गयी प्रिया दमयन्ती से जो राजा नल ने "अये" इस सम्बोधन के साथ कहा उसे वे छिपा नहीं सके। तथा वीणावादकों के पंचमस्वरसम्बन्धी सूर्च्छना के अवसर पर जो राजा नल दमयन्ती के उद्देश्य से मूर्च्छित हुये उसे लोगों ने यह समझा कि वे वीणा की सूर्च्छनाओं के कारण उत्पन्न हुये आनन्दातिशय से ही नेत्रनिमीलन-आदि कर रहे हैं। अतः उसे भी कोई जान न सका।

अथवा—["समाजे एव" के स्थान पर "समाज एव" पाठभेद होने पर—] उक्त सूर्च्छनाओं के आनन्दातिशय के कारण समाज ही मूर्च्छित हो गया। अतएव मिथ्यादृष्ट दमयन्ती के साथ किया गया नल का वार्त्तालाप कोई भी नहीं सुन सका। **अथवा**—उक्त मूर्च्छनाओं के अवसर पर सभा ही

मूर्च्छित हो गयी। अतः मिथ्यादृष्ट दमयन्ती के प्रति किये गये नल के भाषण को सभा का कोई भी व्यक्ति न सुन सका। किन्तु इन दोनों बातों को वे कामदेव से न छिपा सके अर्थात् कामदेव ने तो उनके भाषण और उनकी मूर्च्छना दोनों को भलीभाँति समझ ही लिया क्योंकि वे उनके हृदय-स्थल में पहले से ही विराजमान थे।

उपर्युक्त वर्णन द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त श्लोक में राजा नल सम्बन्धी लज्जात्याग, उन्माद तथा मूर्च्छारूप कामदशाओं का वर्णन महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

व्याकरण—बभाषे = भाष् + लिट् । **वैणिकैः** = वीणा + ठक् + इक् (तृतीया बहुवचन का रूप)। **समाजे**—सम् + अज् + घञ् = समाजः (सप्तमी एकवचन में)—समाजे। **मुमूर्च्छ** = मूर्च्छा + लिट्—तिप्—णल् (अ)।

समास—अलीकवीक्षिताम् = अलीक यथा स्यात् तथा वीक्षिता (सुप्सुपा समास), ताम्। **वैणिकैः** = वीणावादनं शिल्पं एषां इति वैणिकाः तैः। **पञ्चममूर्च्छनासु** = पञ्चमस्य पञ्चमस्वरस्य याः मूर्च्छनाः तासु।

टिप्पणियाँ—अयम् = इस (राजा नल) ने। **अलीकवीक्षिताम्** = मिथ्यारूप में देखी गयी हुई। **प्रियाम्** = प्रिया (दमयन्ती) से। **बभाषे** = वार्त्तालाप अथवा संभाषण किया। **वैणिकैः** = वीणा बजाने वालों के द्वारा। **पञ्चममूर्च्छनासु** = पञ्चमस्वर सम्बन्धी मूर्च्छनाओं (आरोह-अवरोह आदि) के। **आलपितासु** = आलापों पर अथवा आलापने पर। पञ्चमस्वर कोकिल का स्वर माना गया है। यह अत्यन्त कोमल तथा उद्दीपक होता है। इसी दृष्टि से यहाँ इसका प्रयोग किया गया है। **समाजे**=समाज अथवा सभा में। **मुमूर्च्छ** = मूर्च्छित हो गया। **अयेन** = "अये न" इस प्रकार से विभाजन कर—"अये" को विषादसूचक अव्यय मानकर—अये, तत् निह्नोतुं न शशाक का अर्थ होगा—दुःख है कि उसे छिपा न सका। "अये क्रोधे विषादे च संभ्रमे स्मरणेऽपि च" इति विश्वः। **अथवा**—अये = "कामाय निह्नोतुं न शशाक" के आधार पर अर्थ होगा—कामदेव से छिपा सकने में समर्थ न हो सका [इः कामः तस्मै अये] "इः कामः परुपोक्तौ च" इति विश्वः। **अथवा अयेन** = भाग्य से "अयः शुभावहो विधिः" इत्यमरः।

प्रसङ्ग—लोगों द्वारा धीरे-धीरे राजा नल के कामजन्य विकार जान लिये गये—

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥ ५३ ॥

म०—अवापेति । जितेन्द्रियाणां धुर्यग्रे कीर्त्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स भूपतिः नलः तत्र समाजे असंवरे संवरितुमशक्ये संवरणं संवरः शमश्चेत्यपि, न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्रपतां सलज्जताम् अवाप । धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः ॥ ५३ ॥

अन्वय—जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः स भूपतिः तत्र असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटतां उपेयुषि (सति) सापत्रपतां अवाप ।

संस्कृत-व्याख्या—जितेन्द्रियाणाम् = इन्द्रियजयिनाम् , धुरि = अग्रे, कीर्तितस्थितिः = स्तुतमर्यादः, स = प्रसिद्धः, भूपतिः = राजा नलः, तत्र=समाजे, असंवरे = संवरणरहिते ओगोप्ये इति यावत्, शम्बरवैरिविक्रमे = कामस्य पराक्रमे–विकारे-इत्यर्थः, क्रमेण = परिपाट्या, स्फुटताम्=प्रकाशताम् , उपेयुषि= प्राप्ते, [सति], सापत्रपताम् = सलज्जताम् , अवाप = प्राप ।

हिन्दी-अनुवाद—जितेन्द्रियाणाम्=जितेन्द्रिय (पुरुषों) में, धुरि=अग्रगण्य, कीर्तितस्थितिः = कीर्तिमान स्थापित करने वाले, सः = वे, भूपतिः = राजा नल, तत्र = वहाँ सभा में, असंवरे = न छिपाये जा सकने वाले, शम्बरवैरिविक्रमे = कामदेव के पराक्रम अर्थात् विकार के, क्रमेण = क्रमशः, स्फुटतां उपेयुषि = प्रकटता को प्राप्त हो जाने पर अर्थात् प्रकट हो जाने पर, सापत्रपताम् = सलज्जता को, अवाप = प्राप्त हुये ।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुषों में अग्रणीय कीर्तिमान् स्थापित करने वाले वे राजा नल वहाँ समाज में (जन-समूह के बीच) अगोपनीय कामविकार के क्रमशः प्रकट हो जाने पर लज्जित हो गये । अर्थात् दमयन्ती सम्बन्धी कामजन्य विकार के कारण राजा नल का शरीर पाण्डुता आदि से युक्त हो गया था । अतः ऐसी शारीरिक अवस्था हो जाने पर लोगों द्वारा वास्तविकता का समझ लिया जाना स्वाभाविक ही था ।

अलङ्कार—इस श्लोक में छेकानुप्रास की प्रतीति होती है ।

व्याकरण—**असंवरः** = न संवरः—असंवरः—संवरः=सम् + वृ + अप् । **उपेयुषि** = उप + इ + लिट्—क्वसु—द्वित्वादि होकर—उपेयिवान् (सप्तमी एकवचन में) । **सापत्रपताम्** = सापत्रप + तल् + टाप् (द्वितीया एकवचन में) । **अवाप** = अव + आप् + लिट् तिप—णल (अ) ।

समास—**जितेन्द्रियाणाम्** = जितानि इन्द्रियाणि यैः जितेन्द्रियाः (बहुव्रीहि), तेषाम् । **कीर्तितस्थितिः** = कीर्तिता स्थितिः यस्य स कीर्तित-स्थितिः (बहुव्रीहि) । **असंवरे** = न विद्यते संवरो यस्य स असंवरः (नञ्-बहुव्रीहि), तस्मिन् । **शम्बरवैरिविक्रमे** = शम्बरस्य शम्बरनाम्नः असुरस्य वैरी कामदेवः, तस्य विक्रमः, तस्मिन् । **सापत्रपताम्** = अन्यतो त्रपा इति अपत्रपा तया सह वर्त्तमानः सापत्रपः ("तेन सह–" इत्यादि से बहुव्रीहि) तस्य भावः सापत्रपता, ताम् ।

टिप्पणियाँ—**जितेन्द्रियाणाम्** = जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को अपने आधीन कर लिया है ऐसे (लोगों) के । **धुरि** = आगे, अग्रभाग में । **कीर्तितस्थितिः** = जिसकी स्थिति अर्थात् मर्यादा कीर्तिसम्पन्न हो—लब्ध-प्रतिष्ठ । **असंवरे** = जिसका संवरण किया जाना संभव न हो—अथवा—जिसको छिपाया न जा सके । **शम्बरवैरिविक्रमे** = शम्बर नामक असुर के शत्रु अर्थात् कामदेव के पराक्रम अर्थात् काम द्वारा उत्पन्न विकार । कामदेव ने कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में अवतार ग्रहणकर शम्बर नामक असुर का वध कर रति से विवाह किया था । **तत्र** = वहाँ (समाज में) । **स्फुटताम्** = स्पष्टता—प्रकटता को । **उपेयुषि** = प्राप्त कर लेने पर । **सापत्रपताम्** = सलज्जता को—लज्जायुक्त होने को । **अवाप** = प्राप्त किया ।

प्रसङ्ग—विवेकसम्पन्न होने पर भी राजा नल दमयन्ती के विरह से उत्पन्न काम-पीड़ा से अत्यधिक चञ्चल मन वाले हो गये—

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम् ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥ ५४ ॥

म०—ननु विवेकिनः कुत इदं चापलम् ? इत्यत आह-अलमिति । युक्ता-युक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादयः नलमिदं स्त्रीलाभरूपं चापलं निरोद्धुम् 'दुहियाची'त्यादिना रुन्धेर्द्विकर्मकत्वम् । अलं समर्था नाभवन् किल खलु । तथाहि–स्मरः कामः । जनमिति शेषः । जनं रत्यां रागे अनिरुद्धं सृजति अनीश्वरम-वशंकरोति रत्यां रतिदेव्यामनिरुद्धाख्यं कुमारं सृजतीति ध्वनिः । इति यत् अयं सर्गनिसर्गः सृष्टिस्वभाव ईदृशः । 'रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपिसुरतेऽपि च' । अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः । अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सर्वसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्था-न्तरन्यासः ॥ ५४ ॥

अन्वय—अमी विवेकप्रभवाः गुणाः नलं चापलं रोद्धुं अलं न अभवन् किल । अयम् ईदृशः सर्गनिसर्गः यत् स स्मरः रत्यां अनिरुद्धं एव सृजति ।

संस्कृत-व्याख्या—अमी = एते, विवेकप्रभवाः = युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवाः, गुणाः = धैर्यादयः, नलम् = नैषधम्, चापलम् = चञ्चलताम्, रोद्धुम् = निवारयितुम्, अलम् = समर्थाः, न अभवन् = न जाताः । अयम् = ईदृशः, सर्गनिसर्गः = सृष्टिस्वभावः, यत्, सः, स्मरः = कामः, जनमितिशेषः—जनम्, रत्याम् = अनुरागे अनिरुद्धम् = अनीश्वरमवशम्, एव, सृजति = करोति । [अथवा—रत्याम् = रतिदेव्याम्, अनिरुद्धम् = अनिरुद्धाख्यम् कुमारम् सृजतीति ध्वनिः ।]

हिन्दी-अनुवाद—अमी = ये, विवेकप्रभवाः = विवेक से उत्पन्न, गुणाः = 'धैर्य' आदि गुण, नलम् = राजा नल को, चापलम् = चपलता से, रोद्धुम् = रोकने में, अलम् = समर्थ, न अभवन् = नहीं हुए, किल । अयम् = यह, ईदृशः = ऐसा, सर्गनिसर्गः = सृष्टि का स्वभाव है, यत् = कि, सः स्मरः = वह कामदेव, रत्याम् = रति (अनुराग) उत्पन्न होने पर, [जनम् = प्राणी को] अनिरुद्धं एव = बेबस (चंचल), एव सृजति = करता ही है । [अथवा रत्याम् = रति देवी में, अनिरुद्धम् = अनिरुद्ध नामक कुमार को, सृजति = उत्पन्न करता है ।]

भावार्थ—ये प्रसिद्ध विवेक आदि गुण नल की चपलता को रोक नहीं सके क्योंकि कामदेव रति (अनुराग) होने पर चपलता की ही उत्पत्ति (सृष्टि) करता है—यही सृष्टि का नियम है । **अथवा** कामदेव रतिकाल में चपलता की ही सृष्टि करता है अर्थात् रतिकाल में सभी चंचल हो जाते हैं—यही सृष्टि का नियम है । **अथवा**—कामदेव रति नामक अपनी प्रिया में अनिरुद्ध नामक अपने पुत्र को ही उत्पन्न करता है, यही सृष्टि का नियम है ।

कहने का तात्पर्य यह है, कि विवेक आदि गुण सम्पन्न होने पर भी राजा नल दमयन्ती के विरह से उत्पन्न काम-पीडा के कारण अत्यधिक चञ्चल हो गये ।

अलङ्कार—इस श्लोक में पूर्वार्ध में वर्णित वाक्यार्थ सामान्य का उत्तरार्ध में वर्णित वाक्यार्थ-विशेष द्वारा समर्थन किये जाने से "अर्थान्तरन्यास" नामक अलङ्कार है ।

व्याकरण—**नलं** तथा **चापलम्** दोनों ही कर्म "रोद्धुम्" के हैं क्योंकि

"रुध्" धातु द्विकर्मक है। "नलम्" में षष्ठी अथवा सप्तमी विभक्ति के अर्थ में द्वितीया विभक्ति हुयी है। **रोद्धुम्** = यहाँ "अलम्" के योग में "पर्याप्तिवचने-ष्वलमर्थेषु" सूत्र से "तुमुन्" प्रत्यय हुआ है।

समास—विवेकप्रभवाः = युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवाः इति। सर्गनिसर्गः = सर्गस्य (सृष्टेः) निसर्गः (स्वभावः) इति सर्गनिसर्गः।

टिप्पणियाँ—**अमी** = ये। **विवेकप्रभवाः** = कौन सी बात युक्त अर्थात् ठीक है और कौन सी अयुक्त अर्थात् गलत् है इसका ज्ञान होना ही 'विवेक' कहलाता है। अथवा कौन सी बातें आदि ग्रहण करने योग्य हैं और कौन सी त्यागने योग्य? इसका ज्ञान ही विवेक कहा जाता है। विवेक से हुयी है उत्पत्ति जिनकी ऐसे गुण। पाठभेद में "**विवेकप्रमुखाः**" भी आता है। इसका समास होगा "विवेकः प्रमुखो येषु ते" (बहुव्रीहि)। अर्थ होगा जिनमें विवेक ही प्रमुख है ऐसे गुण—अर्थात् विवेकसम्पन्न गुण। **गुणाः**=गुण-धैर्य, शौर्य आदि। **अलम्** = पर्याप्त, समर्थ। **सर्गनिसर्गः**=सृष्टि का स्वभाव अथवा धर्म। "सर्गः स्वभावनिर्मोक्षो निश्चयाध्यायसृष्टिषु" इत्यमरः। "स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्य-मरः। **रत्याम्** = प्रेम अथवा अनुराग। दूसरे पक्ष में—कामदेव की स्त्री। रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च" इति विश्वः। **अनिरुद्धम्** = चंचल अथवा वशरहित। दूसरे पक्ष में—कामदेव के पुत्र। "अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि च" इति विश्वः।

प्रसङ्ग—विवश होकर राजा नल ने उद्यान में विहार करने के बहाने से कुछ काल पर्यन्त निर्जन देश में रहने की इच्छा प्रकट की—

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि।
क्षणं तदारामविहार कैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥५५॥

म०—अथास्य मनोरथसिद्ध्यौपयिक दिव्यहंससंवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति—अनङ्गेति। स नैषधौ नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्च्छाप्रलापादिस्मर-विकारं विना संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक, तदा आरामविहारकैतवादु-पवनविहरणव्याजान्निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः। एतेन चापलाख्ये सञ्चारिणि भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः॥ ५५॥

अन्वय—यदा स यत्नवान् अपि अनङ्गचिह्नं विना संसदि क्षणं आसितुं न शशाक तदा आरामविहारकैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुं इयेष।

संस्कृत-व्याख्या—यदा = यस्मिन् काले,सः = नलः, यत्नवान् अपि =

कृतप्रयत्नः अपि, अनङ्गचिह्नम् = मूर्च्छाप्रलापादिकामविकारम्, विना = ऋते, संसदि = सभायाम्, क्षणम् = किञ्चिद् कालमपि, आसितुम् = स्थातुम्, न शशाक = न समर्थः अभूत्, तदा = तस्मिन् काले, आरामविहारकैतवात् = उद्यानविहरणव्याजात, निर्जनम् = जनरहितम्, देशम् = स्थानम्, निषेवितुम् = सेवितुम्, इयेष=ऐच्छत्। देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः।

हिन्दी-अनुवाद—यदा = जब, सः = वे नल, यत्नवान अपि = प्रयत्नकरने पर भी, अनङ्गचिह्नम् = मूर्च्छा प्रलाप आदि काम-विकार के, विना = विना; संसदि = सभा में, क्षणम् = क्षणभर के लिये भी, आसितुम् = बैठने के लिये, न शशाक = समर्थ नहीं हुये, तदा = तब, [उन्होंने], आरामविहारकैतवात्= उद्यान-भ्रमण के बहाने से, निर्जनम् = जनरहित, देशम्=देश को, निषेवितुम्= सेवन करने की,इयेष = इच्छा की।

भावार्थ—प्रयत्न करने पर भी वे नल जब जनसमूह के समक्ष दमयन्ती-विरहजन्य मूर्च्छा, प्रलाप आदि कामदेव द्वारा उत्पन्न किये गये हुये विकारों को छिपा सकने में समर्थ न हो सके तब उन्होंने बाग-बगीचे आदि स्थानों में भ्रमण करने के बहाने से कुछ समय के लिये निर्जन स्थान की इच्छा प्रकट की।

राजा नल यह निरन्तर प्रयत्न करते रहे कि उनके शरीर में दमयन्ती के विरह के कारण काम द्वारा पाण्डुता, कृशता, दीर्घनिश्वास, मूर्च्छा, प्रलाप इत्यादि उत्पन्न किये गये हुये विकार किसी प्रकार शान्त हो जायँ किन्तु जब वे अपने एतत्सम्बन्धी प्रयत्नों में किसी भी प्रकार सफल न हो सके तब उन्होंने सोचा कि लोगों के बीच में इस दशा में रहना मेरे लिये उचित नहीं है और उन्होंने यही निर्णय किया कि मुझे इस स्थान को छोड़कर किसी अन्य एकान्त स्थान पर चला जाना चाहिये। तब उन्होंने लोगों से यही कहा कि मैं उद्यान-भ्रमण आदि करने का इच्छुक हूँ और इस बहाने से उन्होंने एतत्सम्बन्धी प्रबन्ध करने का आदेश दे दिया।

इस पद्य में चंचलता नामक संचारीभाव के उदित हो जाने पर "भ्रमण" नामक अनुभाव का कथन किया गया है।

अलङ्कार—इस श्लोक में "अपह्नुति" अलङ्कार की प्रतीति होती है।

व्याकरण—यत्नवान् = यत्न + मतुप्। अनङ्गचिह्नम् = में "पृथक्-विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्" सूत्र में वर्णित नियम के आधार पर द्वितीया

विभक्ति हुयी है। **संसदि** = सम् + सत् + क्विप्—संसद् (सप्तमी एकवचन में—संसदि)। **क्षणम्** = में "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुयी है। "कालविशेषोत्सवयोः क्षणः" इत्यमरः। **निषेवितुम्** = नि + सेव् = तुमुन् "परिनिविभ्यः सेवसित" से 'स' के स्थान पर 'ष' हो जाता है।

समास—अनङ्गचिह्नम् = अनङ्गस्य चिह्नम् इति। **आरामविहार-कैतवात्** = आरामे विहारः इति आरामविहारः (सप्तमी तत्पुरुष) तस्य कैतवम् (षष्ठी तत्पुष) तस्मात्।

टिप्पणियाँ—यत्नवान् = यत्न करने पर भी—प्रयत्नशील होने पर भी। **अनङ्गचिह्नम्** = मूर्च्छा, प्रलाप, पाण्डुता, लम्बी-लम्बी साँसो (आहों) का लेना आदि कामदेव द्वारा उत्पन्न किये गये हुये विकार रूपी चिह्नों की, **संसदि**=सभा में-जनसमूह के समक्ष। "समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः" इत्यमरः। **आसितुम्** = बैठने अथवा स्थित रहने के लिये। **न शशाक** = समर्थ नहीं हुए। **आरामविहारकैतवात्** = उपवन (बाग, बगीचा) में विहार करने के बहाने से। "आरामः स्यादुपवनम्" इत्यमरः। **निषेवितुम्** = सेवन करने के लिये। **इयेष** = इच्छा की, अभिलाषा (प्रकट) की।

प्रसङ्ग—उद्यान-विहार के इच्छुक राजा नल ने अपने अभिन्न मित्रों के साथ उद्यान जाने हेतु सवारी (घोड़ा आदि) तैयार करने के लिये नौकरों को आदेश दिया—

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥५६॥

म०—अथेति। अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सितमत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्मरः स नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वयसा तुल्या वयस्याः स्निग्धाः 'स्निग्धो वयस्यः सवया' इत्यमरः। तैः सह समं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपाराममीक्षिता द्रष्टा, तृन्नन्तमेवैतत् अतएव 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। किलेत्यलीके। निदेशकारिण आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतुमित्यर्थः। 'क्रियार्थोपे' त्यादिना चतुर्थी। दिदेश आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

अन्वय—अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः स्वरहस्यवेदिभिः वयस्यैः समं पुरोपकण्ठोपवनं ईक्षिता किल निदेशकारिणः यानाय दिदेश।

संस्कृत-व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, श्रिया = सौन्दर्येण, भर्त्सितमत्स्य-

केतनः = भर्त्सितः तिरस्कृतः मत्स्यकेतनः कामः येन तादृशः [नलः], स्वरहस्यवेदिभिः = निजभैमीरागमर्मज्ञैः, वयस्यैः = स्निग्धैः, समम्, पुरोपकण्ठोपवनम् = नगरसमीपस्थमुद्यानम्, ईक्षिता = द्रष्टा, किल = अलीकम्, निदेशकारिणः=आज्ञाकरान् भृत्यान्, यानाय = यानमानेतुमित्यर्थः, दिदेश=आज्ञापयामास ।

हिन्दी-अनुवाद—अथ = इसके पश्चात्, श्रिया = [अपने] सौन्दर्य से, भर्त्सितमत्स्यकेतनः = कामदेव को तिरस्कृत करने वाले, [राजा नल ने] स्वरहस्यवेदिभिः = अपने रहस्य को जानने वाले, वयस्यैः = [अपने] मित्रों के, समम = साथ, पुरोपकण्ठोपवनम् = नगर के पास में स्थित उद्यान को, ईक्षिता किल = देखने की इच्छा से, निदेशकारिणः = अपने आज्ञाकारी सेवकों को, यानाय = सवारी लाने के लिए, दिदेश = आज्ञा दी ।

भावार्थ—उद्यान-विहार सम्बन्धी अपनी इच्छा प्रकट करने के पश्चात् काम-पीड़ित होने पर भी अपने शरीर की शोभा से कामदेव को तिरस्कृत [नीचा दिखाने वाले] करने वाले राजा नल ने, अपने रहस्य (ये राजा नल-वस्तुतः विहार करने की दृष्टि से उद्यान को नहीं जा रहें हैं अपितु अपने अन्दर उत्पन्न हुये काम विकारों को छिपाने की दृष्टि से ही उद्यान की ओर जा रहें हैं-इत्यादि गुप्त वार्तो को) जानने वाले मित्रों के साथ नगर के पास में ही स्थित उद्यान को देखने की इच्छा से सवारी लाने के लिये अपने आज्ञाकारी नौकरों को आदेश दिया ।

अलङ्कारः—इस श्लोक में "सहोक्ति" अलङ्कार है ।

व्याकरण—**वेदिभिः** = विद् + णिनि— [तृतीयाबहुवचन]। **वयस्यैः**= वयस् + यत्—(तृतीया बहुवचन)। **ईक्षिता**—ईक्ष् + तृन् । तृन्नन्त "ईक्षिता" के योग में "उपवनं" में "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" सूत्र से षष्ठी विभक्ति का निषेध हो जाने पर द्वितीया हुयी । **यानाय** = यहाँ "यानमानेतुम्" ऐसी विवक्षा होने के कारण "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" सूत्र के द्वारा चतुर्थी विभक्ति हुयी है ।

समास—**भर्त्सितमत्स्यकेतनः** = भर्त्सितः मत्स्यकेतनः येन सः । **स्वरहस्यवेदिभिः** = स्वस्य रहस्यम् (षष्ठी तत्पु०), तत् विदन्तीति स्वरहस्यवेदिनः तैः । वयस्यैः वयसा तुल्याः वयस्याः तैः । **पुरोपकण्ठोपवनम्** = कण्ठस्य समीपं उपकण्ठम् (अव्ययीभाव) पुरं उपकण्ठं यस्य तत् पुरोपकण्ठम् (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—अथ=अनन्तर—उद्यान में विहार करने सम्बन्धी इच्छा को प्रकट करने के उपरान्त। **श्रिया** = [शरीर की] शोभा से अथवा सौन्दर्य से। **भर्त्सितमत्स्यकेतनः** = कामदेव को तिरस्कृत करने वाले अथवा कामदेव को नीचा दिखलाने वाले। पाठभेद में—"भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः" ऐसा भी प्रयोग मिलता है किन्तु अर्थ समान ही है। कामदेव के रथ की ध्वजा में मछली का चिह्न विद्यमान है। अतः इसी से उनको "मत्स्यलाञ्छनः" अथवा "मत्स्यकेतनः" नाम से कहा गया है। **स्वरहस्य-वेदिभिः** = अपने [राजा नल के] रहस्य को जानने वाले। **वयस्यैः** = मित्रों के साथ। **समम्** = साथ। **पुरोपकण्ठोपवनम्** = नगर के समीप में स्थित उद्यान को। **ईक्षिता** = देखने वाला, द्रष्टा। **किल** = इस स्थल पर प्रयुक्त यह अव्यय-मिथ्यासूचक है। क्योंकि राजा नल का अभिप्राय काम-विकार को छिपाना ही है, उद्यान-भ्रमण नहीं। **निदेशकारिणः** = आज्ञापालक, नौकरों अथवा भृत्यों। **यानाय** = सवारी लाने के लिये। **दिदेश** = आज्ञा दी, आदेश दिया।

प्रसङ्ग—तत्पश्चात् नौकर राजा नल के लिये सुसज्जित घोड़े को ले आये—

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम्।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

म०—अमी इति। तत आज्ञापनानन्तरं अमी निदेशकारिणःतस्य विभूषितमलङ्कृतञ्जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणात् चाधिकं 'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः। 'पुरुषहस्तिभ्यामण् च' त्यण्प्रत्ययः। अजस्रचञ्चलैश्चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैःशफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णीकृताश्वशालाभ्यन्तरं 'वाजिशाला तु मन्दुरे'त्यमरः। एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सितं श्वेतमश्वमुपाहरन्नानिन्युरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

अन्वय—ततः अमी तस्य विभूषितं सितं जवे अपि माने अपि पौरुषाधिकं अजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरं अश्वं उपाहरन्।

संस्कृत-व्याख्या—ततः=तदाज्ञानन्तरम्, अमी=निदेशकारिणः भृत्याः, तस्य = नलस्य, विभूषितम् = अलंकृतम्, सितम् = श्वेतम्, जवे अपि = वेगे अपि, माने अपि च = परीक्षणे अपि च, पौरुषाधिकम्=पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणाच्चाधिकम्, अजस्रचञ्चलैः = चटुलस्वभावैः, खुराञ्चलैः = शफाग्रैः, क्षोदितमन्दुरोदरम् = क्षोदितं चूर्णीकृतं मन्दुरायाः वाजिशालायाः उदरं मध्यभागं येन तादृशम्, अश्वम् = घोटकम्, उपाहरन् = आनिन्युः।

हिन्दी-अनुवाद—ततः = तदनन्तर, अमी = वे नौकर, तस्य=उसके (लिये), विभूषितम् = भलीभाँति सजाये गये हुये, सितम् = श्वेतवर्ण के, जवे अपि = वेग में भी, माने अपि च = और परिमाण में भी, पौरुषाधिकम् = पुरुष की अपेक्षा अधिक परिमाणवाले, अजस्रचञ्चलैः = निरन्तर चंचल, खुराञ्चलैः = खुरों के अग्रभागों से, क्षोदितमन्दुरोदरम् = घुड़साल का फर्श खोदने वाले, अश्वम् = घोड़े को, उपाहरत् = ले आये।

भावार्थ—तदनन्तर वे नौकर अलङ्कारों से विभूषित, श्वेतवर्ण वाले, वेग तथा ऊँचाई में पुरुष से भी अधिक और निरन्तर चंचल अपनी टापों द्वारा घुड़साल के मध्यभाग को अर्थात् फर्श को खोद डालने वाले घोड़े को [राजा नल के लिये] ले आये।

कहने का तात्पर्य यह है कि वे नौकर उत्तम लक्षणों से संपन्न घोड़े को राजा नल के गमन करने के लिये वहाँ ले आये। उत्तम घोड़े के लक्षण—"खुरैः खनन्यः पृथ्वीमश्वो लोकोत्तरः स्मृतः" इति शालिहोत्रः॥

व्याकरण—**विभूषितम्** = वि + भूष् + णिच् + क्त। **पौरुषम्** = पुरुष + अण् "पुरुषहस्तिभ्यामण च" सूत्र से। **उपाहरन्** = उप + आ + हृ + लङ्—झि।

समास—**अजस्रचञ्चलैः** = अजस्र यथा स्यात्तथा चञ्चलानि, तैः। क्षोदितमन्दुरोदरम् = मन्दुरायाः उदरम् इति मन्दुरोदरम् (षष्ठी तत्पु०) क्षोदितं मन्दुरोदरं येन स क्षोदितमन्दुरोदरः (बहुव्रीहि), तम्।

टिप्पणियाँ—**ततः** = तदनन्तर—राजा नल की आज्ञा प्राप्ति के पश्चात्। **विभूषितम्** = विशेष रूप से अलंकृत अथवा सजाये गये। **सितम्** = श्वेतवर्ण के। **जवे** = वेग में। "रंहस्तरसी तु रयः स्यदः। जवः" इत्यमरः। **माने** = परिमाण में—नाप में—ऊँचाई में। **पौरुषाधिकम्** = ऊपर को उठाये हुये हाथ और भुजासहित एक पुरुष के नाप को "पौरुष" कहा जाता है—"उर्ध्वविस्तृतदोष्पाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु" इत्यमरः। पुरुष के नाप से भी अधिक ऊँचाई वाले। **अजस्रचञ्चलैः** = निरन्तर चंचल—"नित्यानवरताजस्रम्"—इत्यमरः। **खुराञ्चलैः** = खुरों के अग्रभागों से—टापों से। **क्षोदितमन्दुरोदरम्** = खोद दिया है अस्तबल (घुड़साल) के फर्श को जिसने—"वाजिशाला तु मन्दुरा" इत्यमरः। **उपाहरत्** = ले आये।

प्रसङ्ग—अब आगे के सात श्लोकों में घोड़े का वर्णन करते हैं। इनमें वर्णित विशेषणों से युक्त उस घोड़े पर राजा नल सवार हुये—

अथान्तरेणावटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः ।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

म०—अथ सप्तभिः कुलकमाह—अथेत्यादि । अथानयनान्तरं स नलो हयमारुरोहेत्युत्तरेणान्वयः । कथंभूतमान्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकाख्यमस्तकपृष्ठभाजा 'अवटुर्घाटा कृकाटिके'त्यमरः, अध्वना मार्गेण निगालगाद्गलोद्देशात् 'निगालस्तु गलोद्देश' इत्यमरः । देवमणिः आवर्त्तविशेषः, 'निगालजो देवमणिरि'-ति लक्षणात् । दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । निशीथिनीनाथमहःसहोदरैश्चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा । केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं तैर्विराजितम् ॥ ५८ ॥

अन्वय—अथ आन्तरेण अवटुगामिना अध्वना निगालगाद् देवमणेः उत्थितैः इव निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः केसरकेशरश्मिभिः विराजितम् (हयं आरुरोह) ।

संस्कृत-व्याख्या—अथ = आनयनान्तरम् [सः = नलः हयमारुरोह—इत्युत्तरेणान्वयः] कथंभूतमश्वम् ? तदाह—आन्तरेण = आभ्यन्तरेण, अवटुगामिना = कृकाटिकामस्तकपृष्ठभाजा, अध्वना = मार्गेण, निगालगाद् = गलोद्देशजात्, देवमणेः = आवर्त्तविशेषः—तस्मात्, उत्थितैः इव = निःसृतैः इव निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः = निशीथिनी रात्रिः तस्याः नाथः चन्द्रः, तस्य महांसि किरणाः, तेषां सहोदरैः सदृशैः—चन्द्रांशुसदृशैः, केसरकेशरश्मिभिः = स्कन्धप्ररूढाः केसरकेशाः तेषां रश्मिभिः **अथवा** केसरकेश एव रश्मयः तैः, विराजितम् = शोभितम् [अश्वम्] ।

हिन्दी-अनुवाद—अथ = घोड़े के आ जाने के अनन्तर (राजा नल), आन्तरेण = अन्दर की ओर से, अवटुगामिना = कृकाटिका की ओर जाने वाले, अध्वना = मार्ग से, निगालगाद् = गलप्रदेश में विद्यमान, देवमणेः = 'देवमणि' नामक भौंरी से, उत्थितैः इव = मानों उठे हुए अथवा मानों निकले हुये, निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः = चन्द्रमा की किरणों के सदृश, केसरकेशरश्मिभिः = गर्दन के केश अथवा अयालों की किरणों से, विराजितम् = सुशोभित (अश्व पर सवार हुये) ।

भावार्थ—इसके पश्चात् गल प्रदेश में स्थित देवमणि नामक शुभलक्षणसूचक चिह्नविशेष से कण्ठ के मध्य में स्थित गर्दन के ऊपरी प्रदेश की ओर जाते हुये मार्ग से निकले हुये तथा चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल

वर्णवाले केसर (अयाल) के बालों की किरणों से सुशोभित [घोड़े पर राजा नल सवार हुये—ऐसा आगामी श्लोक सं० ११६४ से सम्बन्ध करना चाहिये।]।

देवमणि कौस्तुभमणि को भी कहते हैं ["देवमणिः शिवेऽश्वस्य कण्ठावर्त्ते च कौस्तुभे" इति विश्वः।] देवमणि और चन्द्रमा दोनों की उत्पत्ति समुद्र से हुयी है। अतः देवमणि की ओर से उत्पन्न केसर (अयाल) के बालों का चन्द्रसहोदर होना उचित ही है।

अलङ्कार—"देवमणेः उत्थितैः इव" में उत्प्रेक्षा, "निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः" में उपमा तथा "केसरकेशरश्मिभिः" में रूपक अलङ्कार हैं। अतः यहाँ अलङ्कारों का संकर ही कहा जा सकता है।

व्याकरण—अवटुगामिना = अवटु + गम् + णिनि (कर्ता में)—अवटुगामी [तृतीया-एकवचन में]।

समास—अवटुगामिना = अवटुं गच्छतीति अवटुगामी तेन। **निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः** + निशीथिन्याः नाथः इति निशीथिनीनाथः तस्य महांसि, तेषां सहोदरैः। [इस स्थल पर लक्षणा द्वारा "सहोदर" पद का "तुल्य" अर्थ लिया गया है—समाने उदरे शयितः—सहोदरः—यहाँ "वोपसर्जनस्य" सूत्र से विकल्प करके 'समान' के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है]। **केसरकेशरश्मिभिः** = केसरकेशानां रश्मिभिः इति।

टिप्पणियाँ—आन्तरेण = अभ्यन्तर की ओर से अथवा मध्य से। **अवटुगामिनी** = 'अवटु' गर्दन के जोड़ अथवा गर्दन के ऊपर के हिस्से को कहते हैं ["अवटुर्घाटा कृकाटिका" इत्यमरः]। राजा नल के घोड़े की गर्दन के अधोभाग में "देवमणि" नामक भौंरी थी और गर्दन के ऊपरी भाग में श्वेतवर्ण के, अयाल थे। यहाँ महाकवि द्वारा यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि वह मानो "देवमणि" से निकलने वाली किरणें ही थीं जो गर्दन के ऊपरी भाग पर पहुँचने वाले आन्तरिक मार्ग से होकर आयालों के रूप में गर्दन के ऊपर फैली हुयी थीं। **अध्वना** = मार्ग से। **निगालगात्** = गले में स्थित अथवा विद्यमान। गले के एक भाग को ही "निगाल" कहा जाता है—"निगालस्तुगलोद्देशः" इत्यमरः। **देवमणेः** = घोड़ों के गले पर उत्पन्न होने वाली एक प्रकार के केशों की भँवरी (भौंरी)। घोड़ों में इसका होना शुभलक्षणपरक माना जाता है—"देवमणिः शिवेऽश्वस्य कण्ठावर्त्ते" इति विश्वः।

निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः = चन्द्रमा की किरणों के समान। **केसर-केशरश्मिभिः** = गले के बालों अर्थात् अयालों से निकलने वाली किरणों से। संस्कृत भाषा में घोड़े की गर्दन पर निकलने वाले बालों को "केसर" तथा 'पारसी' में "अयाल" नाम से कहा जाता है। **विराजितम्** = सुशोभित। इस पद का एक अन्य अर्थ भी किया जा सकता है—वीनां पक्षिणां राजा विराजः—गरुडः, तद्वत् आचरितम् इति [विराज + णिच् + क्त]—इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ होगा—गरुड़ के सदृश आचरण करने वाले अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगगामी (घोड़े पर नल सवार हुये)।

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः॥ ५९॥

म०—अजस्रेति। अजस्रेण भूमीतटकुट्टनेन उद्गतैरुत्थितै रेणुभिः रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्याध्ययनार्थमभ्यासायागतैरणिमाङ्कितैरणुत्वपरिमाणविशिष्टैर्जनस्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा। चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम्। 'अणुपरिमाणं मन' इति तार्किकाः॥ ५९॥

अन्वय—अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः रेणुभिः रयप्रकर्षाध्ययनार्थम् आगतैः अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभिः इव चरणेषु उपास्यमानम् (हयमारुरोह)।

संस्कृत-व्याख्या—अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = अजस्रं निरन्तरं भूमीतटकुट्टनं पृथ्वीतलचूर्णनं तेन उद्गतैः; उत्थितैः, रेणुभिः = धूलिभिः, रयप्रकर्षाध्ययनार्थम् = रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्य अध्ययनार्थं अभ्यासाय, आगतैः=आयातैः, अणिमाङ्कितैः = अणुत्वपरिमाणविशिष्टैः, जनस्य = लोकस्य, चेतोभिः = चित्तैः, इव, चरणेषु = पादेषु, उपास्यमानम् = सेव्यमानम् (हयमारुरोह)।

हिन्दी-अनुवाद—अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = निरन्तर पृथ्वीतट के ताड़न से उठी हुयी, रजोभिः = धूलियों से, रयप्रकर्षाध्ययनार्थम् = [मानों] वेग के आधिक्य को सीखने के निमित्त, आगतैः = आये हुये, अणिमाङ्कितैः = अणु-परिमाण से युक्त, जनस्य = लोगों के, चेतोभिः इव = [साक्षात् रूप से] अन्तःकारण ही हों [इस रूप में], चरणेषु उपास्यमानम् = सेवित चरणों वाले (घोड़े पर राजा नल सवार हुये)।

भावार्थ—तीव्र वेग को सीखने के निमित्त आये हुये, अणुपरिमाणवाले लोगों के मनों के सदृश, लगातार पृथ्वीतल (फर्श) पर ताड़न किये जाने से उठी हुयी धूलियों के द्वारा उस घोड़े के चरण सेवित किये जा रहे थे। (ऐसे घोड़े पर राजा नल सवार हुये)।

अर्थात् उस घोड़े का वेग मनुष्यों के मन से भी अधिक तीव्र था। अतः लोगों के मन तीव्र-वेग की शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त उस घोड़े के समीप आये हुये थे। इस भाँति लोगों के मन शिष्य के रूप में थे और घोड़ा गुरु रूप में। अतएव मन रूपी शिष्य गुरु रूप में विद्यमान घोड़े के चरणों का स्पर्श धूल के रूप में कर रहे थे, ऐसा प्रतीत होता था क्योंकि लोगों के मन का परिमाण भी अणुपरिमित है (मन को अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है)। अतः लोगों के मन (लगातार भूमि पर पैरों को पटकने से उड़ी हुयी सूक्ष्म रूप में विद्यमान) धूलि के रूप में विद्यमान थे।

अलङ्कार—"चेतोभिः इव" इत्यादि में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—भूमी = भूमि + ङीप्—("कृतिकारादक्तिनः" से)=भूमी। **अणिमा** = अणु + इमनिच्। **उपास्यमानम्** = उप् + आस् + शानच् (कर्मवाच्य में)।

समास—अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = भूम्याः तटम् इति भूमीतटम्, तस्य कुट्टनम् (षष्ठी तत्पु०) इति भूमीतटकुट्टनम्, अजस्रं भूमीतटकुट्टनम् (सुप्सुपा समास), तेन उद्गताः (तृतीया तत्पुरुष), तैः। **रयप्रकर्षाध्ययनार्थम्** = रयप्रकर्षस्य अध्ययनार्थम्—(षष्ठी तत्पु०)।

टिप्पणियाँ—अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = निन्तर (लगातार) पृथ्वीतल को कूटने से (फर्श पर अपने चरणों को वार-वार पटकने से) उड़ी हुयी। पृथ्वीतल पर इस प्रकार से पैरों को मारना अथवा अपनी टापों से निन्तर पृथ्वीतल (फर्श) को खोदना उत्तम जाति के घोड़ों के अनेक लक्षणों में एक है। **रेणुभिः** = धूलियों से। **रयप्रकर्षाध्ययनार्थम्** = वेग की प्रकर्षता (अतिशयिता अथवा आधिक्य) का अध्ययन (सीखने) करने के लिये। **आगतैः** = आये हुये। **अणिमाङ्कितैः** = अणु सदृश परिमाण से अङ्कित अथवा युक्त। ("अणुपरिमाणं मनः" इति तार्किकाः) अणु का परिमाण अत्यन्त सूक्ष्म होता है तथा अदृश्य भी। **जनस्य**=लोक के—जन समूह के अथवा लोगों के। **उपास्यमानम्** = सेवन किये जाते हुये। लोगों के मन राजा नल के घोड़े से वेगातिशय को सीखने के लिये आये हुये हैं। अतएव धूलि के रूप में विद्यमान उनके मन अपने गुरु घोड़े के चरणों का स्पर्श कर रहे हैं।

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम्।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम्॥६०॥

म०—चलाचलेति । पुनः, चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाणघोणतया 'चरिचलिपदीनामुपसंख्याना' च्चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियामि' त्यमरः । महीभृते नलाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुकमुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा । अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते–अलमिति । गिरा उक्त्या अलं,कुतः, अयं नलः स्वयं हयस्याश्वस्य आशयमभिप्रायं वेद वेत्ति । 'विदो लटो वे'ति णलादेशः । इति हेतोरिवेत्यनुषङ्गः मौनं तूष्णीम्भावश्चास्थितं प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धिः ॥ ६० ॥

अन्वय—चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पान् वक्तुं उत्सुकं इव, 'गिरा अलं अयं स्वयं हयस्य आशयं वेद किल' इति मौनं च आस्थितम् (हयमारुरोह) ।

संस्कृत-व्याख्या—चलाचलप्रोथतया = स्फुरमाणघोणतया, महीभृते = राज्ञे नलाय, स्ववेगदर्पान् = वेगातिरेकान्, वक्तुम् = कथयितुम् , उत्सुकमिव = उद्युक्तमिव, गिरा = वाचा, अलम् = व्यर्थम् , अयम् = नलः, स्वयम्=साक्षात् , हयस्य = अश्वस्य, आशयम् = अभिप्रायम् , वेद = जानाति, किल, इति-हेतोः, मौनम् = तूष्णीम्भावम् , च, आस्थितम् = प्राप्तम् (अश्वमारुरोह) ।

हिन्दी-अनुवाद—चलाचलप्रोथतया = अत्यधिक चलायमान नथुनों के होने से, महीभृते = राजा नल से, स्ववेगदर्पान् = अपने वेग के सम्बन्ध में अभिमानयुक्त बातों को, वक्तुम् = कहने के लिये, उत्सुकं इव = मानों उत्सुक [किन्तु] गिरा = वाणी द्वारा, अलम् = मत कहो, अयम् = यह नल, स्वयम्= अपने आप ही, हयस्य = घोड़े के, आशयम् = अभिप्राय को, वेद किल=जानते ही हैं, इति = इस कारण, मौनम् = मौनभाव को, आस्थितम् = धारण किये हुये (घोड़े पर राजा नल सवार हुये ।

भावार्थ—नथुनों अथवा ओष्ठ के अग्रभाग की अत्यधिक चञ्चलता के द्वारा अपने वेग सम्बन्धी दर्प को मानों राजा नल से कहने के लिये उत्कण्ठित किन्तु "मत कहो, ये नल स्वयं ही घोड़े के वास्तविक अभिप्राय को जानने वाले हैं" इस कारण पूर्णरूपेण मौन को धारण किये हुये—(घोड़े पर राजा नल सवार हुये ।

राजा नल के सम्बन्ध में ऐसी प्रसिद्धि है कि वे अश्व-सम्बन्धी-विद्या के भी पूर्ण पारखी थे । अतः वे अपने लिये लाये गये घोड़े के हृदय में विद्यमान भावों को भली भाँति समझ रहे थे । इसी कारण बाद में घोड़े ने मौन धारण कर लिया ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में अश्व-सम्बन्धी स्वाभाविक वर्णन के विद्यमान होने से "स्वभावोक्ति" अलङ्कार की प्रतीति होती है। "स्ववेगदर्पान् वक्तुं उत्सुकमिव" में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार भी है।

व्याकरण—**चलाचलः** = चल् + अच्—पश्चात् "चरिचलिपतिवदीनां वाद्विर्वचनमाक्चाभ्यासस्य" से द्वित्व और आक् आगम होकर "चलाचलः" बना है। **वेद** = विद् + लट्—"विदो लटो वा" सूत्र से णल् (अ)-आदेश। **मौनम्** = मुनेर्भावः मौनम्—मुनि + अण्।

समास—**चलाचलप्रोथतया** = चलाचलः अतिचञ्चलः प्रोथः ओष्ठाग्रं नासापुटं वा यस्य तस्य भावः—चलाचलप्रोथता, तया। **स्ववेगदर्पान्** = स्वस्य वेगदर्पान् इति।

टिप्पणियाँ—**चलाचलप्रोथतया** = नथुनों के अत्यधिक चञ्चलता युक्त होने से। प्रोथ-नथुना "घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्" इत्यमरः। **महीभृते** = राजा नल से। यहाँ "क्रियया यमभिप्रेति सोऽपि सम्प्रदानम्" से सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हुयी है। **स्ववेगदर्पान्** = अपने अतिशय वेग सम्बन्धी दर्पों को। **वक्तुम् उत्सुकमिव**=कहने के लिये मानों उत्कण्ठित। **वेद**=[वेत्ति, जानाति] जानते हैं। **इति**=इस कारण। **मौनम्** = मौन भाव को, चुप्पी को। **आस्थितम्** = प्राप्त अथवा धारण किये हुये। कहने का तात्पर्य यह है कि अश्व अपने तीव्रगमन सम्बन्धी वेग के दर्प को राजा से कहने का इच्छुक है। इसी कारण बार बार अपने नथुनों को अत्यधिक चञ्चलता युक्त कर रहा है। किन्तु बाद में वह यह सोचकर कि राजा नल स्वयं ही अश्वविद्या में भी पारंगत हैं अतः वे मेरे हृदय की बात को स्वयं ही समझ रहे होंगे, चुप हो जाता है।

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशस्सितम्।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः॥ ६१॥

म०—महारथस्येति। महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य। 'आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युद्ध्यते यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः॥' इत्युक्तलक्षणस्य रथिकविशेषस्येत्यर्थः। अन्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्त्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य, 'हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः। सागरः कार्त्तवीर्य्यश्च षडेते चक्रवर्त्तिनः॥' इत्यागमात् अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्त्तनशीलस्येत्यर्थः। अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षं पचाद्यच्, परेषामनपेक्षं तस्मादुद्वहनादसहायोद्वहनाद्धेतोर्यशःसितं कीर्त्तिविशदम् अत

एवानीदृशामीदृशयशोरहितानाम् । 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमि' ति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः । रवेरर्वतामश्वानामन्तर्वलमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषाद्धसन्तं हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः । अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात्सापह्नवोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात् । 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः ॥ ६१ ॥

अन्वय—महारथस्य चक्रवर्तिनः अध्वनि परानपेक्षोद्वहनाद् यशःसितं रदावदातांशुमिषाद् रवेः अनीदृशां अर्वतां अन्तःवलं हसन्तम् (हयमारुरोह)।

संस्कृत-व्याख्या—महारथस्य = अयुतयोधिनः (सूर्यपक्षे—महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य—रथिकविशेषस्येत्यर्थः), चक्रवर्त्तिनः = सार्वभौमस्य नलस्य (सूर्यपक्षे–चक्रेण एव एकेन वर्त्तनशीलस्य), अध्वनि = मार्गे, परानपेक्षोद्वहनाद् = न अपेक्षते इत्यनपेक्षम्—परेषां अन्येषां अनपेक्षया अनाश्रयेण यत् उद्वहनं प्रापणं तस्मात् , यशः सितम् = कीर्तिविशदम्, रदानां दन्तानां अवदाता निर्मला ये अंशव किरणाः तेषां मिषात् व्याजात् , रवेः = सूर्यस्य, अनीदृशाम् = ईदृग्यशोरहितानाम्, अर्वताम् = अश्वानाम्, अन्तःवलम् = अन्तःसारम्, हसन्तम् (इव अश्वं नलः आरुरोह)।

हिन्दी-अनुवाद—महारथस्य = महारथी तथा, चक्रवर्तिनः = चक्रवर्त्ती राजा नल के, सूर्यपक्ष में—एक पहिया वाले अपने विशिष्ट रथ को धारण करने वाले सूर्य के, अध्वनि = मार्ग में, परानपेक्षोद्वहनाद् = दूसरे की अपेक्षा के विना ही ले जाने के कारण, यशस्सितम् = कीर्ति से सुभ्र, (अतएव) रदावदातांशुमिषात् = (अपने) दातों से निकलने वाली शुभ्र अथवा धवल वर्ण की किरणों के वहाने से, रवेः = सूर्य के, अनीदृशाम् = इस प्रकार के (उपर्युक्त—यश की धवलता से शुभ्र) न रहने वाले, अर्वताम् = घोड़ों के, अन्तः बलम् = आन्तरिक वल पर [अथवा बलमन्तः = वल का मन ही मन] हसन्तम् = उपहास करने वाले (अथवा हँसी उड़ाने वाले) [घोड़े पर राजा नल सवार हुये]।

भावार्थ—दश हजार योद्धाओं के साथ अपने सारथि, अश्व, रथ तथा अपनी रक्षा करते हुये युद्ध करने वाले तथा चक्रवर्त्ती कहे जाने वाले राजा नल के मार्ग में किसी अन्य की अपेक्षा के विना ही रथ को ले जाने सम्बन्धी यश से श्वेतवर्ण के (अतएव) दाँतों से निकलने वाली श्वेतवर्ण की किरणों के वहाने, एकमात्र चक्र से युक्त विशाल रथ वाले सूर्य के मार्ग अर्थात् आकाश

में दूसरे की अपेक्षा से ही रथ को ले जाने वाले तथा हरे रंग वाले (सूर्य के) घोड़ों के आन्तरिक बल पर हँसने वाले (अर्थात् सूर्य के घोड़ों की हँसी उड़ाने वाले) अथवा सूर्य के घोड़ों के बल की मन ही मन हँसी उड़ाने वाले—[घोड़े पर राजा नल सवार हुये]।

एक ही पहिये (चक्र) से युक्त विशाल रथ वाले सूर्य के मार्ग में उसके (सूर्य के) घोड़े दूसरों की सहायता से ही रथ को ढोते थे। अतएव वे यश से रहित होने के कारण हरे रंग के थे। किन्तु महारथी एवं चक्रवर्त्ती राजा नल के मार्ग में (नल का वह) घोड़ा बिना किसी की सहायता के ही रथ को ढोता था। अतएव इससे उत्पन्न यश के कारण ही वह (राजा नल का घोड़ा) शुभ्र (श्वेत) वर्ण का था। इसी कारण वह (राजा नल का घोड़ा) अपने दाँतों से निकलने वाली शुभ्रवर्ण की किरणों के बहाने से सूर्य के हरितवर्ण के घोड़ों (ऊपर वर्णित) पर हँस रहा था—ऐसे घोड़े पर राजा नल चढ़े।

तात्पर्य यह है कि राजा नल का घोड़ा अकेले ही महारथी एवं चक्रवर्ती सम्राट नल को ढो सकने में (ले जाने में) समर्थ था। अतः वह यश से धवल (श्वेत वर्ण का) था। किन्तु सूर्य के एक पहिये वाले रथ को ढोने वाले घोड़ों की संख्या सात है। अतः वे धवल वर्ण के न होकर हरित वर्ण के हैं। अतएव सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा राजा नल का एकमात्र घोड़ा कहीं अधिक श्रेयस्कर है। अतः वह (राजा नल का घोड़ा) मानों अपने शुभ्र दाँतों से निकलने वाली शुभ्र किरणों के बहाने से उन (सूर्य के घोड़ों) पर हँस रहा हो—ऐसी उत्प्रेक्षा महाकवि द्वारा की गयी है।

अलङ्कार—इस श्लोक में अपह्नुति-सहित "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। ऊपर की पंक्तियों से उसकी विद्यमानता स्पष्ट ही है।

व्याकरण—**चक्रवर्तिनः** = चक्र + वृत् + णिच् + णिनि (कर्त्ता अर्थ में), षष्ठी बहुवचन में। **अर्वताम्** = ऋ + वनिप्—"अर्वणस्त्रसावनञः" सूत्र से 'तु' आदेश = अर्वन्त—(षष्ठी बहुवचन में)।

समास—**महारथस्य** = महान् रथो यस्य स महारथः तस्य। **चक्रवर्तिनः** = चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्त्ती तस्य। **परानपेक्षोद्वहनात्** = न अपेक्षते इति अनपेक्षम्, परेषां अनपेक्षया यत् उद्वहनम् तस्मात्। **रदावदातांशुमिषात्** = रदानां ये अवदाताः (सिताः) अंशवः तेषां मिषात्। **अनीदृशाम्** = न ईदृशः अनीदृशः (नञ् तत्पु०), तेषाम्।

टिप्पणियाँ—महारथस्य = महान् योद्धा—महारथ का लक्षण—"एको दशसहस्राणियोद्धयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयः स महारथः ॥ **अथवा** = आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युद्धयेत् यो नरः । स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ॥ **सूर्य के पक्ष में**—जिसका रथ महान् हो । **अथवा** महान् रथ वाला । **चक्रवर्तिनः** = चक्रवर्ती सम्राट् अथवा सार्वभौम सम्राट् । प्राचीन समय में हुये निम्नलिखित छः राजाओं को चक्रवर्ती माना गया है—"हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः । सगरः कार्त्तवीर्यश्च षडेते चक्रवर्तिनः ॥" **सूर्य के पक्ष में** = एक चक्र (पहिये) से चलने वाले (विशाल रथ से युक्त) । दैवत कथा के अनुसार सूर्य के रथ में एक ही पहिया है तथा उसे सात घोड़े खींचा करते हैं । **परानपेक्षोद्वहनात्** = किसी अन्य की सहायता के बिना ही ले जाने (ढोने) से । सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा राजा नल के घोड़े की यह एक पहली विशेषता थी कि राजा नल का घोड़ा रथ को अकेला ही खींचने वाला था । सूर्य के रथ में तो सात घोड़े जुता करते हैं । जो एक दूसरे की सहायता से ही सूर्य के रथ को आकाश-मार्ग में खींचा करते हैं ("सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमिति") । इसी महती विशेषता के कारण राजा नल का घोड़ा अपने यश के कारण श्वेतवर्ण का था जब कि सूर्य के घोड़े यश-रहित होने के कारण हरित (हरे) वर्ण के माने गये हैं । **यशःसितम्** = शुभ्र (धवल अथवा निर्मल) यश अथवा कीर्ति से श्वेतवर्ण के । **रदावदातांशुमिषात्** = दाँतों से निकलने वाली निर्मल (शुभ्र अथवा धवल) किरणों के बहाने से । **अनीदृशाम्** = जो इस प्रकार के न हों अर्थात् नल के घोड़े के सदृश यश (कीर्ति) सम्पन्न न हों । **अर्वताम्** = घोड़ों के । **अन्तर्बलम्** = आन्तरिक बल को या बल पर । **हसन्तम्** = हँसते हुये अथवा हँसी उड़ाते हुये ।

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।
स्फुटाञ्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥६२॥

म०—सितेति । पुनः कथम्भूतम् ? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चलतामुपेयुषः चञ्चलस्येत्यर्थः । पुच्छस्य लाङगूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थबालस्य च मिषेण छलेन चलतच्चामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिह्नुवानं प्रकाशयन्तमिव । अस्वामिनः कथञ्चामरयुग्ममिति भावः । पूर्ववदलङ्कारः ॥

अन्वय—सितत्विषः चञ्चलतां उपेयुषः पुच्छस्य च केशरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः स्फुटां निजवाजिराजतां अनिह्नुवानम् (हयं आरुरोह)।

संस्कृत-व्याख्या—सितत्विषः = विशदप्रभस्य, चञ्चलताम् = चापल्यम्, उपेयुषः = प्राप्तस्य (चञ्चलस्येत्यर्थः), पुच्छस्य = लाङ्गूलस्य, च, केसरस्य च = ग्रीवास्थबालस्य च, मिषेण = छलेन, चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः = चलतः चंचलस्य चामरयुग्मस्य चामरद्वयस्य चिह्नकैः लक्षणैः, स्फुटाम् = प्रसिद्धाम्, निजवाजिराजताम् = निजां स्वकीयां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वम्, अनिह्नुवानम् = प्रकाशन्तमिव (हयं आरुरोह)।

हिन्दी-अनुवाद—सितत्विपः = धवल (श्वेतवर्ण की) कान्ति से युक्त, चञ्चलतां उपेयुषः = चञ्चलता को प्राप्त (हिलती-डुलती हुयी), पुच्छस्य च = पूँछ और, केसरस्य च = गर्दन पर स्थित बालों अथवा अयालों के, मिषेण = बहाने से, चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः = चलायमान दो चामर रूपी चिह्नों से, स्फुटाम् = प्रकट हुये, निजवाजिराजतां = अपनी घोड़ों के राजा होने सम्बन्धी बात को, अनिह्नुवानम् = प्रकट करते हुये से (घोड़े पर राजा नल सवार हुये)।

भावार्थ—श्वेतवर्ण की कान्ति से युक्त तथा हिलती-डुलती हुयी पूँछ और गर्दन पर स्थित बालों (अयालों) के बहाने से (के रूप में) हिलाये और डुलाये जाते हुये दो चामरों के चिह्नों के द्वारा अपने अश्वराजत्व को प्रकट करते हुये (घोड़े पर राजा नल सवार हुये)।

घोड़े के पृष्ठ भाग में उसकी श्वेतवर्ण की पूँछ हिल-डुल रही थी तथा आगे की ओर उसके गर्दन पर स्थित बाल (अयाल) हिल-डुल रहे थे। मध्य में उसकी पीठ पर राजा नल विराजमान थे। अतएव ऐसा प्रतीत होता था कि मानो राजा के दोनों ओर दो चमर डुलाये जा रहे हों। इस वैशिष्ट्य के कारण वह घोड़ा अपने को "घोड़ों का राजा (अर्थात् श्रेष्ठतम घोड़ा) होना" प्रकट कर रहा था।

अलङ्कार—इस श्लोक में भी अपह्नुति-सहित "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—उपेयुषः = उपेयिवस् शब्द का षष्ठी विभक्ति का एकवचन का रूप। वाजिराजताम् = वाजिराज + तल् + टाप्। अनिह्नुवानम् = अ + नि + ह्नु + लट्—शानच।

समास—सितत्विषः = सिता त्विट् यस्य तत् तस्य। चलच्चामरयुग्म-

चिह्नकैः = चमरयोः युग्मम् (षष्ठी तत्पु०), चलत् चामरयुग्मम् (कर्मधारय) इति चलच्चामरयुग्मम् तस्य चिह्नकैः इति (षष्ठी तत्पु०)। **निजवाजिराजताम्** = वाजिनां (अश्वानां) राजा वाजिराजः (षष्ठी तत्पु०), तस्य भावः वाजिराजता, निजा वाजिराजता (कर्मधारय) इति निजवाजिराजता ताम् । **अनिह्नुवानम्** = न निह्नुवानः अनिह्नुवानः (नञ तत्पु०), तम् ।

टिप्पणियाँ—सितत्विषः = जिसकी कान्ति श्वेतवर्ण की हो—अर्थात् श्वेत अथवा धवल वर्ण की कान्ति से युक्त । यह "पुच्छस्य" का विशेषण है । **चञ्चलतामुपेयुषः** = चञ्चलता को प्राप्त किये हुये अर्थात्—हिलती डुलती हुयी । **केसरस्य** = गर्दन पर स्थित बालों अथवा अयालों के । **मिषेण** = बहाने से—व्याज से । **चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः** = हिलाये-डुलाये जाते हुये दो चँवर-रूपी (राज) चिह्नों से । राजा के इधर-उधर दोनों ओर दो चामर हैं—(१) पूँछ (२) गर्दन पर के बाल (अयाल)। इसमें "चिह्नकैः" के स्थान पर "चिह्नैः" पाठ भी मिलता है । अर्थ पूर्ववत् ही है । **स्फुटाम्** = स्पष्ट प्रतीत होने वाली (प्रसिद्ध)। **निजवाजिराजताम्** = अपनी अश्वराजता (घोड़ों का राजत्व पन) को । **अनिह्नुवानम्** = बिना छिपाये हुये अर्थात् प्रकट करते हुये ।

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥६३॥

म०—अपीति । पुनः कथम्भूतं स्थितम् ? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव निर्जितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गु रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया तन्मिषेणेत्यर्थः । द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्विता मुपेयिवांसं प्राप्तम् । तथा च गम्योत्प्रेक्षेयम् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः॥ ६३ ॥

अन्वय—रयस्मये प्रसभं जितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे अपि प्रतिमल्लतां उपेयिवांसम् [हयमारुरोह] ।

संस्कृत-व्याख्या—रयस्मये = वेगगर्वे, प्रसभम् = बलात्कारेण, जितस्य = प्रागेव निर्जितस्य, गरुत्मतः = गरुडस्य, मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया = मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गु रम्या च या वल्गा रम्या मुखरज्जुः तया—तन्मिषेणेत्यर्थः, द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे = द्विजिह्वानां सर्पाणां अभ्यवहारे आहारे

यत् पौरुषं पुरुषकारः तस्मिन् , अपि, प्रतिमल्लताम् = प्रतिद्वन्दिताम्—प्रतिभटत्वं वा, उपेयिवांसम् = प्राप्तवन्तम् (हयं आरुरोह)।

हिन्दी-अनुवाद—रयस्मये = (अपनी) तीव्र गति के दर्प में, प्रसभम्= हठात्—जबरदस्ती, जितस्य = जीते गये हुये, गरुत्मतः = गरुड़ की, मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया = मुख में लगी हुयी लम्बी तथा सुन्दर लगाम के द्वारा, (मानों), द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुपे = सर्पों के भक्षण किये जाने के पुरुषार्थ में, अपि = भी, प्रतिमल्लताम् = प्रतिद्वन्दिता को, उपेयिवांसम् = प्राप्त किये हुये (घोड़े पर नल सवार हुये)।

भावार्थ—[अपने] वेग के अभिमान में बलपूर्वक जीते गये हुये गरुड़ के सर्पभक्षण रूप पुरुषार्थ में भी मुख में पड़ी हुयी सर्पाकार लगाम के द्वारा प्रतिद्वन्दिता को प्राप्त हुये [घोड़े पर राजा नल आरूढ़ हुये)।

इस घोड़े ने अपने वेग की तीव्रता में तो पहले ही गरुड़ को पराजित कर दिया था किन्तु गरुड़ की एक शक्ति अभी शेष ही थी और वह थी उसकी सर्पभक्षण सम्बन्धी शक्ति। इस शक्ति को भी इस घोड़े ने अपने मुख में पड़ी हुयी सर्पाकार लगाम की रस्सी के द्वारा मानों [गरुड़ का] प्रतिद्वन्दी होकर जीत लिया था। घोड़े के मुख में पड़ी हुयी लगाम के साथ संलग्न मुख के दोनों ओर लगी हुयी रस्सी दो सर्पों के रूप में प्रतीत हो रही थी। ऐसे अश्व पर राजा नल सवार हुये।

अलङ्कार—इस श्लोक में "गम्योत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—गरुत्मतः = गरुत् + मतुप्—गरुत्मान् (पंचमी-एकवचन में)। **अभ्यवहारः** = अभि + अव + हृ + घञ्। **पौरुषम्** = पुरुष + अण्। **प्रतिमल्लताम्** = प्रतिमल्ल + तल् + टाप्—प्रतिमल्लता (द्वितीया एकवचन में)। **उपेयिवांसम्** = उप + इ + क्वसु। (द्वितीया एकवचन में)।

समास—रयस्मये = रयजनितः स्मयः (मध्य० स०) इति रयस्मयः तस्मिन्—अथवा—रयस्य स्मयः इति रयस्मयः (षष्ठी तत्पु०), तस्मिन्। **गरुत्मतः** = प्रशस्तः गरुत्—पक्षः अस्ति अस्य इति गरुत्मान् तस्मात्। **मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया** = मुखे अनुषक्ता (सप्तमी तत्पु०) इति मुखानुषक्ता, आयता चासौ वल्गुः—आयतवल्गुः वल्गा—आयतवल्गुवल्गा, मुखानुषक्ता आयतवल्गुवल्गा इति मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गा तया (कर्मधारय)। **द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे** = द्वे जिह्वे यस्य स द्विजिह्वः [सर्पः]

(बहुव्रीहि), अभ्यवहारः—भक्षणम्, पुरुषस्य भावः पौरुषम्, द्विजिह्वानाम् अभ्यवहारः (षष्ठी तत्पु०), तस्मिन् पौरुषम् (सुप्सुपा समास) इति द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषम्—तस्मिन् । **प्रतिमल्लताम्** = प्रतिकूलः मल्लः प्रतिमल्लः—तस्य भावः प्रतिमल्लता ताम् ।

टिप्पणियाँ—रयस्मये = [अपने] तीव्र वेग के अहङ्कार में । रंहस्तरसी तु रयः स्यदः" इत्यमरः । "दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः" इत्यमरः । **जितस्य** = जीते गये हुये । **गरुत्मतः** = गरुड़ से । **मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया** = मुख में लगी हुयी (अथवा संलग्न) लम्बी तथा सुन्दर लगाम द्वारा । **द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे** = सर्पों का भक्षण करने सम्बन्धी [अपने] पौरुष अथवा उद्योग में । **प्रतिमल्लताम्** = प्रतिद्वन्दिता अथवा प्रतिस्पर्धा को । **उपेयिवांसम्** = प्राप्त किये हुये ।

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥६४॥

म०—स इति । जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन सः अनल्पलोचनो विशालाक्षः अन्यत्र बहुनेत्रः सहस्राक्ष इति यावत् । क्षितिपाकशासनः क्षितीन्द्रो नलः देवेन्द्रश्च सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवञ्च समुद्रोद्भवञ्च 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामि'त्यमरः । शीतमहःसहोदरं चन्द्रसवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेकयोनित्वादिति भावः । उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रियं हरन्तं तत्स्वरूपमित्यर्थः, तं हयमारुरोह । अत्रोच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तमिवेत्युपमा । सा च श्लिष्टविशेषणात् सङ्कीर्णेयं क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

अन्वय—जिताखिलक्ष्माभृत् अनल्पलोचनः क्षितिपाकशासनः सः सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं उच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तं तं हयं आरुरोह ।

संस्कृत-व्याख्या—जिताखिलक्ष्माभृत् = जिताः अखिलाः समस्ताः क्ष्माभृतः भूपाः येन सः, [इन्द्रपक्षे—जिताः अखिलाः क्ष्माभृतः भूधरा येन सः], अनल्पलोचनः = विशालाक्षः [इन्द्रपक्षे—बहुनेत्रः, सहस्राक्षः इति यावत्], क्षितिपाकशासनः = क्षितौ पृथिव्यां पाकशासन इव इन्द्र इव, सः = नलः, सिन्धुजम् = सिन्धुदेशोद्भवम्, [उच्चैःश्रवसः पक्षे—समुद्रोद्भवम्], शीतमहस्सहोदरम् = शीतमहाः चन्द्रः तस्य सहोदरम् तुल्यम्—चन्द्रसवर्णमित्यर्थः [उच्चैःश्रवसः पक्षे—चन्द्रभ्रातरम्—एकयोनित्वात्—इतिभावः],

उच्चैःश्रवसः = इन्द्राश्वस्य, श्रियम् = शोभाम्, हरन्तम् = तत्स्वरूपमित्यर्थः, तम् = प्रसिद्धम्, हयम् = अश्वम्, आरुरोह = आरूढवान्।

हिन्दी-अनुवाद—जिताखिलक्ष्माभृत् = सम्पूर्ण राजाओं पर विजय प्राप्त करनेवाले [इन्द्रपक्ष में—सम्पूर्ण पर्वतों के विजेता] अनल्पलोचनः = विशाल नेत्रों वाले [इन्द्रपक्ष में—अनेक नेत्रों वाले अथवा सहस्र आँखों वाले] क्षितिपाकशासनः = पृथ्वी पर [साक्षात्] इन्द्र के सदृश, सः = वे राजा नल सिन्धुजम् = सिन्धु देश में उत्पन्न हुये [उच्चैःश्रवाः नामक इन्द्र के घोड़े के पक्ष में—समुद्र से उत्पन्न], शीतमहः सहोदरम् = चन्द्रमा के समान [उच्चैःश्रवाः के पक्ष में—चन्द्रमा के भाई] उच्चैःश्रवसः = उच्चैःश्रवाः नामक इन्द्र के घोड़े की, श्रियम् = शोभा को, हरन्तम् = हरण करने वाले, तम् = उस, हयम् = घोड़े पर, आरुरोह = सवार हुये।

भावार्थ—सम्पूर्ण पर्वतों के विजेता, अनेक अथवा सहस्र नेत्रों वाले स्वर्गाधिपति इन्द्र के सदृश, समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त करने वाले, विशाल नेत्रों वाले पृथ्वीपति राजा नल, समुद्र से उत्पन्न, चन्द्रमा के सहोदर भ्राता के रूप में विद्यमान, इन्द्र के घोड़े उच्चैःश्रवाः की शोभा को भी नीचा दिखलाने वाले, सिन्धु देश में उत्पन्न हुये, साक्षात् चन्द्रतुल्य अपने घोड़े पर सवार हुये।

इस भाँति इस श्लोक में श्लेष के द्वारा राजा नल को इन्द्र के सदृश और उनके घोड़े को (स्वर्गाधिपति इन्द्र के घोड़े) उच्चैःश्रवस् के सदृश कहा गया है।

समुद्र मन्थन के समय चन्द्रमा तथा उच्चैःश्रवस् नामक अश्व दोनों की उत्पत्ति समुद्र से हुयी थी, ऐसा माना जाता है। अतः ये दोनों भाई भाई हुये। राजा नल का घोड़ा वर्ण की दृष्टि से चन्द्रमा के सदृश था तथा उसने उच्चैःश्रवस् नामक अश्व की शोभा को भी हरण कर लिया था अर्थात् उसकी शोभा उच्चैःश्रवस् नामक घोड़े से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ थी। ऐसे सिन्धु-देशोत्पन्न श्रेष्ठतम घोड़े पर राजा नल सवार हुये।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में श्लिष्ट विशेषणों से युक्त "उपमा" अलङ्कार है तथा "क्षितिपाकशासनः" (अर्थात् पृथ्वी के इन्द्र—अधिपति) में "अतिशयोक्ति" अलङ्कार है।

व्याकरण—सिन्धुजम् = सिन्धु + जन् + ड = सिन्धुजः (द्वितीया एक-वचन में)।

समास—सिन्धुजम् = सिन्धौ जायते इति सिन्धुजः तम् । **शीतमहस्सहोदरम्** = शीतं महः यस्य स शीतमहाः (बहुव्रीहि) तस्य सहोदरम् । **उच्चैःश्रवसः** = उच्चैः श्रवो यशो यस्य अथवा उच्चैः श्रवसी कर्णौ यस्य स उच्चैःश्रवाः (बहुव्रीहि), तस्य । **जिताखिलक्ष्माभृत्** = अखिलाः क्ष्माभृतः (कर्मधारय) इति अखिलक्ष्माभृतः, जिताः अखिलक्ष्माभृतो येन सः (बहुव्रीहि)। **अनल्पलोचनः** = अनल्पे लोचने यस्य सः अथवा इन्द्र पक्ष में— अनल्पानि लोचनानि यस्य सः अनल्पलोचनः (बहुव्रीहि), **क्षितिपाकशासनः** = क्षितौ पाकशासनः इव (उपमित समास) अथवा क्षितौ पाकं पचिक्रियां शास्ति उपदिशति इति क्षितिपाकशासनः ।

टिप्पणियाँ—सिन्धुजम् = सिंधु देश में पैदा हुये [उच्चैःश्रवस् नामक इन्द्र के घोड़े के पक्ष में—सिंधु अर्थात् समुद्र से उत्पन्न—दैवतकथा के अनुसार उच्चैःश्रवस् नामक अश्व समुद्रमन्थन के समय समुद्र से ही निकला था। "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामित्यमरः" । **शीतमहोस्सहोदरम्** = चन्द्रसदृश वर्ण वाला, चन्द्र के तुल्य [इन्द्र के अश्व के पक्ष में—चन्द्रमा के भाई, क्योंकि चन्द्रमा और उच्चैःश्रवस् दोनों की उत्पत्ति समुद्र से ही हुयी है ।]। **उच्चैःश्रवसः** = उच्चैःश्रवस् नामक स्वर्गाधिपति इन्द्र के अश्व की । **श्रियम्** = शोभा को । **हरन्तम्** = हरण करने अथवा मात करने वाले । **जिताखिलक्ष्माभृत्** = राजा नल के पक्ष में—जीत लिया है सम्पूर्ण राजाओं को जिसने अथवा सम्पूर्ण राजाओं के विजेता । [इन्द्र पक्ष में—जीत लिया है सम्पूर्ण पर्वतों को जिसने अथवा समस्त-पर्वतों के विजेता]। इन्द्र ने अपने तीक्ष्ण वज्र से समस्त पर्वतों के पंख काट दिये थे। केवल मैनाक पर्वत ही समुद्र में जाकर छिप गया था—ऐसी दैवत कथा है। **अनल्पलोचनः** = नल के पक्ष में विशाल नेत्रों वाले [इन्द्र-पक्ष में—अनेक अथवा सहस्र नेत्रों वाले]। दैवतकथा में इन्द्र को सहस्राक्ष कहा गया है। **क्षितिपाकशासनः** = पृथ्वी पर इन्द्र के समान अथवा पृथ्वी का इन्द्र। **अथवा**—पृथ्वी पर पाकशास्त्र का उपदेष्टा । राजा नल को पाक-शास्त्र-प्रणेता भी माना गया है । वे पाक-शास्त्र में प्रवीण तो थे ही—(देखिये श्लोक सं० ५ की व्याख्या)।

प्रसङ्ग—जिस भाँति किरणें सूर्य के साथ गमन किया करती हैं उसी भाँति घुड़सवार भी राजा नल के साथ-साथ चले—

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥६५॥

म०—निजा इति । निजा आत्मीयाः प्रकाशरूपा उज्ज्वलाकारा भास्वररूपाश्च अश्वान्वारयन्तीत्यश्ववाराः अश्वरोहाः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं पद्मरेखाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्तं जवनो जवशीलः 'जुचङ्क्रम्ये'त्यादिना युच्। तेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्यातीति तथोक्तं मनुजा नरास्तेषामीशं राजानञ्च तं नलं तिग्मदीधितिं सूर्यं मयूखा इव अन्वयुः अन्वगच्छन् । यातेर्लङि झेर्जुसादेशः ॥

अन्वय—निजाः प्रकाशरूपाः अश्ववाराः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं जवनाश्वयायिनं तं मनुजेशं मयूखाः तिग्मदीधितिमिव अन्वयुः ।

संस्कृत-व्याख्या—निजाः = आत्मीयाः, प्रकाशरूपाः = उज्ज्वलाकाराः [मयूखपक्षे—भास्वररूपाः], अश्ववाराः = अश्वारोहाः, स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्=स्पष्टपद्मरेखाङ्कितहस्तकमलम् [सूर्यपक्षे—विकसितपद्महस्तकमलम्], जवनाश्वयायिनम् = जवनः वेगशीलः यः अश्वः तेन याति—इत्येवंशीलम् [सूर्यपक्षे—जवनैः वेगशीलैः अश्वैः यातीति तथोक्तम्], तम्, मनुजेशम् = राजानम् नलम्, मयूखाः = किरणाः, तिग्मदीधितिम् = सूर्यम्, इव, अन्वयुः = अन्वगच्छन् ।

हिन्दी-अनुवाद—निजाः = अपने, प्रकाशरूपाः = उज्ज्वल आकार वाले [किरणों के पक्ष में—चमकती हुयीं अथवा देदीप्यमान] अश्ववाराः = घुड़सवारोंने, स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् = स्पष्टरूप से प्रतीत होने वाली कमल की रेखा से चिह्नित हस्त-कमल वाले [सूर्य-पक्ष में—विकसित कमलों से युक्त कमलसदृश किरणों वाले], जवनाश्वयायिनम् = तीव्रगति वाले अश्व पर चढ़कर गमन करने वाले [सूर्य पक्ष में—अत्यन्त वेगशाली घोड़ों पर आरूढ़ होकर गमन करने वाले], तम् = उस, मनुजेशम् = राजा नल का, मयूखाः तिग्मदीधितिं इव अन्वयुः = उसी प्रकार अनुगमन किया जैसे सूर्य का अनुगमन उस (सूर्य) की किरणें किया करती हैं ।

भावार्थ—जैसे विकसित कमलों से युक्त कमल सदृश किरणों वाले तथा अत्यन्त वेगशील घोड़ों से युक्त अपने रथ पर आरूढ़ सूर्य का अनुगमन उस (सूर्य) की चमकती हुयीं अथवा देदीप्यमान किरणें किया करती हैं उसी प्रकार स्पष्टरूप से प्रतीत होने वाली कमलाकार रेखा से युक्त कमल सदृश हाथ वाले, अत्यन्त वेगशील घोड़े पर आरूढ़ राजा नल का उसके अपने ही उज्वल आकार वाले घुड़सवार अनुगमन कर रहे थे ।

अलङ्कार—इस श्लोक में उपमा, श्लेष तथा रूपक अलङ्कार हैं जो कि अर्थ से ही स्पष्ट हैं।

व्याकरण—अश्ववाराः = अश्व + वृ + अण्। **जवनाश्वयायिनम्** = जु + युच्– (यु)अनादेश होकर जवनः—जवनः अश्वः जवनाश्वः— + या + णिनि (कर्त्ता में) जवनाश्वयायी (द्वितीया एकवचन में)। **अन्वयुः** = अनु + या + लङ्–झि (उस्–होकर)।

समास—अश्ववाराः = अश्वान् वृण्वते इति अश्ववाराः। **स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्** = पाणिः पङ्कजं इव इति पाणिपङ्कजम् (उपमित समास), स्फुटं अरविन्दं (कर्मधारय), स्फुटारविन्दम्, तेन अङ्कितं पाणिपङ्कजं यस्य सः (बहुव्रीहि), तम्। **जवनाश्वयायिनम्** = जवनः अश्वः (कर्मधारय) जवनाश्वः, तेन तैर्वा यातीति जवनाश्वयायी, तम्। **मनुजेशम्** = मनोजातीः मनुजाः, मनुजानां ईशः मनुजेशः, तम्।

टिप्पणियाँ—प्रकाशरूपाः = उज्ज्वल आकार वाले, तेजस्वी अथवा अति प्रसिद्ध। "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धे स्यात्प्रकाशातपयोः स्फुटे" इति विश्वः [अश्वारोही अथवा घुड़सवार।]। [सूर्य की किरणों के पक्ष में—अत्यन्त चमकती हुयी–देदीप्यमान]। **अश्ववाराः** = घुड़सवार अथवा अश्वारोही। **स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्** = स्पष्टरूप से प्रतीत होने वाली कमलाकार रेखा से युक्त है कमलसदृश हाथ जिसका—**अथवा**—जिसके कमलसदृश हाथ में कमलाकार रेखा स्पष्ट रूप से चिह्नित हो। सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार भाग्यशाली पुरुषों के हाथों में कमल, शङ्ख आदि के चिह्न विद्यमान रहा करते हैं। राजा नल का हाथ इसी प्रकार का था। [सूर्यपक्षमें—विकसित कमल से युक्त हैं कमलसदृश किरणें जिसकी—**अथवा** जिसकी कमल सदृश किरणों से कमल विकसित हो रहा हो।]। **जवनाश्वयायिनम्** = अत्यन्त तीव्रगति वाले घोड़े पर सवार होकर गमन करने वाले [राजा नल]। [सूर्यपक्ष में—अत्यन्त वेग सम्पन्न घोड़ों से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर गमन करने वाले।]। **मनुजेशम्** = नरेश को—राजा (नल) को। **मयूखाः** = किरणें। **तिग्मदीधितिम्** = तीक्ष्ण किरणों से युक्त—अर्थात्—सूर्य को। **अन्वयुः**=अनुगमन कर रहे थे।

प्रसङ्ग—ऐसे अश्व पर आरूढ़ होकर जाते हुये राजा नल को नगरनिवासियों ने निर्निमेषनेत्रों से देखा—

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥ ६६ ॥

म०—चलन्निति। वाहवाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितनेपथ्यचारुः 'चारौ दक्षे च पेशल' इत्यमरः। स नलो महारयमतिजवं हयमलङ्कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः। प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषान्तैरनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः। नगरालयैर्नगरनिवासिभिरित्यर्थः। लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः। वृत्यनुप्रासोऽलङ्कारः॥

अन्वय—वाहवाहोचितवेषपेशलः महारयं हयं अलङ्कृत्य चलन् स नलः प्रमोदनिस्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः नगरालयैः लोकैः व्यलोकि।

संस्कृत-व्याख्या—वाहवाहोचितवेषपेशलः=अश्ववाहोचितवेषचारुः, महारयम् = अतिवेगशीलम्, हयम् = अश्वम्, अलङ्कृत्य = विभूष्य, चलन् = मध्येमार्गं गच्छन् (स्वयं अश्वस्य भूषणीभूय गच्छन्—इत्यर्थः), सः नलः, प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः = प्रमोदेन अतिशयितानन्देन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषां तैः—अनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः, नगरालयैः= नगरनिवासिभिः—इत्यर्थः, लोकैः = जनैः, व्यलोकि = विस्मयहर्षाभ्यां विलोकितः—इत्यर्थः।

हिन्दी-अनुवाद—वाहवाहोचितवेषपेशलः = [अपने] अश्वारोही-योग्य वेष से सुन्दर, तथा, महारयं हयं अलङ्कृत्य चलन् = महावेगशाली घोड़े को अलंकृत करके गमन करते हुये, स नलः = वह (राजा) नल, प्रमोदनिस्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः = आनन्दातिरेक के कारण जिनके नेत्रों की पलकें नहीं गिर रहीं थीं अर्थात् निमेषरहित दृष्टि वाले, नगरालयैः = नगरनिवासी, लोकैः—लोगों के द्वारा, व्यलोकि = देखा गया। अर्थात् नगरनिवासियों ने जाते हुये राजा नल को निर्निमेषदृष्टि से देखा।

भावार्थ—[अपने] घुड़सवार योग्य वेष से मनोहर तथा तीव्र वेगवाले घोड़े को अपने चढ़ने से अलङ्कृत कर गमन करते हुये राजा नल को अतिशय हर्ष के कारण निमेषहीन नेत्रों से नगरनिवासी लोगों ने देखा।

राजा नल ने अश्वारोही के सदृश ही वेष को धारण कर रखा था। उनका अश्व भी अपनी विशेषताओं के कारण अद्वितीय था। अतः उस पर सवार होकर चलने के लिये जिसप्रकार के वेष का धारण किया जाना आवश्यक था उसी प्रकार के वेष को राजा नल धारण किये हुये थे। और वह अपने को

(स्वयं को) घोड़े पर आरुढ़ होने से घोड़े को और भी अधिक अलङ्कृत कर रहे थे। इस रूप में (घोड़े पर सवार होकर) गमन करते हुये राजा नल को अत्यधिक हर्ष से युक्त नगरनिवासी लोगों ने बिना पलक मारे हुये नेत्रों से देखा।

अलङ्कार—इस श्लोक में "वृत्त्यनुप्रास" अलङ्कार है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—वाहवाहः = वाह + वह् + णिच् + अण्। **व्यलोकि** = वि + लोक् + लुङ् (कर्म में)

समास—वाहवाहोचितवेषपेशलः = वाहं वाहयतीति वाहवाहः, वाहवाहस्य उचितः (षष्ठी तत्पु०), वाहवाहोचितः वेषः (कर्म धारय)- वाहवाहोचितवेषः तेन पेशलः (तृतीया तत्पु०)। **अथवा** वाहस्य (अश्वस्य) वाहे (संचारणे) उचितेन वेषेण पेशलः। **अलंकृत्य** = अलम् + कृ + ल्यप्- भूषणअर्थ में "अलम्" का कृ धातु के साथ "भूषणेऽलम्" सूत्र से समास हो जाता है। **प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः** = प्रमोदेन निष्पन्दतराणि (सुप्सुपा समास) इति प्रमोदनिष्पन्दतराणि अक्ष्णां पक्ष्माणि (षष्ठी तत्पु०) इति अक्षिपक्ष्माणि, प्रमोदनिष्पन्दतराणि अक्षिपक्ष्माणि (बहुव्रीहि) येषां तैः। **नगरालयैः** = नगाः इव प्रसादादयः सन्ति यत्र तत् नगरम्—नग + र "नगपांसुपाण्डुभ्यश्च" से। नगरं आलयः स्थानं येषां ते नगरालयाः (बहुव्रीहि), तैः।

टिप्पणियाँ—वाहवाहोचितवेषपेशलः = अश्वारूढ होकर गमन किये जाने योग्य वेष से मनोहर। "वाहस्तु मीनभेदे वृषे हये" इति विश्वः। **महारयम्** = अत्यन्त वेगशाली। **हयं अलङ्कृत्य** = अश्व को अलङ्कृत करके अर्थात् अपने बैठने से उसकी शोभा बढ़ाकर। **चलन्** = चलते हुये, गमन करते हुये। **प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः** = अतिशय आनन्द अथवा हर्ष के कारण जिनकी पलकें गिर नहीं पा रही थीं अर्थात् निमेषरहित दृष्टि वाले। **नगरालयैः** = नगर निवासियों के द्वारा। **व्यलोकि** = देखा गया अथवा देखा।

प्रसङ्ग—जैसे ही नागरिकों ने राजा नल को देखा वैसे ही वह वायुसदृश वेगगामी घोड़े पर सवार होने के कारण क्षणभर में ही नगर से बाहर चला गया—

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिःपुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ॥ ६७ ॥

म०—क्षणादिति । अथान्तरं क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूतपौरुषः इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नलः प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः शिक्षणीयः जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणादिति-क्षणात्ताभिः पूर्वोक्ताभिः जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः सह जनैर्दृश्यमान एवेत्यर्थः । बहिः पुरः पुराद्बहिः स्थितोऽभूदिति बहियोंगे पञ्चमी पूर्वं पुरे दृष्टः क्षणादेव पुराद्बहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः ॥ ६७ ॥

अन्वय—अथ क्षणदापतिप्रभः पुरुहूतपौरुषः एषः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभिः जनदृष्टिवृष्टिभिः सह एव पुरः बहिः अभूत् ।

संस्कृत-व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, क्षणदापतिप्रभः = चन्द्रतुल्यः, तथा पुरुहूतपौरुषः = पुरुहूतः इन्द्रः तद्वत् पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृशः, एषः = नलः, प्रभञ्जनाध्येयजवेन = प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः शिक्षणीयः जवः वेगो यस्य तथाविधेन, वाजिना = अश्वेन, क्षणात् = निमेषमात्रेण, ताभिः = पूर्वोक्ताभिः, जनदृष्टिवृष्टिभिः = जनानां लोकानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः, सह = साकम्, एव, पुरः = नगरात्, बहिः, अभूत् = [नगरात् बहिः] स्थितोऽभूत् । पूर्वं पुरे दृष्टः, क्षणादेव नगराद् बहिः दृष्टः इत्यर्थः ।

हिन्दी-अनुवाद—अथ = इसके पश्चात्, क्षणदापतिप्रभः = चन्द्रसदृश कान्ति वाले, तथा, पुरुहूतपौरुषः = इन्द्र सदृश सामर्थ्य अथवा पराक्रम वाले, वाजिना = अश्व के साथ, क्षणात् = क्षण मात्र में ही, ताभिः = पूर्ववर्णित, जनदृष्टिवृष्टिभिः = लोगों के दृष्टिपातों के, सह एव = साथ ही, पुरः बहिः = नगर से बाहर, अभूत् = हो गये ।

भावार्थ—[आह्लादक होने के कारण] चन्द्रमा के समान कान्तिधारी तथा इन्द्रसदृश सामर्थ्यवाले वे राजा नल वायु द्वारा भी सीखे जाने योग्य वेग वाले घोड़े से (घोड़ों पर सवार होने के कारण) नागरिकों के देखते-देखते ही क्षणमात्र में ही नगर से बाहर हो गये ।

चन्द्रमा के समान आह्लादक एवं शुभ्र कान्ति से युक्त, पराक्रम एवं सामर्थ्य में साक्षात् इन्द्र के सदृश राजा नल घोड़े पर सवार होकर नगर से बाहर चले गये । उनके घोड़े की गति अत्यधिक तीव्र थी—इतनी अधिक कि वायु को भी उससे तीव्र वेग को सीखने की आवश्यकता थी । कहने का भाव

यह है कि वायु की भी अपेक्षा कहीं अधिक वेग वाला उनका घोड़ा था। जैसे ही वे घोड़े पर सवार हुये और घोड़े ने चलना प्रारम्भ किया वैसे ही वे नगर के बाहर पहुँच गये। नगर निवासी लोग देखते ही रह गये और वे क्षण भर में ही नगर के बाहर पहुँच गये।

अलङ्कार—इस श्लोक में वायु से भी अधिक तीव्रगतिमान् घोड़े का वर्णन किये जाने से "अतिशयोक्ति" अलङ्कार है। "क्षणदापतिप्रभः" एवं "पुरुहूतपौरुषः" में "उपमा" अलङ्कार हैं।

व्याकरण—अध्येय = अधि + इङ् + यत्।

समास—**क्षणदापतिप्रभः** = क्षणदायाः रात्रेः पतिः क्षणदापतिः, तस्य प्रभा इव प्रभा यस्य सः (बहुव्रीहि)। **पुरुहूतपौरुषः** = पुरुहूतः इन्द्रः तद्वत् पौरुषं सामर्थ्यं यस्य सः **अथवा** पुरुहूतस्य पौरुषमिव पौरुषं यस्य सः (बहुव्रीहि)। **प्रभञ्जनाध्येयजवेन** = प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः जवः यस्मात् सः (बहुव्रीहि), तेन। **जनदृष्टिवृष्टिभिः** = जनानां दृष्टयः, तासां वृष्टयः (षष्ठी तत्पु॰)—जनदृष्टिवृष्टयः ताभिः।

टिप्पणियाँ—**अथ** = घोड़े पर सवार होने के पश्चात्। **क्षणदापतिप्रभः** = निशानाथ चन्द्रमा के सदृश है कान्ति जिसकी [ऐसा राजा नल]। **पुरुहूतपौरुषः** = पुरुहूत अर्थात् इन्द्र के सदृश पुरुषार्थी अथवा पराक्रमी अथवा सामर्थ्यवान्। "पुरुहूतः पुरन्दरः" इत्यमरः। **एषः** = यह [राजा नल]। **प्रभञ्जनाध्येयजवेन** = वायु भी जिससे गति सम्बन्धी तीव्रता की शिक्षा प्राप्त कर सकती थी—अर्थात्—अतिशय वेगशाली। **वाजिना** = घोड़े के द्वारा। **क्षणात्** = क्षण भर में ही। यह विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है। **ताभिः** = उन पूर्ववर्णित लोगों के द्वारा। **जनदृष्टिवृष्टिभिः** = लोगों की दृष्टियों की वर्षा के साथ ही—अर्थात् लोगों के देखते-देखते ही। **अथवा**—जैसे ही नगर निवासियों ने राजा की ओर देखने के लिये दृष्टि डाली वैसे ही वायु से भी अधिक वेगशाली घोड़े पर सवार वे [राजा नल] उनकी [लोगों की] दृष्टि से ओझल हो गये।

प्रसङ्ग—नगर से बाहर होने के पश्चात् सेना के अग्रभाग में स्थित घुड़सवारों के दो दल कुतूहल के साथ मिथ्या युद्ध का प्रदर्शन करने लगे—

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे।
मृषा मृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः॥ ६८॥

म०—तत इति। ततः पुराद्बहिर्गमनानन्तरं प्रतीच्छ गृहाण प्रहर जहीति भाषिणी भाषमाणे इत्यर्थः। परस्परमन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते 'शल्यं तोमरमि'त्यमरः। नलस्य नासीरगते सेनाग्रवर्त्तिनी 'सेनामुखन्तु नासीरमि'त्यरः। सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृधं मिथ्यायुद्धं युद्धनाटकमित्यर्थः। वितेनतुश्चक्रतुः 'मृधमायोधनं संख्यमि'त्यमरः॥ ६८॥

अन्वय—ततः "प्रतीच्छ" "प्रहर" इति भाषिणी नासीरगते परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे नलस्य सादिबले कुतूहलात् मृषा मृधं वितेनतुः।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = पुराद्बहिर्गमनानन्तरम्, प्रतीच्छ = गृहाण, प्रहर = जहि,—इति = इत्थम्, भाषिणी = भाषमाणे—इत्यर्थः, नासीरगते = सेनाग्रवर्तिनी, परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = परस्परं अन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते, नलस्य = राज्ञः नलस्य, सादिबले = तुरङ्गसैन्ये, कुतूहलात् = कौतुकात्, मृषामृधम् = मिथ्यायुद्धं—युद्धनाटकमित्यर्थः, वितेनतुः = चक्रतुः।

हिन्दी-अनुवाद—ततः = तत्पश्चात्, "प्रतीच्छ = पकड़ो, प्रहर = मारो", इति = इस प्रकार, भाषिणी = कहने वाले, नासीरगते = सेना के अग्रभाग में स्थित, परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = तथा एक दूसरे पर भालों अथवा शस्त्रों के अग्रभागों को ताने हुये, नलस्य = राजा नल के, सादिबले = घुड़सवारों के दो दल, कुतूहलात् = कुतूहलवश, मृषामृधम् = मिथ्या (कृत्रिम) युद्ध, वितेनतुः= करने लगे।

भावार्थ—इसे (राजा नल के नगर से बाहर पहुँच जाने के पश्चात्) "पकड़ों", मारो" ऐसा कहते हुये, परस्पर एक दूसरे की ओर भालों अथवा शस्त्रों के अग्रभागों को उठाये अथवा ताने हुये (राजानल की) सेना के अग्रभाग में स्थित घुड़सवारों के दो दल बड़े कुतूहल से कृत्रिम-युद्ध का प्रदर्शन करने लगे।

व्याकरण—वितेनतुः = वि + तन् + लिट् (प्रथमपुरुष—द्विवचन का रूप)।

समास—परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = परस्परं उल्लासितानि शल्यपल्लवानि याभ्यां ते (बहुव्रीहि)। सादिबले = सादिनां अश्वारोहिणां बले सैन्ये (षष्ठी तत्पु०)।

टिप्पणियाँ—**ततः** = तदनन्तर, तत्पश्चात्। **प्रतीच्छ** = पकड़ लो। **प्रहर** = मारो। **इति** = इस प्रकार। **भाषिणी** = कहते हुये। **नासीरगते** = सेना के अग्रभाग में स्थित। "सेनामुखं तु नासीरम्" इत्यमरः। **परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे** = एक दूसरे पर भालों अथवा शस्त्रों के अग्रभागों को उठाये हुये अथवा ताने हुये। **सादिवले** = घुड़सवारों के दो दल अथवा टुकड़ियाँ। **कुतूहलात्** = कुतूहल वश अथवा उत्सुकतावश। **मृषामृधम्** = कृत्रिम अथवा बनावटी युद्ध। "मृधमायोधनं संख्यम्"—इत्यमरः।

प्रसङ्ग—घोड़ों के दौड़ने पर धूलि उड़ रही थी। अतः इस आधार को लेकर महाकवि द्वारा यह कल्पना की गयी है कि घोड़े अपने मन में यह सोच रहे थे कि हम लोगों के दौड़ने के लिये यह पृथ्वी छोटी होगी। अतः समुद्र को ही स्थल बना दिया जाय, इस उद्देश्य से वे घोड़े धूलि उड़ा रहे थे—

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः॥ ६९॥

म०—प्रयातुमिति। इयं धरा भूः समुद्रातिरिक्तेति भावः। अस्माकं प्रयातुं प्रस्थातुं कियत् पदं गन्तव्यं स्थानं न किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः। तस्मादम्भोधिरपि स्थलायतां स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः। 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङ्प्रत्ययः। इतीवेति। इतीव इति मत्वेत्यर्थः। इतिनैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, अन्यथा पौनरुक्त्यात्। क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा। निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिरोधक्षमं समुद्रच्छादनपर्याप्तं रज उत्थितमुत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः॥ ६९॥

अन्वय—इयं धरा अस्माकं प्रयातुं कियत् पदम्? तत् अम्भोधिः अपि स्थलायताम्। इति इव निजवेगदर्पितैः वाहैः पयोधिरोधक्षमं रजः उत्थितम्।

संस्कृत-व्याख्या—इयम् = दृश्यमाना, धरा = पृथ्वी, अस्माकम् = धावतामश्वानाम्, प्रयातुम् = प्रस्थातुम्, कियत्पदम् = गन्तव्यं स्थानं न किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः। तत् = तस्मात्, अम्भोधिरपि = समुद्रोऽपि, स्थलायताम् = स्थलवत् आचरतु—भूरेव भवतु-इत्यर्थः। इति इव = इति मत्वा—इत्यर्थः, निजवेगदर्पितैः = निजवेगेन स्वजवेन दर्पितैः सञ्जातगर्वैः, वाहैः = अश्वैः, पयोधिरोधक्षमम् = पयोधेः समुद्रस्य रोधः पूरणं तत्र क्षमं समर्थम्—समुद्रच्छादनपर्याप्तम्—इत्यर्थः, रजः = धूलिः, उत्थितम् = उत्थापितम् (उद्धतमपि पाठो लभ्यते)।

हिन्दी-अनुवाद—इयम्=यह, धरा=पृथ्वी, अस्माकम्=हमारे, प्रयातुम्=गमन करने के लिये, कियत्पदम् = कितने पद होगी? तत् = इसलिये, अम्भोधिः अपि = समुद्र भी, स्थलायताम् = स्थल हो जाय। इति इव = ऐसा सोचकर, निजवेगदर्पितैः = अपने वेग के गर्व में चूर, वाहैः = घोड़ों ने पयोधिरोधक्षमम्=समुद्र को पाट देने में समर्थ, रजः=धूलि, उत्थितम्=उड़ायी।

भावार्थ—हम सभी (घोड़ों) के गमन करने के लिये यह पृथ्वी कितने पग होगी? अर्थात् अति स्वल्प ही होगी। अतः यह समुद्र भी स्थल बन जाय। ऐसा सोचकर अपने वेग का अभिमान करने वाले (राजा नल के) घोड़ों ने समुद्र को सुखाकर स्थल बना देने योग्य धूलि को उड़ाया।

घोड़ों के दौड़ने पर धूलि का उड़ना स्वाभाविक है। महाकवि द्वारा इस उड़ती हुयी धूलि के सम्बन्ध में यह कल्पना की गयी है कि मानों घोड़े अपने मन में यह सोच रहे हैं कि हम लोगों के गमन करने के निमित्त यह पृथ्वी बहुत ही थोड़ी है। अतः यह आवश्यक है कि समुद्र को भी स्थल बना दिया जाय। ऐसा सोचकर घोड़े अपनी टापों द्वारा अत्यधिक धूलि उड़ा रहे हैं जिससे वह धूलि समुद्र में जाकर गिरे और उस धूलि से समुद्र पट जायँ। इसभाँति समुद्रों के स्थल बन जाने पर उनके गमन करने हेतु पर्याप्त स्थल-प्रदेश उनको प्राप्त हो जायगा।

अलङ्कार—इसमें "अनुप्रास" अलङ्कार की प्रतीति होती है।

व्याकरण—**धरा** = धृ + अच् + टाप्। **अम्भोधिः**=अम्भस् + धा + कि। **स्थलायताम्** = स्थल + क्यङ् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" से—स्थलाय + लोट्—ताम्। **निजवेगदर्पितैः** = निजवेग + दृप् + णिच् + क्त=निजवेगदर्पित (तृतीया बहुवचन में)। **वाहैः** = वह् + णिच् + अच्—वाहा (तृतीया बहुवचन में)। **उत्थितम्** = उत् स्था + क्त। (पाठान्तरे **उद्धतम्** = उद् + हन् + क्त)।

समास—**धराः** = धरति जीवसंघान् इति धरा। **निजवेगदर्पितैः**=निजः वेगः (कर्मधारय) निजवेगः तेन दर्पिताः, तैः [तृतीया तत्पु०]। **पयोधिरोधक्षमम्** = पयोधेः रोधः (षष्ठी तत्पु०), तस्मिन् क्षमः, तम्।

टिप्पणियाँ—**इयम्** = दृश्यमान। **धरा** = पृथ्वी। **प्रयातुम्** = गमन करने के लिये। **अम्भोधिः** = अम्भांसि धीयन्ते अस्मिन्निति अम्भोधिः—समुद्र। **स्थलायताम्** = स्थलवत् आचरण करे अर्थात् स्थल के रूप में हो जाँय। **निजवेगदर्पितैः** = अपने वेग के अभिमान में चूर। **वाहैः** = घोड़ों ने।

पयोधिरोधक्षमम् = समुद्र को ढक देने अथवा पाट देने योग्य। रजः = धूलि। उद्धतम् = उड़ायी।

प्रसङ्ग—घोड़े आकाश को लाँघना चाहते थे किन्तु उन्होंने यह सोचकर "कि भगवान् विष्णु ने तो इसे एक ही पैर में लाँघ लिया था। अतः चार पैरों से इसका लाँघना हम सबके लिये लज्जा की बात है" अपना विचार त्याग दिया।

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः॥ ७०॥

म०—हरेरिति। यत् खमाकाशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्ययः। पदा पादेन 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि'त्यमरः। 'पद्दन्नि'त्यादिना पदादेशः। अक्रामि अलङ्घि, तस्य खस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेषः। हरीणां वाजिनां विष्णूनां चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहाशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्वि'त्यमरः। उभयत्रापि नोऽस्माकं त्रपेति वेत्यर्थः। गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोगः। अत एव गम्योत्प्रेक्षा। नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तैः हरिभिः अर्द्धनभसि कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिर्न्यवर्त्तितम्, भावे लुङ्। यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः। एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलंघनस्य सम्भवादिति भावः॥ ७०॥

अन्वय—यत् खं हरेः एककेन पदा अक्रामि तस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणेऽपि नः हरीणां त्रपा इति नाम्रिताननैः तैः अर्धनभःकृतक्रमैः न्यवर्ति।

संस्कृत-व्याख्या—यत्, खम् = आकाशम्, हरेः = विष्णोः, एककेन = एकाकिना, पदा = पदेन चरणेन वा, अक्रामि = अलङ्घि, तस्य = आकाशस्य, चतुर्भिः, पदैः = चरणैः, क्रमणे अपि = लङ्घने कृते सत्यपीति शेषः, नः = अस्माकम्, हरीगाम् = अश्वानाम्, त्रपा = लज्जा, इति इवेत्यर्थः, नम्रिताननैः = नम्रितानि निम्नकृतानि आननानि मुखानि यैः तादृशैः, तैः = अश्वैः, अर्धनभःकृतक्रमैः = अर्धे नभसि आकाशे कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिः, न्यवर्ति = निवर्त्तितम्। यत् अन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं लाघवाय एव भवेदित्यभिप्रायः।

हिन्दी-अनुवाद—यत् = जिस, खम् = आकाश को, हरेः = विष्णु के,

एककेन = अकेले एक ही, पदा = पैर ने, अक्रामि = लाँघ लिया था, तस्य = उस आकाश को, चतुर्भिः पदैः = चार पैरों से, क्रमणे अपि = लाँघने में भी, नः हरीणाम् = हम घोड़ों के लिये, त्रपा = लज्जा की बात है, इति = ऐसा सोचकर ही मानों, नम्रिताननैः = नीचा मुख किये हुये, तैः = वे (घोड़े), अर्धनभःकृतक्रमैः = आधे आकाश का लङ्घन किये हुये ही, न्यवर्ति = लौट पड़े ।

भावार्थ—"हरि (एक विष्णु अथवा एक घोड़े) के एक पैर ने ही जिस आकाश का अतिक्रमण (लाँघना) कर लिया था उस आकाश का हम अनेक हरियों (घोड़ों अथवा विष्णुओं) के चार पैरों द्वारा अतिक्रमण किया जाना लज्जा की बात है" मानों ऐसा सोचकर ही आकाश में अपने आधे-आधे पैरों को उठाये हुये, [लज्जा के कारण] अधोमुख वाले वे घोड़े (आकाश-लंघन रूप कार्य से) निवृत्त हो गये अर्थात् लौट पड़े ।

अलङ्कार—इस श्लोक में "उत्प्रेक्षा" तथा "श्लेष" अलङ्कार हैं ।

व्याकरण—**एककेन** = एक + कन्—"एकादाकिनिच्चासहाये" सूत्र से "कन्" । **अक्रामि** = क्रम् + लुङ्—(कर्मवाच्य) । **त्रपा** = त्रप् + अङ् + टाप् । **नम्रित** = नम्र + णिच् (नाम धातु) + क्त । **न्यवर्ति** = नि + वृत + लुङ् (भाववाच्य) ।

समास—**नम्रिताननैः** = नम्रितानि आननानि यैः ते (बहुव्रीहि) नम्रिताननाः तैः । **अर्धनभःकृतक्रमैः** = अर्धेन नभसि कृतः क्रमः यैः (व्यधिकरण बहुव्रीहि समास), तैः ।

टिप्पणियाँ—**यत्** = जिस, **खम्** = आकाश को "नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्मखम्" इत्यमरः । **हरेः** = विष्णु के । हरि का अर्थ घोड़ा होता है—"यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु" इत्यमरः **एककेन** = अकेले एक अथवा केवल एक । **पदा** = पैर से । **अक्रामि** = अतिक्रमण किया था, लंघन किया था, लाँघा था अथवा नापा था । **तस्य** = उस (आकाश) के । **क्रमणे** = अतिक्रमण करने में, अथवा लाँघने में । **त्रपा** = लज्जा । राजा नल के अश्व इस कारण लज्जित हो रहे हैं कि वामनावतार में विष्णु (हरि) ने एकचरण से ही सम्पूर्ण आकाश को लाँघ (नाप) लिया था किन्तु वे (राजा नल के) अश्व (हरि) अपने चार चरणों द्वारा आकाश को लाँघना चाहते हैं । एक ही जाति के लोगों के लिये अधिक उपायों का अवलम्ब लेकर समान कार्य का किया जाना उनके लिये लज्जास्पद हुआ करता है । **नम्रिताननैः** =

झुके हुये मुखों के साथ अथवा अधोमुख अथवा नतमुख। लज्जा से युक्त व्यक्तियों के मुख इस प्रकार के हो ही जाया करते हैं। अर्धनभःकृतक्रमैः = [लाँघने के निमित्त जो घोड़े] अपने आधे पैरों को आकाश में उठा चुके थे अथवा उठाये हुये थे। घोड़े तीव्रगति के साथ गमन कर रहे थे। वे आकाश में अधिक और पृथ्वी पर (नाम मात्र को स्पर्शमात्र द्वारा) अति स्वल्प गमन करते थे। उन्होंने आकाश का अतिक्रमण करने की इच्छा की किन्तु पूर्वोक्त रूप से वे लज्जित होकर निवृत्त हो गये। न्यवर्ति = लौट पड़े अथवा निवृत्त होगये। अर्थात् उन्होने लाँघने रूप अपने विचार को त्याग दिया।

प्रसङ्ग—जब घुड़सवार विहार योग्य उपवन के स्थल पर पहुँचे तो उन्होने घोड़ों को भी वहाँ चक्राकार या वृत्ताकार रूप में (स्थित रखने के लिये) प्रयास किया—

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ॥७१॥

म०—चमूचराइति। तस्य नृपस्य चमूचराः सेनाचराः चरेष्टच्, सिन्धुदेशभवाः सैन्धवाः अश्वाः, 'हयसैन्धवसप्तय'इत्यमरः। 'तत्र भव' इत्यण्प्रत्ययः, तत्सम्बंधिनोऽपि सैन्धवा 'तस्येदमि'त्यण्। ते सादिनः अश्वसादिन इत्यर्थः, जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव जैनदर्शनश्रद्धालुतयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणि'ति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः, तं विहारदेशं सञ्चारभूमिं सुगतालयञ्च 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालय' इति विश्वः। अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि बहुलं मण्डलीमपि मण्डलाकारं च अकारयन् अपिशब्दोऽत्राप्तिसमुच्चयार्थः। अन्यत्र मण्डलासनमित्यर्थः। 'बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः॥७१॥

अन्वय—तस्य नृपस्य चमूचराः सादिनः जिनोक्तिषु श्राद्धतया सैन्धवाः इव तं विहारदेशं अवाप्य तुरङ्गमान् अपि भूरि मण्डलीं अकारयन्।

संस्कृत-व्याख्या—तस्य नृपस्य = नलस्य, चमूचराः = सेनाचराः, सादिनः = अश्वारोहिणः [सैनिकाः], जिनोक्तिषु = जैनदर्शने, श्राद्धतया = श्रद्धालुतया, सैन्धवा इव = सिन्धुदेशोद्भवाः जिना इव, तं विहारदेशम् = तं बाह्यसंचारप्रदेशम् [पक्षान्तरे—सुगतालयम्], अवाप्य = प्राप्य, तुरङ्गमान् = अश्वान्, अपि, भूरि = बहुलम्, मण्डलीम् = मण्डलाकारं गतिविशेषम् [पक्षान्तरे—मण्डलासनमित्यर्थ—बौद्धाःस्कर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्तीति प्रसिद्धिः।], अकारयन् = कारितवन्तः।

हिन्दी-अनुवाद—तस्य नृपस्य = उस राजा नल के, चमूचराः = सैनिक, सादिनः = घुड़सवारों ने, जिनोक्तिषु = जैन दर्शन में, श्राद्धतया = श्रद्धा रखने के कारण, सैन्धवा इव = सिन्धु देश में उत्पन्न हुये जिनों के सदृश, तम् = उस, विहारदेशम् = विहार के योग्य [सञ्चरणशील] भूमि में, [जिन पक्ष में—जिनालय अथवा जैनमठों में], अवाप्य = प्राप्त होकर [पहुँचकर], तुरङ्गमानपि = घोड़ों को भी, भूरि = अत्यधिक, मण्डलीम् = मण्डलाकार रूप में, कारितवन्तः = खड़ा कराया [जिन-पक्ष में—मण्डल के सदृश गोलाकार रूप में विठलाया।]।

भावार्थ—उस राजा नल के सैनिक घुड़सवारों ने उस वाहरी क्रीडास्थल में पहुँचकर घोड़ों को भी [घोड़ों पर सवार होने के कारण स्वयं को भी] अत्यधिक मण्डलार गति में घुमाया अर्थात् उस गोलाकार मैदान में गोलाकार रूप से उन घोड़ों को चक्कर लगवाकर उन्हें मण्डलाकार रूप में उसी प्रकार खड़ा किया जिस प्रकार से "जिन" के प्रति श्रद्धाभाव रखने वाले सिन्धु-देशोत्पन्न जिनभक्तगण अपने देवमठ अथवा देवमन्दिर में पहुँचकर मण्डलाकार रूप में स्थित हो जाया करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे जैनदर्शन में विश्वास रखने वाले श्रद्धालु जैनलोग अपने विहारों (मठों) में पहुँचकर मण्डलाकार (वृत्ताकार) रूप में स्थित हो जाया करते हैं उसी प्रकार से राजा नल के घुड़सवार सैनिक जब राजा के विहार के योग्य वनस्थली में पहुँच गये तव उन्होने घोड़ों को [उनपर सवार होने के कारण अपने को भी] गोलाकार रूप में घुमाकर मण्डलाकाररूप में ही खड़ा किया।

अलङ्कार—इस श्लोक में "जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव" में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। "विहारदेशम्" तथा "मण्डलीम्" में "श्लेष" अलङ्कार।

व्याकरण—चमूचराः = चमू + चर् + ट् ["चरेष्टः" सूत्र से]। **श्राद्धः**= श्रद्धा + अण्—"श्रद्धाचवृत्तिभ्योऽण" सूत्र से। **सैन्धवाः** = सिन्धु + अण् (मत्वर्थीय)।

समास—चमूचराः = चम्वां चरन्तीति चमूचराः। **श्राद्धतया** = श्रद्धा अस्ति अस्य इति श्राद्धः, तस्य भावः श्राद्धता [श्राद्ध + तल् + टाप्], तया। **सैन्धवाः** = सिन्धौ भवाः इति सैन्धवाः।

टिप्पणियाँ—तस्य नृपस्य = उस राजा नल के। **चमूचराः** = सैनिक।

सादिनः = अश्वारोही—घुड़सवार। **जिनोक्तिषु** = जिन सम्बन्धी कथनों में अथवा जैन दर्शन में। **श्राद्धतया** = श्रद्धालु होने के कारण। **सैन्धवाः** = सिन्धु देश में उत्पन्न हुये। **विहारदेशम्** = क्रीडास्थली अथवा संचरण करने योग्य प्रदेश में। **जिन पक्ष में**—जिनालय अथवा सुगतालय अथवा जैनमठ (मन्दिर) में "विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये" इति विश्वः। **तुरङ्गमान्** = घोड़ों को। **भूरि** = अधिक। **मण्डलीम्** = मण्डलाकार अथवा वृत्ताकार रूप में।

प्रसङ्ग—घोड़ों ने अपनी मण्डलाकार स्थिति के द्वारा उस भूमि को अलंकृत किया—

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम्।
इतीव धारामवधीर्य्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥७२॥

म०—द्विषद्भिरिति। अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव पलायमानैरिति भावः। दिशो विलङ्घिताः। अस्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं गोष्पदमकारि गोष्पदमात्रः कृतः, 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणार्थे' इति सुडागमषत्वयोर्निपातः। इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्यसाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः। तुरङ्गमैर्धाराङ्गतिं जातावेकवचनं पञ्चापि धारा इत्यर्थः। 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्च धारा' इत्यमरः। अवधीर्य्य अनादृत्य मण्डलीक्रिया-श्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या मण्डलगत्यैवेत्यर्थः। स्थली अकृत्रिमा भूः 'जनपदे' त्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप्, अमण्डि अभूषि। मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्त्वान्नुमागमः ॥ ७२ ॥

अन्वय—अस्य द्विषद्भिः एव दिशः विलङ्घिताः, अस्य यशोभिः एव अब्धिः गोष्पदं अकारि। इति इव तुरङ्गमैः धारां अवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रिया स्थली अमण्डि।

संस्कृत-व्याख्या—अस्य = राज्ञः नलस्य, द्विषद्भिः = [पलायमानैः] शत्रुभिः, एव, दिशः—ककुभः, विलङ्घिताः = लङ्घिताः, अस्य, यशोभिः = कीर्तिभिः, एव, अब्धिः = समुद्रः, गोष्पदम् = गोष्पदमात्रः—गोखुरप्रमाणः इत्यर्थः, अकारि = कृतः, इति इव = इति मत्वा इत्यर्थः, तुरङ्गमैः = अश्वैः, धाराम् = गतिम्, अवधीर्य = अनादृत्य, मण्डलीक्रियाश्रिया = मण्डलीकरण-जनितशोभया, स्थली = अकृत्रिमा भूः, अमण्डि = अभूषि।

हिन्दी-अनुवाद—अस्य = इस राजा नल के, द्विषद्भिः = शत्रुओं ने,

एव = ही, दिशः = दिशाओं को, विलङ्घिताः = लाँघ लिया है। [और] अस्य = इस राजा नल की, यशोभिः = कीर्तियों ने, एव = ही, अब्धिः = समुद्र को, गोष्पदम् = गौ के खुर के सदृश, अकारि = कर दिया अथवा बना दिया है; इति इव = मानों ऐसा मानकर अथवा सोचकर ही, तुरङ्गमैः = घोड़ों ने, धाराम् = [अपनी] गति विशेष को, अवधीर्य = छोड़कर, मण्डलीक्रियाश्रिया- = मण्डलाकार (गोलाकार) क्रिया [गति] की शोभा से, स्थलीम् = [उस] अकृत्रिम भूमि अथवा विहार की स्थली को, अमण्डि = अलंकृत किया।

भावार्थ—इस [राजा नल] के शत्रु [अपने प्राणों की रक्षा के निमित्त युद्ध-भूमि को छोड़कर और भागकर] दिशाओं को लाँघ गये हैं [अर्थात् दिशाओं के अन्तराल भाग में पहुँच गये हैं।], और इसके यशों के द्वारा समुद्र भी गाय के पैर के गड्ढे [चिह्न] के सदृश [अत्यन्त छोटा] बना दिया गया है। ऐसा सोचकर ही मानों घोड़ों ने अपनी गतियों [आस्कन्दित = सरपट दौड़ना आदि अपनी पाँच प्रकार की विशिष्ट गतियों को] को छोड़कर मण्डलाकाररूपमें चक्कर काटकर तथा मण्डलाकाररूप में ही स्थित [खड़े] होने सम्बन्धी शोभा से उस विहारभूमि को [अकृत्रिम (प्राकृतिक) स्थली को] अलङ्कृत अथवा सुशोभित किया।

उपर्युक्त वर्णन से राजा नल के आतङ्क से शत्रुओं का भागकर दिशाओं के अन्ततक पहुँच जाना तथा यशःसमूह का समुद्रपार तक चला जाना ध्वनित होता है।

अलङ्कार—"इति इव" के द्वारा इस श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार की प्रतीति होती है। साथ ही वर्णनात्मक दृष्टि से "अतिशयोक्ति" अलङ्कार की भी प्रतीति होती है।

व्याकरण—**अब्धिः** = अप + धा + कि [अधिकरण में]। **अवधीर्य** = अवधि + ईर् + क्त्वा-ल्यप् [शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्]। अवधीर् (अत्यवज्ञायाम्) धातु से क्त्वा करने पर ल्यप् न हो सकेगा। अतः उक्त रीति से ही इसकी व्युत्पत्ति करनी चाहिये। **स्थलीम्** = स्थल् + ङीष्—"जानपदकुण्डगोणस्थल···इत्यादि सूत्र से अकृत्रिम अर्थ में। **अमण्डि** = मण्ड् + णिच् + लुङ् (कर्मवाच्य में)।

समास—**गोष्पदम्** = गोः पदम् इति गोष्पदम् (षष्ठीतत्पु०)। यहाँ पर "गोष्पदे सेवितासेवितप्रमाणेषु" सूत्र से प्रमाण अर्थ में सुडागम और

षत्वनिपातन हुआ है। **मण्डलीक्रियाश्रिया** = मण्डल्याः क्रिया इति मण्डली क्रिया तस्याः श्रीः (षष्ठी तत्पु०) तया।

टिप्पणियाँ—विलङ्घिताः = लाँघ ली हैं अथवा पार कर ली हैं। **अब्धिः** = समुद्र—"समुद्रोऽब्धिरकूपारः—इत्यमरः। **गोष्पदम्** = गाय के खुर के समान—अर्थात् अत्यधिक छोटे आकार का। **धाराम्** = घोड़ों की पाँच प्रकार की गतियों को "धारा" कहा जाता है—"आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्च धाराः—इत्यमरः। **अवधीर्य** = तिरस्कृत करके—छोड़कर। **मण्डलीक्रियाश्रिया** = मण्डलाकार किये जाने की शोभा से। **स्थलीम्** = वन की अकृत्रिम (प्राकृतिक) भूमि को। **अमण्डि** = सुशोभित किया।

प्रसङ्ग—ग्रीष्म ऋतु में मण्डलाकार उड़ते हुये वायुसमूह (बवण्डर) को देखकर कवि द्वारा यह कल्पना की गयी है कि मानो इस बवण्डर ने अपने गोलाकार घूमने को घोड़ों के उपर्युक्त मण्डलाकार घूमने से ही सीखा हो—

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।
मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् ॥७३॥

म०—अचीकरदिति। नलश्चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजातपत्रस्य तलस्थले अधःप्रदेशे 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्यमरः। या भ्रमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेर्णौ चङ्। तासु भ्रमीषु विषये मरुत् अद्यापि वातानां समूहो वात्या, 'वातादिभ्यो यः'। अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचङ्क्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य न शिक्षते किन्नाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा। शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थः। वायोरप्यसम्भविता गतीरचीकरदिति भावः ॥ ७३ ॥

अन्वय—नलः निजातपत्रस्य तलस्थले चारु हयेन या भ्रमीः अचीकरत्, तासु मरुत् अद्य अपि वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य न शिक्षते किम्?

संस्कृत-व्याख्या—नलः = नैषधः, निजातपत्रस्य = स्वच्छत्रस्य, तलस्थले = अधःप्रदेशे, चारु यथाभवति तथा, हयेन = अश्वेन, याः, भ्रमीः = भ्रमणानि—मण्डलगतीः वा, अचीकरत् = कारितवान्; तासु—भ्रमीषु विषये, मरुत् = वायुः, अद्य अपि=इदानीमपि, वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्=वातानां समूहो वात्या, वात्यामयाः वातसमूहरूपाः चक्राकाराः चङ्क्रमाः भ्रमणानि तान्, वितत्य = विस्तीर्य, न, शिक्षते = अभ्यस्यते, किम्?

हिन्दी-अनुवाद—नलः = [राजा] नल ने, निजातपत्रस्य = अपने छत्र के, तलस्थले = नीचे, चारुहयेन = सुन्दर घोड़े से, याः=जो, भ्रमीः = मण्डलाकार गतियाँ, अचीकरत्=करवाई; तासु = इन [मण्डालाकार चक्करों] के विषय में, मरुत् = वायु, अद्य अपि=आज अथवा इस समय भी, वात्याचक्रचङ्क्रमान् = वात्या (बवण्डर) के रूप में चक्राकार (गोल-गोल), वितत्य = घूम-घूम करके, न शिक्षते = नहीं सीख रहा है, किम् = क्या ?

भावार्थ—राजा नल ने अपने छत्र के नीचे घोड़े से जिन सुन्दर गोलाकार चक्करों को लगवाया, उन गोलाकार चक्करों को वायु आज भी बवण्डर के रूप में नहीं सीख रहा है क्या ? अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर आज भी वायु घोड़े द्वारा किये गये उन चक्करों का अभ्यास कर ही रहा है। इतना होने पर भी इस समय तक भी यह वायु यथार्थ रूप में उन्हें नहीं सीख पाया है।

अलङ्कार—ग्रीष्मकाल में चक्राकार रूप में उड़ते हुये वायु-समूह (बवण्डर) के सम्बन्ध में यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि मानों यह बवण्डर राजा नल द्वारा उस समय कराये गये घोड़े के गोल-गोल चक्करों का वायु द्वारा किया जाने वाला अभ्यास है। अतः यहाँ "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—**भ्रमीः** = भ्रम + इक् । **अचीकरत्** = कृ + णिच् + लुङ्। **वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्** = वात + यत् = वात्या । वात्या + मयट् = वात्यामय क्रम + यङ् + घञ् (द्वित्व इत्यादि, अतो लोप और तदनन्तर "यस्यहलः" से 'य' लोप होकर "चङ्क्रम" ।)

समास—**निजातपत्रस्य** = निजं आतपत्रम्—इति निजातपत्रम्—तस्य । **वात्यामय चक्रचङ्क्रमान्** = वात्यामयाः चक्राः इति वात्यामयचक्राः (कर्मधारय) तद्रूपाः चङ्क्रमाः इति वात्यामयचक्रचङ्क्रमाः तान् ।

टिप्पणियाँ—**निजातपत्रस्य** = स्वकीय राजछत्र के। **तलस्थले** = अधः प्रदेश में—नीचे । **चारु** = सुन्दर । **भ्रमीः** = मंडलाकार (गोल-गोल, चक्राकार) में विद्यमान् भ्रमणों को । **अचीकरत्** = करवाया, कराया । **वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्** = वायु के समूह अर्थात् बवण्डर रूप में विद्यमान् रहने वाले चक्राकार अथवा गोलाकार भ्रमणों को । **वितत्य** = विस्तृत करके अथवा विस्तार करके (घूम-घूम करके)। **शिक्षते** = सीख रहा है—अभ्यास कर रहा है।

प्रसङ्ग—इसके अनन्तर राजा नल ने विलास वन में प्रवेश किया—

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम् ॥७४॥

म०—विवेशेति। ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रवालाः पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लव' इत्यमरः। तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रूषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्ति 'छाया त्वनातपे कान्तावि'ति विश्वः। विलासकाननं क्रीडावनम् अन्यत्र बवयोरभेदात् विलासकानां विलेशयानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुषुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसान्निधिमब्धिमिव विवेश ॥ ७४ ॥

अन्वय—ततः क्षोणिपतिः सः क्षणाद् गत्वा धृतीच्छया प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायं विलासकाननं अम्भसां निधिं सुषुप्सया हरिः इव विवेश।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = तदनन्तरम्, क्षोणीपतिः = पृथ्वीपालकः, सः= प्रसिद्धः—राजा नलः, क्षणाद्—शीघ्रं यथास्यात्तथा, गत्वा = यात्वा धृतीच्छया= सन्तोषकाङ्क्षया, प्रवालरागच्छुरितम् = प्रवालाः पल्लवाः तेषां रागेण आरुण्येन रूषितं विचित्रं वा [समुद्रपक्षे-प्रवालाः विद्रुमाः तेषां रागेण आरुण्येन छुरितं विचित्रम्], घनच्छायम् = सान्द्रानातपम्—निविडच्छायं वा [समुद्रपक्षे—घनच्छायम् = मेघकान्तिम्], विलासकाननम् = क्रीडावनम् [समुद्रपक्षे—(बवयोरभेदात्) विलासकानां विलेशयानां सर्पाणां आननं प्राणनम्], अम्भसां निधिम् = जलनिधिम्—समुद्रं वा, सषुप्सया = स्वप्तुं इच्छया, हरिः इव = विष्णुः इव, विवेश = प्राविशत्।

हिन्दी-अनुवाद—ततः = तदन्तर, क्षोणीपतिः सः = पृथ्वीपति उस राजा नल ने, क्षणाद् गत्वा = क्षणभर में ही पहुँचकर, धृतीच्छया = धैर्य अथवा शान्ति (प्राप्ति) की इच्छा से, प्रवालरागच्छुरितिम् = नूतन पल्लवों (किसलयों) की लालिमा (रागिमा) से युक्त, घनच्छायम् = सघन छाया से युक्त [समुद्रपक्ष में—मेघों सदृश कान्ति वाले], विलासकानम् = क्रीडा वन में अम्भसां निधिं सुषुप्सया हरिः इव = समुद्र में सोने की इच्छा से प्रविष्ट हुये विष्णु के समान, विवेश = प्रवेश किया।

भावार्थ—तदनन्तर राजा नल नूतन पल्लवों से युक्त तथा सघनछाया से परिपूर्ण विलास (क्रीडा) वन में शान्ति (धैर्य) प्राप्त करने की अभिलाषा से उसी प्रकार प्रविष्ट हुये जिस प्रकार भगवान् विष्णु मूँगों की

लालिमा से मिश्रित तथा मेघों जैसी कान्ति को धारण करने वाले क्षीरसागर में शयन करने की इच्छा से प्रवेश करते हैं। [अथवा हरि नाम सिंह का भी है—इस आधार पर यह अर्थ होगा कि जिस प्रकार सिंह पल्लवों की लालिमा से युक्त सघन छाया से परिपूर्ण वन में शीघ्र ही सोने अथवा विश्राम करने की इच्छा से प्रवेश किया करता है]।

अलङ्कार—इस श्लोक में प्रयुक्त "प्रवालरागच्छुरितम्" तथा "वनच्छायम्" इन दोनों ही पदों में "श्लेष" है। अतः ये "विलासकाननम्" और अम्भसां निधिम्" क्रमशः उपमेय और उपमान—दोनों के ही विशेषण हैं। "अम्भसां निधिं इव विलासकाननम्" में "उपमा" अलङ्कार है। अतः उपर्युक्त श्लोक में श्लेषनिष्ठ उपमा अलङ्कार हुआ।

व्याकरण—**सुषुप्सया** = स्वप् + सन् (द्वित्वादि के पश्चात्)—सुषुप्स + अ + टाप् (तृतीया विभक्ति के एक वचन का रूप)।

समास—**क्षोणिपतिः** = क्षोण्याः पृथिव्याः पतिः—क्षोणिपतिः (षष्ठी तत्पुरुष)। "क्षोणि" में "ङ्यापोः" इस सूत्र से ह्रस्व हो जाता है। अथवा—क्षोणि तथा क्षोणी दोनों ही शब्दों को पृथ्वी वाचक कहा जा सकता है। क्योंकि "कृतिकारादक्तिनः" इस गणसूत्र द्वारा विकल्प से "ङीष्" होने पर "क्षोणी" तथा न होने पर "क्षोणिः" रूप बनते हैं॥ **धृतीच्छया** = धृतेः इच्छा—धृतीच्छा तया। **प्रवालरागच्छुरितम्** = प्रवालां रागेण छुरितम्—इति। **घनच्छायम्** = घना छाया यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। समुद्रपक्ष में—घनस्य मेघस्य छाया इव छाया यस्य तत् (बहुव्रीहि)]। **विलासकाननम्** = विलासार्थं काननम्—विलासकाननम् (चतुर्थीतत्पुरुष)। **सुषुप्सया** = स्वप्तुं इच्छा सुषुप्सा तया।

टिप्पणियाँ—**ततः** = तत्पश्चात्—उस वन में पहुँच जाने के पश्चात्। **क्षोणिपतिः** = पृथ्वी के पालक अथवा रक्षक (राजा नल ने)। **धृतीच्छया**= धैर्य अथवा शान्ति की प्राप्ति की इच्छा से। **प्रवालरागच्छुरितम्** = (वन के पक्ष में—) नव पल्लवों अथवा किसलयों अथवा (समुद्रपक्ष में—) मूँगों की लालिमा से युक्त अथवा विचित्र ["प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लवे"—इत्यमरः]। **घनच्छायम्** = घनी (सान्द्र) छाया से युक्त (समुद्र पक्ष में—मेघों जैसी कान्ति से युक्त)। "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति विश्वः। **विलासकानम्** = क्रीडावन में—विलास हेतु निश्चित वन में। **सुषुप्सया**= सोने अथवा शयन करने की इच्छा से। **विवेश** = प्रवेश किया–घुसा।

प्रसङ्ग—नगर निवासियों की दृष्टियाँ राजा नल को उस समय तक देखती रहीं कि जब तक वे उनकी दृष्टियों से ओझल नहीं हो गये—

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे।
न्यवर्त्तिदृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥७५॥

म०—वनान्तेति। अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः। अत एवोपमालङ्कारः। पुरौकसां दृष्टिप्रकरैर्दृष्टिसमूहैः कर्तृभिर्वनान्तपर्यन्तं काननोपान्तसीमाम् उदकप्रान्तपर्य्यन्तञ्चेति गम्यते, 'वने सलिलकानने' इत्यमरः। सस्पृहं साभिलाषं यथा तथा उपेत्य गत्वा अथ अनन्तरं क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णदृक्पथे अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्तं, भावे लुङ्। यथा बन्धुभिः उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि'त्यागमात्प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्त्यंते तद्वदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

अन्वय—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः पुरौकसां दृष्टिप्रकरैः वनान्तपर्यन्तं सस्पृहं उपेत्य क्रमेण तस्मिन् अवतीर्णदृक्पथे न्यवर्ति।

संस्कृत-व्याख्या—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः = अनुव्रजन् स्नेहादनुगच्छन् यो बन्धुसमाजः इष्टसमूहः तस्य बन्धुभिः सदृशैः, पुरौकसां = नगरनिवासिनाम्, दृष्टिप्रकरैः = दृष्टिसमूहैः, वनान्तपर्यन्तं = काननोपान्तसीमाम्—उदकप्रान्तपर्यन्तञ्चेति गम्यते, सस्पृहं=साभिलाषम् यथा तथा, उपेत्य = गत्वा, क्रमेण = परिपाट्या, तस्मिन् = नले, अवतीर्णदृक्पथे=अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति, न्यवर्ति = निवृत्तम्।

हिन्दी-अनुवाद—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः=पीछे जाते हुये (पहुँचाकर वापिस जाते हुये) इष्टजनों के समूह के सदृश, पुरौकसाम्=नगरनिवासियों की, दृष्टिप्रकरैः = दृष्टियाँ, वनान्तपर्यन्तम् = वन की सीमा तक, सस्पृहम् = अभिलाषापूर्वक, उपेत्य = जाकर, क्रमेण = क्रमशः, तस्मिन् = उस (राजा नल) के, अवतीर्णदृक्पथे = दृष्टिमार्ग से ओझल हो जाने पर, न्यवर्ति = लौट आयीं।

भावार्थ—(किसी जाते हुये सम्बन्धी के) पीछे जाते हुये बन्धु समूह के सदृश नगरनिवासियों की दृष्टियाँ (राजा नल को देखने के लिये) वन तक जाकर क्रमशः उस नल के दृष्टि-पथ से ओझल हो जाने पर (वापिस) लौट आयीं। ऐसा शास्त्रीय विधान है कि यदि कोई अपना सम्बन्धी अपने यहाँ आता है और फिर जब वह वापिस जाने के लिये गमन करता है तो उस

समय घर के लोग उसे थोड़ी दूर तक पहुँचाने के लिये जाया करते हैं जैसा कि शास्त्र भी कहता "उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदिति" अर्थात् इष्टजनों को पहुँचाने जलाशय पर्यन्त जायें। तदनन्तर जब वह जाने वाला व्यक्ति सवारी आदि में बैठकर चल दिया करता है और घर के लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाया करता है तब घर के लोग अपने घर वापिस आ जाया करते हैं। इसी प्रकार राजा नल ने जब वन के लिये गमन किया तो नगर-निवासी जन उसको निरन्तर देखते रहे किन्तु जब नगरनिवासियों की दृष्टियों से राजा ओझल हो गया तो नगरनिवासियों की दृष्टियाँ भी वापिस लौट आयीं। अर्थात् जब तक राजा नल नगरनिवासियों की दृष्टि द्वारा देखने योग्य रहे तब तक वे लोग उन्हें निरन्तर देखते रहे किन्तु जब राजा वन के समीप पहुँचे और नगरनिवासियों की दृष्टि से ओझल हो गये तो नगरनिवासियों की दृष्टियाँ उस ओर से वापिस लौट आयीं।

अलङ्कार—"अनु......वन्धुभिः" के आधार पर "उपमालङ्कार" है। "अनुप्रास" अलङ्कार की भी छटा उक्त श्लोक में विद्यमान है जो कि सुस्पष्ट ही है।

व्याकरण—न्यवर्ति = नि + वृत् + लुङ् (भाववाच्य)।

समास—अनुव्रजद्वन्धुसमाजबन्धुभिः = बन्धूनां समाजः (षष्ठी तत्पुरुष), अनुव्रजन् बन्धुसमाजः (कर्मधारय), तस्य बन्धुः (षष्ठी तत्पुरुष), तैः। **पुरौकसाम्** = पुरे पुरं वा ओको येषाम् (बहुव्रीहि)। **दृष्टिप्रकरैः** = दृष्टीनां प्रकरः, दृष्टिप्रकरः तैः। **अवतीर्णदृक्पथे** = दृशोः पन्थाः दृक्पथः (षष्ठी तत्पुरुष), अवतीर्णः दृक्पथः येन स अवतीर्णदृक्पथः (बहुव्रीहि), तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—अनुव्रजद्वन्धुसमाजबन्धुभिः=पीछे २ चलते हुये बन्धुओं (घर के लोगों) के समूह के सदृश। यहाँ पर लक्षणा-शक्ति के आधार पर "वन्धुभिः" का अर्थ "सदृश" अथवा "समान" किया गया है। **पुरौकसाम्**= पुर अर्थात् नगर ही है ओक-निवासस्थान जिनका ऐसे। अर्थात् नगरनिवासियों के। **दृष्टिप्रकरैः** = दृष्टिसमूह-दृष्टियाँ। **वनान्तपर्यन्तम्** = क्रीडावन अथवा जल के समीप तक। "वन" का अर्थ "जल" भी हुआ करता है—"जीवनं भुवनं वनम्"। "उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेत्" अर्थात् जलसीमा (जलाशय) तक अपने प्रिय (सम्बन्धी) यात्री का अनुगमन करे। अर्थात् उसे थोड़ी दूर तक पहुँचाकर लौट आये अथवा जब कोई जलाशय दिखलाई पड़ जाय तो

वहीं से वापिस चला आवे। प्रायः सभी नगरों के बाहर (अर्थात् नगर की सीमा समाप्त होने पर) जलाशय आदि हुआ करते थे। इसी आधार पर इस प्रकार के शिष्टाचार का नियम बना होगा। **अवतीर्णदृक्पथे** = नेत्रों के मार्ग को पार कर जाने पर अथवा दृष्टि से ओझल हो जाने पर। **न्यवर्ति**=लौट आये।

प्रसङ्ग—तदनन्तर राजा नल ने उस विलासवन (अथवा उपवन) की शोभा को देखा—

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत् काननरामणीयकम् ॥७६॥

म०—तत इति। ततः वनप्रवेशानन्तरं स जनाधिपो नलः मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सन्दर्शिनी सम्मुखावस्थितवस्तुप्रकाशिकेति यावत् 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः ख' इति खप्रत्ययान्तो निपातः। तादृशी अङ्गुलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः। काननरामणीयकं वनरामणीयकम् 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्प्रत्ययः। व्यलोकयत् अपश्यदिति स्वभावोक्तिः॥ ७६॥

अन्वय—ततः सा जनाधिपः मञ्जुले प्रसूने च फले च सम्मुखीनाङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमानं काननरामणीयकं व्यलोकयत्।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = वनप्रवेशानन्तरम्, स जनाधिपः = राजा नलः, मञ्जुले = मनोहरे, प्रसूने = कुसुमे, च, फले च विषये, सम्मुखीनाङ्गुलिना = सम्मुखीना सन्दर्शिनी संमुखावस्थितवस्तुप्रकाशिका इति यावत्, तादृशी अङ्गुली यस्य तेन, वनपालपाणिना = उद्यानरक्षकहस्तेन, निवेद्यमानम् = इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः, काननरामणीयकम्=वनसौन्दर्यम्, व्यलोकयत् = अपश्यत्।

हिन्दी-अनुवाद—ततः = तदनन्तर, स जनाधिपः = उस राजा नल ने, मञ्जुले = सुन्दर, च, प्रसूने = फूलों, फले च = और फलों की ओर, सम्मुखीनाङ्गुलिना = दिखलाने वाली अंगुलि से युक्त, वनपालपाणिना = उद्यान-रक्षक के हाथ के द्वारा, निवेद्यमानम् = बतलाये जाते हुये, काननरामणीयकम् = वन के सौन्दर्य को, व्यलोकयत् = देखा।

भावार्थ—उस वन में प्रवेश करने के उपरान्त राजा नल ने सुन्दर फूल और फलों की ओर उद्यानरक्षक द्वारा अपनी अंगुली से निर्देशित वन की शोभा को देखा।

उद्यानरक्षक अथवा माली द्वारा राजा को फूलों और फलों से युक्त उस वन की शोभा को दिखलाया जा रहा था। वह अपनी अंगुली के संकेत द्वारा राजा की दृष्टि को फलों एवं फूलों की ओर आकर्षित कर रहा था। इस भाँति राजा उस उपवन के सौन्दर्य का निरीक्षण कर रहे थे।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—**सम्मुखीना**=सम्मुख + ख "यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः" से "ख" के स्थान पर "ईन" आदेश तत्पश्चात् टाप् होकर। **वनपालपाणिना**= वन + पाल् + णिच् + अच्। **निवेद्यमानम्**=नि + विद् + णिच् + शानच् (कर्मवाच्य)। **रामणीयकम्** = रमणीय + वुञ् "योपधाद्गुरुपोत्तमाद्वुञ्" से।

समास—**जनाधिपः** = जनानां अधिपः (षष्ठी तत्पुरुष)। **सम्मुखीनाङ्गुलिना** = सम्मुखे स्थिता सम्मुखीना, सम्मुखीना अङ्गुली यस्य स सम्मुखीनाङ्गुलिः (बहुव्रीहि) तेन। **वनपालपाणिना** = वनंपालयतीति वनपालः, तस्य पाणिः (षष्ठी तत्पुरुष), तेन। **काननरामणीयकम्** = रमणीयस्य भावः रामणीयकम्, काननस्य रामणीयकम् (षष्ठी तत्पुरुष) इति।

टिप्पणियाँ—**ततः** = उस वन में प्रवेश कर लेने के बाद। **जनाधिपः**= राजा (नल)। **मञ्जुले** = सुन्दर, मनोहर, मनोज्ञ। **प्रसूने** = फूल। "प्रसूने" तथा "फले" पदों में जातिगत बहुवचन की विवक्षा की दृष्टि से एकवचन का प्रयोग किया गया है। अतएव इन दोनों पदों का अर्थ क्रमशः "फूलों" और "फलों" ही समझना उचित है। **सम्मुखीनाङ्गुलिना** = सामने की ओर किये गये संकेत से युक्त अङ्गुलि वाले। **वनपालपाणिना** = उद्यान-रक्षक (माली) के हाथ द्वारा। **काननरामणीयकम्** = वन के सौन्दर्य को अथवा उद्यान की शोभा को। **व्यलोकयत्** = देखा।

प्रसङ्ग—वन के वृक्षों ने वनवासी ऋषियों से उस राजा नल का अतिथि-सत्कार करना सीखा—

फलानिपुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥७७॥

म०—फलानीति। वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन बाल्याद्यपगमेन चोद्गतेनोत्थितेन वातेन वायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते 'खगबाल्यादिनोर्वय' इत्यमरः। पल्लव एव कर इति व्यस्तरूपकं फलानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय

स्थितैस्तिष्ठद्भिः वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, 'शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपी'ति वैजयन्ती। तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यर्थं कर्म, 'अतिथेर्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः। महर्षीणां वार्द्धकाद् वृद्धसमूहात् तत्रत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः। शिव भागवतवत्समासः। 'वृद्धसंघे तु वार्द्धकमि'त्यमरः। 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुञ्प्रत्ययः। अशिक्षि शिक्षितमभ्यस्तम्, अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः। कर्मणि लुङ्। उत्प्रेक्षेयं सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या पूर्वोक्तरूपश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः॥ ७७॥

अन्वय—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समादाय वने स्थितैः शाखिभिः महर्षिवार्द्धकात् तदातिथ्यं अशिक्षि।

संस्कृत-व्याख्या—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = वयोऽतिपातेन पक्षिपतनेन उद्गतः उच्छ्रितः यः वातः वायुः तेन वेपिते कम्पिते [महर्षिपक्षे—वयसः बालाद्यवस्थायाः अतिपातेन अपगमेन उद्गतः उत्पन्नः यः वातः वायुरोगः तेन वेपिते कम्पिते], पल्लवे = शाखाग्रलक्षणे (एव), करे = हस्ते, फलानि पुष्पाणि च, समादाय = गृहीत्वा, वने, स्थितैः = तिष्ठद्भिः, शाखिभिः = वृक्षैः [महर्षिपक्षे—वेदशाखाध्यायिभिः], महर्षिवार्द्धकात् = महर्षीणां वार्द्धकात् वृद्धसमूहात्, तदातिथ्यम् = तस्य नलस्य आतिथ्यं आतिथ्यर्थं कर्म—पूजा वा, अशिक्षि = शिक्षितम्—अभ्यस्तम् वा।

हिन्दी-अनुवाद—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = पक्षियों के उड़ने से उत्पन्न वायु द्वारा हिलते हुये [महर्षिपक्ष में—अधिक अवस्था के कारण उत्पन्न हुये वातरोग के कारण काँपते हुये], पल्लवे करे = पल्लवरूपी हाथ में, फलानि पुष्पाणि च = फल और फूलों को, समादाय = लेकर, वने = वन में, स्थितैः = खड़े हुये, शाखिभिः = वृक्षों ने, महर्षिवार्द्धकात् = वृद्ध महर्षियों के समूह से [मानों], तदातिथ्यम् = उस राजा नल का अतिथि-सत्कार करना, अशिक्षि = सीखा।

भावार्थ—[पहले से वृक्षों के ऊपर बैठे हुये] पक्षियों के एक साथ उड़ने के कारण उत्पन्न हुयी वायु से हिलते हुये पल्लवरूपी हाथ में फल—फूलों को लेकर स्थित वन के वृक्षों ने मानों अधिक अवस्था हो जाने के कारण उत्पन्न हुये वातदोष के कारण काँपते हुये हाथों से युक्त वृद्ध महर्षियों के समूह से उस राजा नल का अतिथि-सत्कार करना सीखा। अर्थात् अवस्था के अधिक हो जाने के कारण जिनको वात दोष या रोग हो गया था और इसके कारण

जिनका हाथ भी कंपन करने लगा था ऐसे वनवासी वृद्धमहर्षियों के पास जाकर उस उद्यान के वृक्षों ने राजा नल का अतिथिसत्कार करने का प्रकार सीखा। कवि ने यहाँ ऐसी उत्प्रेक्षा की है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस वन में महर्षिलोग भी निवास करते थे और उस वन के वृक्ष फल-फूल आदि की समृद्धि से परिपूर्ण थे।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। श्लोक के द्वितीय चरण में "श्लेष" भी है।

व्याकरण—शाखिभिः = शाखा + इनि। (तृतीयाबहुवचन का रूप)। **वार्द्धकम्** = वृद्धानां समूहः वार्द्धकम्—वृध + वुञ्—"वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्" से। **आतिथ्यम्** = अथितेर्भावः आतिथ्यम्—अतिथि + ञ्य—"अतिथेर्ञ्यः" से। **अशिक्षि** = शिक्ष् + लुङ् (कर्मवाच्य)।

समास—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = वयसां अतिपाताः (षष्ठी तत्पुरुष), तेन उद्गतः (तृतीया तत्पुरुष), तादृशः वातः (कर्मधारय), तेन वेपितः (तृतीया तत्पुरुष), तस्मिन्। महर्षि पक्ष में—वयसः अवस्थायाः अतिपातेन अपगमेन उद्गतेन वातेन वायुदोषेण वायुरोगेण वा वेपिते। **शाखिभिः** = शाखाः सन्ति एषां—इति शाखिनः तैः। **महर्षिवार्द्धकात्** = वृद्धानां समूहः वार्द्धकम्, महर्षीणां वार्द्धकम् इति महर्षिवार्द्धकम् (षष्ठी तत्पु०), तस्मात्। **तदातिथ्यम्** = तस्य (नलस्य) आतिथ्यम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते—(वृक्ष पक्ष में)—पक्षियों के उड़ने के कारण उत्पन्न हुये वायु से हिलने डुलने वाले। (महर्षि पक्ष में)—अवस्था के ढल जाने के कारण उत्पन्न हुये वात-दोष अथवा वातरोग के कारण कम्पन युक्त (हाथों वाले)। **समादाय** = लेकर अथवा रखकर। **स्थितैः** = स्थित अथवा खड़े हुये। **शाखिभिः** = वृक्षों ने। (महर्षि पक्ष में—) वेद की शाखाओं का अध्ययन करने वाले। "शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपि" इति वैजयन्ती। **महर्षिवार्द्धकात्**=वृद्धावस्था को प्राप्त हुये महर्षियों के समूह से। **तदातिथ्यम्** = राजा नल का अतिथि सत्कार अथवा स्वागत। **अशिक्षि** = सीखा।

प्रसङ्ग—उस उपवन में राजा नल ने भ्रमरों से युक्त केतकी के पुष्प को देखा—

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् ।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम् ॥७८॥

म०—विनिद्रेति । विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् विकचदलाग्रलिस्थितभृङ्ग-मिषात् मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुर्वर्ज्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पादितं 'न केतक्या सदाशिवमि'ति निषेधादिति भावः । आशासु चरिष्णु सञ्चरणशीलं 'अलंकृञि' त्यादिना चरेरिष्णुच्प्रत्ययः । दुर्यशोऽपकीर्तिं दधानं कैतकं केतकी-कुसुमं तत्र वने स नलः कौतुकी सन् ददर्श । अर्हस्य महापुरुषस्य वहिष्कारो दुष्कीर्तिकर इति भावः अत्रालिकैतवादित्यलित्वापह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारोपाद-पह्नुत्यलङ्कारः । 'निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः' इति लक्षणात् ॥ ७८ ॥

अन्वय—तत्र कौतुकी सः मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितं आशासु चरिष्णु दुर्यशः विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् दधानं कैतकं ददर्श ।

संस्कृत-व्याख्या—तत्र=वने, कौतुकी=कुतूहलपूर्णः, सः = नलः, मृगाङ्क-चूडामणिवर्जनार्जितम् = मृगाङ्कः चन्द्रः चूडामणौ यस्य तेन शिवेन वर्जनं परिहारं (त्यागः) तेन अर्जितम् सम्पादितम्, आशासु = दिशासु, चरिष्णुः = संचरणशीलम्, दुर्यशः = अपकीर्तिम्, विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् = विनिद्रा विकसिता पत्रालिः दलपंक्तिः तत्र तां वा गताः प्राप्ताः ये अलयः भृङ्गाः तेषां कैतवात् मिषात्, कैतकम् = केतकीपुष्पम्, ददर्श = अवलोकितवान् । "समर्थस्य महापुरुषस्य वहिष्कारः दुष्कीर्तिकरः" इतिभावः ।

हिन्दी-अनुवाद—तत्र = [उस] वन में, कौतुकी = उत्सुकतापूर्ण, सः = उस [राजा नल] ने, मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् = शिव जी द्वारा त्याग दिये जाने से उत्पन्न, आशासु = सम्पूर्ण दिशाओं में, चरिष्णुः = व्याप्त—फैलने वाली, दुर्यशः = अपकीर्ति को, विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् = खिली हुयी पंखुड़ियों के बीच में स्थित भ्रमरों की पंक्ति के बहाने (रूप में), दधानम् = धारण किये हुये, कैतकम् = केतकी के पुष्प को, ददर्श = देखा । किसी समर्थ महापुरुष द्वारा किया गया किसी वस्तु का वहिष्कार अपकीर्ति का ही जनक हुआ करता है ।

भावार्थ—वन (को देखने के विषय) में उत्सुकतापूर्ण राजा नल ने, शिवजी द्वारा त्याग दिये जाने के कारण उत्पन्न तथा सम्पूर्ण दिशाओं में फैलने वाले अपयश को धारण करनेवाले, खिली हुयी पंखुड़ियों के बीच में बैठे हुये भ्रमरों की पंक्ति के रूप में (अपकीर्ति से युक्त उस) केतकी के फूल को देखा ।

जब राजा नल ने उस उपवन में भ्रमरों से युक्त केतकी के फूल को देखा

तव उनके मन में बड़ी उत्सुकता उत्पन्न हुयी। ऐसा प्रतीत होता था कि उस फूल के अन्दर भौंरे नहीं थे अपितु वह केतकी के फूल की अपकीर्ति ही थी जो शिवजी द्वारा (उसका) त्याग कर दिये जाने के कारण उत्पन्न हुयी थी और वह उसकी अपकीर्ति फूल में से निकलकर उड़ते हुये भ्रमरों के रूप में सभी दिशाओं में व्याप्त हो रही थी। केतकी का फूल शिव-पूजा में वर्जित है और इसी कारण उसकी यह अपकीर्ति हुयी है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कथानक शिवपुराण में उपलब्ध होता है—

एक बार भगवान् राम लक्ष्मण तथा सीता के साथ गया में पितरों के श्राद्ध हेतु गये। वहाँ पहुँचकर राम ने लक्ष्मण को श्राद्ध सामग्री लाने के लिये नगर में भेजा और स्वयं फल्गु नदी के किनारे बैठकर पितरों का आवाहन करने लगे। लक्ष्मण के आने में अधिक विलम्ब हो जाने के कारण राम भी श्राद्धसामग्री लाने हेतु नगर को चले गये। उन दोनों में से कोई भी उक्त सामग्री को लेकर लौट नहीं पाया था कि इसी बीच राम के पितरों के हाथ श्राद्धपिण्ड लेने के निमित्त बाहर निकले। यह देखकर सीता जी घबराने लगीं। उसे घबराया हुआ देखकर आकाशवाणी द्वारा पितरों ने कहा "हे वत्से! श्राद्धसामग्री के विद्यमान न होने पर तुमको घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम बालू का ही पिण्ड बनाकर हम लोगों का श्राद्ध करो।" सीता ने ऐसा ही किया तथा अपने इस कार्य में वहाँ उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी और केतकी पुष्प को साक्षी बनाया। विधिवत् बालू के श्राद्धपिण्ड लेकर पितरों के हाथ जब अन्तर्निहित हो गये तब राम व लक्ष्मण उक्त सामग्री लेकर वापिस आये। उस समय सीता ने पूर्वोक्त चारों साक्षियों के समक्ष किये गये पिण्डदान की बात कही। किन्तु उन चारों साक्षियों ने कहा कि "हमको कुछ भी ज्ञात नहीं हैं"। तब पितरों ने आकाशवाणी द्वारा श्राद्ध-पिण्ड की स्वीकृति को बतलाया और पुनः श्राद्ध करने का निषेध किया। तब सीता जी ने उपर्युक्त चारों को क्रमशः यह शाप दिया—"(गौ को) तुम आगे (मुख) भाग से अपवित्र होओ। (अग्नि को) तुम सर्वभक्षी होओ। (फल्गुनदी को) तुम निर्जल (अन्तर्जल) होओ। (केतकी पुष्प को) तुम शिवजी के प्रिय न रहो।"

उसी समय से शिव-पूजा में केतकी-पुष्प का उपयोग किये जाने का निषेध है।

अलङ्कार—इस श्लोक में "अलिकैतवात्" पद में अलित्व के अपह्नव द्वारा दुर्यशत्व का आरोप किये जाने से "अपह्नुति" नामक अलङ्कार है। लक्षण—"निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः"।

व्याकरण—**कौतुकी** = कौतुक + इनि । **चरिष्णु** = चर् + इष्णुच् । **कैतकम्** = केतक्याः इदम्, केतकी + अण् ।

समास—**मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्** = मृगाङ्कः चन्द्रः चूडायाः शिरसः मणिः यस्य तस्य शिवस्य वर्जनेन परित्यागेन अर्जितम् इति । **विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात्** = विनिद्रा पत्रालिः इति विनिद्रपत्रालिः, तां गताः इति विनिद्रपत्रालिगताः, ये अलयः तेषां कैतवात्—इति ।

टिप्पणियाँ—**कौतुकी** = उत्सुकता से भरे हुये । **मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्** = शिवजी द्वारा परित्यक्त होने के कारण जो (अयश) प्राप्त हुआ हो । **आशासु** = दिशाओं में । **चरिष्णुः** = संचरणशील—फैलनेवाला । **दुर्यशः** = अयश, अपयश, अपकीर्ति । **विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात्** = खिली हुयी पंखड़ियों में स्थित भ्रमरों के बहाने से । **दधानम्** = धारण करते हुये । **कैतकम्** = केतकी के फूल को । **ददर्श** = देखा ।

प्रसङ्ग—[केतकी पुष्प को देखने के पश्चात्] राजा नल ने केतकी के फूल की निन्दा की । इस का वर्णन ७९ से ८१ वें श्लोक तक किया गया है ।

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत् ।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥७९॥

म०—अथ त्रिभिः कैतकोपालम्भमाह—वियोगेत्यादि । कैतक ! यद्यस्मात्त्वं स्मरेण वियोगभाजां हृदिकण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम् । विशेषणविवक्षया पुंल्लिङ्गनिर्देशः, किन्तूद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशेषणत्वं क्लिष्टम् । कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरः कर्णिशरः सन्निधीयसे कण्टककटोः केतकस्य कर्णिशरत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः । ततः कर्णिशरत्वादिवद् दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयते विगर्ह्यसे । द्वेष्यवत् द्वेष्योपकरणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः । अत्रेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ७९ ॥

अन्वय—यत् (त्वम्) स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुः कर्णिशरः निधीयसे ततः दुराकर्षतया तदन्तकृत् मन्मथदेहदाहिना विगीयसे ।

संस्कृत-व्याख्या—[हे कैतक !] यत् = यस्मात्, (त्वम्), स्मरेण = कामेन, वियोगभाजाम् = वियोगिनाम्, हृदि = हृदये, कण्टकैः = निजतीक्ष्णावयवैः, कटुः = तीक्ष्णः, कर्णिशरः = कर्णसहितः बाणः, विधीयसे = निक्षिप्यसे; ततः = तस्मात् कारणात्, दुराकर्षतया = उद्धर्तुमशक्यतया, तदन्तकृत् = तेषां वियोगिनां मारकम्, मन्मथदेहदाहिना = स्मरहरेण, विगीयसे = विगर्ह्यसे ।

हिन्दी-अनुवाद—हे केतकी के फूल !, यत् = जिस कारण, (त्वम् = तुम), स्मरेण = कामदेव के द्वारा, वियोगभाजाम् = वियोगियों के, हृदि = हृदय में, कण्टकैः = काटों से, कटुः = तीक्ष्ण, कर्णिशरः = बाण के रूप में, निधीयसे = रखे जाते हो, ततः = इसलिये, दुराकर्षतया = कठिनता के साथ बाहर खींचे जा सकने के कारण, तदन्तकृत् = उन वियोगियों का अन्त करने वाले (तुम), मन्मथदेहदाहिना = कामदेव के शरीर को जलाने (भस्म कर देने) वाले (शिव जी) द्वारा, विगीयसे = निन्दित किये जाते हो ।

भावार्थ—हे केतकी पुष्प ! कामदेव, काटों से युक्त होने के कारण बाणरूप में विद्यमान तुमको वियोगियों के हृदय में चुभाता है, इस कारण (अथवा—कर्णियुक्तबाण के रूप में होने से अथवा उस वियोगि-हृदय से) कष्ट से निकाले जाने योग्य होने के कारण, उन विरहियों को मारने वाले, कमदेव के शरीर को भस्म कर देने वाले शिव जी तुमको निन्दित (अथवा त्याग देने योग्य) करते हैं ।

[हे केतकी पुष्प ! तुम कामदेव के सहायक हो । अतः तुम्हारा त्याग करना कामदेव को भस्म कर देने वाले शिवजी के लिये पूर्णतया उपयुक्त ही है ।]

अलङ्कार—उपर्युक्त श्लोक में रूपक से उत्थापित "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है ।

व्याकरण—**निधीयसे** = नि + धा + लट् (कर्मवाक्य) । **दुराकर्षतया** = दुर + आं + कृष् + खल् = दुराकर्ष [तस्यभावः] + तल् + टाप् = दुराकर्षता (तृतीया एकवचन में) । **तदन्तकृत्** = तदन्त + कृ + क्विप्—तुक् । **दाहिना** = दह + णिनि (कर्त्ता में) । **विगीयसे** = वि + गै + लट् (कर्मवाच्य) ।

समास—वियोगभाजाम् = वियोगं भजन्ते इति वियोगभाजः तेषाम्। **कर्णिशरः** = कर्णः अस्ति अस्मिन् इति कर्णी (कर्ण + इनि), कर्णी चासौ शरः कर्णिशरः (कर्मधारय)। **दुराकर्षतया** = दुःखेन आक्रष्टुं योग्यः दुराकर्षः तस्य भावः दुराकर्षता तया। **तदन्तकृत्** = तेषां अन्तः तदन्तः (षष्ठी तत्पु०), तदन्तं करोतीति तदन्तकृत्। **मन्मथदेहदाहिना** = मन्मथस्य देहः मन्मथदेहः तं दग्धुं शीलमस्य इति मन्मथदेहदाहिना।

टिप्पणियाँ—स्मरेण = कामदेव के द्वारा। **वियोगभाजाम्** = वियोगियों अथवा विरहियों के। **हृदि** = हृदय में—हृदय के अन्दर। **कटुः** = तीक्ष्णः तेज। **कर्णिशरः** = नोंकदार काँटोवाला। केतकी के फूल में काँटे हुआ करते हैं—इसी कारण उसे नोंकदार बाण के रूप में कहा गया है। **निधीयसे** = रखे जाते हो। **दुराकर्षतया** = कठिनता के साथ खींचे जाने योग्य होने के कारण। **तदन्तकृत्** = उन विरहियों का अन्त कर देने में समर्थ। **मन्मथ-देहदाहिना** = कामदेव के शरीर को भस्म कर देने वाले (शिव जी) के द्वारा। **विगीयसे**=निन्दित किये जाते हो।

प्रसङ्ग—यथा पूर्वं।

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ।
स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥८०॥

म०—त्वदिति। तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्रसिद्धो मनोभवः कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः, 'पुमान् स्त्रिये' त्येकशेषः। दुर्यशांसि अपकीर्तयस्ताः पटाविति रूपकं तानि सीव्यति कण्टक-स्यूतं करोतीत्यर्थः। किञ्चेति चार्थः करपत्रमूर्त्तिभिः क्रकचाकारैः, 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रमि' त्यमरः। पत्रैस्तैर्वियोगिनां हृद्येव दारुणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङन्तात् लट्। दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणीति रूपकानुप्राणितेति सङ्करः ॥ ८० ॥

अन्वय—त्वदग्रसूचीसचिवः स मनोभवः कामिनोः दुर्यशःपटौ सीव्यति। च स्फुटं करपत्रमूर्तिभिः पत्रैः वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते।

संस्कृत-व्याख्या—त्वदग्रसूचीसचिवः=त्वत् अग्रमेव अग्रभागमेव (सूक्ष्म त्वात् तीक्ष्णत्वाच्च) सूची (तद्रूपः) सचिवः सहायः यस्य सः एतादृशः, सः= प्रसिद्धः, मनोभवः = कामदेवः, कामिनोः = कमिनी च कामी च कामिनौ तयोः स्त्रीपुंसयोः, दुर्यशःपटौ = दुर्यशांसि अपकीर्त्तयः ताः पटौ वस्त्रे, सीव्यति =

कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः । च = किञ्च इति चार्थः, स्फुटम् = स्पष्टम्, करपत्र-मूर्तिभिः = करपत्रवत् क्रकचवत् मूर्तिस्वरूपं येषां तैः, पत्रैः = पर्णैः, वियोगि-हृद्दारुणि = वियोगिनां विरहिणां हृद् एव दारु काष्ठं तस्मिन्, दारुणायते = दारुणः विदारकः भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते ।

हिन्दी-अनुवाद—त्वदग्रसूचीसचिवः = तुम्हारे अग्रभागरूपी सुई को [अपना] सहायक बनाकर, स मनोभवः = वह प्रसिद्ध कामदेव, कामिनोः = कामी और कामिनी के, दुर्यशः पटौ = अपयशरूपी दो वस्त्रों को, सीव्यति = सीता है । च = और, स्फुटम् = स्पष्ट ही (वह कामदेव तुम्हारे), करपत्र-मूर्तिभिः = आरे के सदृश आकार वाले, पत्रैः = पत्तों से (पंखुड़ियों से), वियोगिहृद्दारुणि = वियोगियों के हृदयरूपी लकड़ी को, दारुणायते = चीरता सा है ।

भावार्थ—हे केतकपुष्प ! तुम्हारे अग्रभाग (नोक) रूपी सुई की सहायता से वह कामदेव कामी स्त्री-पुरुषों के अपकीर्तिरूप वस्त्रों को सीता है और आरे के समान आकार वाले तुम्हारे पत्तों (पंखुड़ियों) से वियोगियों के हृदय रूपी लकड़ी पर आरे के सदृश ही दारुण व्यवहार भी करता है ।

केतकी के फूल को देखकर कामी पुरुषों एवं स्त्रियों का धैर्यभङ्ग हो जाया करता है जिसके परिणामस्वरूप वे अपयश के भागी भी हुआ करते हैं । आरे के सदृश आकार वाले केतकी-पुष्प की पंखड़ी को देखकर उनका हृदय आरे से चीरे जाते हुए के समान विदीर्ण हो जाया करता है ।

अलङ्कार—"हृद्दारुणि" में विद्यमान रूपक से अनुप्राणित "दारुणायते" पद में "उपमा" अलङ्कार है ।

व्याकरण—**दारुणायते** = दारुण + क्यङ् (कर्तुःक्यङ्सलोपश्च" से) [नाम धातु] तदनन्तर लट्लकार होकर ।

समास—**कामिनोः** = कामी च कामिनी च इति कामिनौ [पुमान्स्त्रिया" सूत्र से एक शेष हो जाने के पश्चात्] तयोः । **दुर्यशःपटौ** = दुर्यशो रूपौ पटौ इति दुर्यशःपटौ । **करपत्रमूर्तिभिः** = करपत्रं इव मूर्तिः येषां तानि (बहुव्रीहि), तैः । **वियोगिहृद्दारुणि** = वियोगिनां हृत् (षष्ठी तत्पु०) इति वियोगिहृत्, तदेव दारु इति वियोगहृद्दारु तस्मिन् । **दारुणायते** = दारुण इव आचरतीति दारुणायते ।

टिप्पणियाँ—**त्वदग्रसूचीसचिवः** = तुम्हारा अग्रभाग (नोक) रूपी सुई ही है सहायक अथवा सचिव जिसका (ऐसा कामदेव) । **मनोभवः** =

कामदेव। **कामिनीः** = कामी स्त्रियों और पुरुषों के। **दुर्यशःपटौ**—अपयश रूपी वस्त्रों को। **सीव्यति** = सीता है अथवा सिलता है। **स्फुटम्** = स्पष्टरूप में। **करपत्रमूर्तिभिः** = आरे के सदृश आकार वाले। यह "पत्रैः" का विशेषण है। **पत्रैः** = पत्तों अथवा पंखुड़ियों से। **वियोगिहृद्दारुणि** = वियोगियों के हृदयरूपी लकड़ी पर। **दारुणायते** = दारुण (विदारक) के सदृश आचरण करता है अथवा विदीर्ण करता है।

प्रसङ्ग—पूर्ववत्।

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजा परं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन कैतकम्॥८१॥

म०—धनुरिति। कैतक! प्रसूनं धन्वा धनुर्यस्येति प्रसूनधन्वा पुष्पचापः। 'वा संज्ञायामि'त्यनङादेशः। अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन् अत एव परागैः रजोभिः धूलिहस्तयन् पुनः पुनः धूल्युद्धावित-हस्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनुःस्रंसनादिति भावः, तत्करोतेर्ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः। अतिभीमजापरमतिमात्रं दमयन्त्यासक्तं मां शरसात् शराधीनङ्करोति, 'तदधीने च' इति सातिप्रत्ययः, अन्यथा स्रस्तचापः स मां किं कुर्यादिति भावः। इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति तेन राजा क्रुधा कैतकमाक्रुश्यत अपराधो-द्घाटने अघोष्यतेत्यर्थः॥ ८१॥

अन्वय—प्रसूनधन्वा धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि तव परागैः धूलिहस्तयन् भीमजापरं मां शरसात्करोति इति तेन क्रुधा कैतकं आक्रुश्यत।

संस्कृत-व्याख्या—प्रसूनधन्वा = पुष्पचापः कामः, धनुर्मधुस्विन्नकरः = धनुः पुष्पं तस्य मधुना रसेन स्विन्नः आर्द्रः करः हस्तः यस्य तादृशः, अपि [सन्], तव = ते, परागैः = रजोभिः, धूलिहस्तयन् = धूलियुक्तं आत्मानं हस्तं कुर्वन्, भीमजापरम् = दमयन्त्यासक्तम्, माम् = नलम्, शरसात् करोति= शराधीनं करोति; इति—इत्थम्, तेन = राज्ञा नलेन, क्रुधा = क्रोधेन, कैतकम् = केतकी पुष्पम्, आक्रुश्यत् = अनिन्द्यत॥

हिन्दी-अनुवाद—प्रसूनधन्वा = पुष्पनिर्मित धनुष वाला (कामदेव), धनुर्मधुस्विन्नकरः = पुष्पों के मधु से गीले हाथों वाला होकर, अपि = भी, तव = तुम्हारे, परागैः = परागों की धूलि से, धूलिहस्तयन् = हाथ को धूलियुक्त करके, भीमजापरम् = भीम की पुत्री दमयन्ती के प्रति आसक्त, माम् = मुझ नल को, शरसात्करोति = बाणों का लक्ष्य बनाता है। इति = इस प्रकार,

तेन = उस राजा नल के द्वारा, क्रुधा = क्रोध के साथ, कैतकम् = केतकी के फूल की, आक्रुश्यत = निन्दा की गयी।

भावार्थ—कामदेव धनुष (पुष्पों) के मधु से गीले हाथ वाला होकर तुम्हारे परागों से हाथ को धूलियुक्त करता हुआ दमयन्ती की ओर लगे हुये मेरे मन को अपने बाणों के अधीन कर रहा है, इस प्रकार के क्रोध के साथ उस नल ने केतकी के फूल की निन्दा की।

हे केतकी पुष्प ! फूलों से निर्मित धनुषवाला कामदेव पुष्पों के मधु से (कामदेव का धनुष पुष्पों से ही निर्मित हुआ करता है अत एव पुष्पों से निर्मित धनुष के मधु से) गीले हाथों वाला होकर तुम्हारे परागों की धूलि से यदि अपने हाथ को न सुखा पाता तो लक्ष्यभ्रष्ट होकर वह मुझे अपने बाणों से पीड़ित नहीं कर सकता था। अतएव मेरे कामदेव के बाण से पीड़ित होने में तुम्हीं मुख्य कारण हो। इस भाँति क्रोध के साथ कहते हुये राजा नल ने केतकी के फूल की निन्दा की।

धनुष का धारण करने वाला व्यक्ति जब अधिक देर तक अपने हाथ में धनुष धारण किये रहा करता है तब उसका हाथ पसीजने लगा करता है। अतः वह अपने हाथ में धूलि लगाकर उसे सूखा कर लिया करता है। ऐसा करने पर ही वह लक्ष्य को ठीक रूप में वेध पाया करता है।

व्याकरण—**धूलिहस्तयन्** = धूलिहस्त + णिच् + शतृ (नामधातु)। **शरसात्करोति** = शराधीनं करोति—इत्यर्थे-शर + साति ("तदधीनवचने" से) + कृ। **आक्रुश्यत** = आ + क्रुश + लङ् (कर्म में)।

समासः—**प्रसूनधन्वा** = प्रसूनं धनुः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **धनुर्मधुस्विन्नकरः** = धनुषः मधु (तत्पुरुष) धनुर्मधु, तेन स्विन्नः करः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **धूलिहस्तयन्** = धूलिना युक्तः हस्तः धूलिहस्तः तम् कुर्वन्।

टिप्पणियाँ—**प्रसूनधन्वा** = फूलों का (बना हुआ) धनुष है जिसका। **धनुर्मधुस्विन्नकरः** = धनुष के मकरन्द (पराग) से जिसका हाथ गीला है ऐसा। कामदेव का धनुष फूलों से निर्मित कहा जाता है। **धूलिहस्तयन्** = हाथ को धूलि से युक्त करते हुये अर्थात् फूलों के पराग से अपने हाथ को मलकर। गीले हाथ से धनुष फिसल अथवा गिर न जाय इस दृष्टि से हाथ में धूलि लगाते हुये। **भीमजापरम्** = राजाभीम की पुत्री में आसक्त—अर्थात् दमयन्ती की ओर लगा हुआ। **शरसात्करोति** = बाण के आधीन

करता है अर्थात् बाण का निशाना बनाता है। क्रुधा = क्रोध के साथ। आक्रुश्यत = निन्दा की।

प्रसङ्ग—राजा नल ने तपस्या-रत अनार के वृक्ष को देखा—

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥८२॥

म०—विदर्भेति। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ॥' इति शब्दार्णवे। दोहदश्चासौ धूपश्च तदुक्तं 'मेषामिषाम्बुसंसेकस्तत्केशामिषधूपनम्। श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाडिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मांसै राजाविकोद्भवैः। लेपिता धूपिता सूते फलन्तालीव दाडिमी ॥ अविक्वाथेन संसिक्ता धूपिता तत्सरोमभिः। फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च ॥' इति। तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः स्तनयोर्या तुङ्गता तदाप्तये तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः। अलमत्यर्थन्तपस्यतस्तपश्चरतः, 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोरि'ति क्यङ्प्रत्यये तपसः परस्मैपदञ्च वक्तव्यं, धूमस्य दोहदधूमस्य धयन्तीति धयान्, पातॄन्, धेट्-पाने अत्र 'आतश्चोपसर्गे' इति उपसर्गग्रहणान्नानुवर्त्ति-पक्षत्वात् 'पाघ्रे'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः। अत एव काशिकायां केचिदुपसर्ग इति नानुवर्त्तयन्तीति। अधोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा। महाफलार्थिन इत्थमुग्रं तपस्यन्तीति भावः॥ ८२ ॥

अन्वय—सः दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये अलं तपस्यतः धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटान् इव फलानि अपश्यत्।

संस्कृत-व्याख्या—सः = राजा नलः, दोहदधूपिनि = अत्यधिकफलादिसमृद्धिः येन भवति तद् दोहदम्—तदेव धूपः सः अस्य अस्तीति तस्मिन् अथवा दोहदश्चासौ धूपश्च—तद्वति, दाडिमे, द्रुमे=वृक्षे, विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये= विदर्भसुभ्रुवोः दमयन्त्याः स्तनयोः या तुङ्गता औन्नत्यं तदाप्तये तल्लाभाय—तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः, अलम् = अत्यर्थम्, तपश्चरतः, धूमस्य = दोहदधूमस्य, धयान्=धयन्तीति धयान् पातॄन्, अधोमुखान् = नीचैर्मुखान्, घटान इव = कुम्भान् इव, अपश्यत्।

हिन्दी-अनुवाद—सः = उस राजा नल ने, दोहदधूपिनि = दोहद के रूप में दिये जाने वाले धूप से युक्त-अथवा दोहद तथा धूप से युक्त, दाडिमे द्रुमे = अनार के वृक्ष पर, विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये—विदर्भ-देश की सुन्दरी

दमयन्ती के स्तनों की ऊँचाई को प्राप्त करने के लिये, अलं तपस्यतः = अतिशय तप करते हुये, धूमस्य धयान्=धुयें का पान करने वाले, अधोमुखान्= नीचे की ओर मुखों वाले, घटान इव = घटों के सदृश, फलानि = फलों को, अपश्यत् = देखा।

भावार्थ—उस राजा नल ने दोहद धूप से युक्त अनार के वृक्ष पर दमयन्ती के स्तनों की ऊँचाई के सदृश ऊँचाई को प्राप्त करने के लिये अधोमुख हो धूम का पान करने वाले, तप करते हुये घड़ों के सदृश फलों को भलीभाँति देखा।

दमयन्ती के स्तन उन्नत तथा विशाल थे। घटाकार अनार के फल भी उसी प्रकार की ऊँचाई और विशालता प्राप्त कर लेना चाहते थे। अतएव वे दोहदधूपयुक्त अनार के वृक्ष पर अधोमुख हो लटकते हुये ऐसे प्रतीत होते थे मानों वे दमयन्ती के स्तनों सदृश बड़े होने के लिये अधोमुख हो अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे हों—ऐसे उन अनार के फलों को राजा नल ने देखा।

कवि ने यहाँ यह कल्पना की है कि मानों अनार के फल ही घट थे। फलों की वृद्धि के निमित्त, अनार के वृक्षों को दोहद क्रिया द्वारा सींचा गया था और धूप दी गयी थी [वृक्ष में अच्छे फल लगने के लिये नानाप्रकार के द्रव्यों द्वारा पेड़ के नीचे दिये गये धूम को "दोहद" कहते हैं और सुगन्धित पदार्थों को जलाकर उनका धुँआ देना "धूप" कहलाता है।]। इसी आधार पर कवि द्वारा यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि मानो वे अनार के फल दमयन्ती के स्तनों के समान विशाल होने के लिये नीचे की ओर मुख करके धूमपान जैसी कठोर तपस्या कर रहे थे।

अलङ्कार—इस श्लोक में "उत्प्रेक्षा" नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—तपस्यतः = तपस् + क्यङ् (नामधातु)—तपस्य + शतृ— तपस्यन् (षष्ठी एकवचन में)। **धयान्** = धे + श ("प्राघ्राध्माधेड्दृशः शः" सूत्र से)।

समास—विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये = विदर्भस्य सुभ्रूः, तस्याः स्तनौ, तयोः तुङ्गता, तस्याः आप्तिः तस्यै। **दोहदधूपिनि** = दोहदश्चासौधूपश्च इति— तस्मिन्। अथवा दोहदमेव धूपः स अस्यास्तीति—तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—दोहदधूपिनि = दोहद और धूम से युक्त अथवा दोहद के धूम से युक्त। असमय में वृक्षों में फल-फूल लगने के निमित्त जो क्रिया की

जाती है अथवा द्रव्य दिया जाता है उसी का नाम "दोहद" है—"तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ॥ इति शब्दार्णवः ॥" दोहद सम्बन्धी द्रव्यों के अन्तर्गत धूप का धुँआ भी है जिसे अनार के पेड़ के लिये उपयुक्त कहा गया है—मेषामिषाम्बुलसेकस्तत्केशामिषधूपनम् । श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाडिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मांसैराजाविकोद्भवैः । लेपिता धूपिता सूते फलन्तालीव दाडिमी ॥ आविकाथेन संलिप्ता धूपिता तप्तरोमभिः । फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च ॥ **दाडिमे द्रुमे** = अनार के वृक्ष पर । **विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये** = विदर्भदेश की सुन्दरी "दमयन्ती" के स्तनों जैसी ऊँचाई (अथवा विशालता) को प्राप्त करने के लिये । **अलम्** = अत्यधिक—"अलंभूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्"—इत्यमरः । **तपस्यतः** = तप करते हुये । **धयान्** = पान करने वाले । कहने का अभिप्राय यह है कि जो महान् फल के इच्छुक हुआ करते हैं वे धूम आदि का पान करके उग्र तप किया करते हैं । इसी आधार पर यहाँ कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि मानों अनार के फल दमयन्ती के स्तनों की ऊँचाई पाने के निमित्त अपने दोहदसम्बन्धी धुँये का पानकर तप कर रहे हैं ।

प्रसङ्ग—राजा नल ने उस दाडिमी-वृक्ष को वियोगिनी के रूप में देखा—

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥८३॥

म०—वियोगिनीमिति । असौ नलः प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव स्पष्टं व्यक्तमुदीतेति ई गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः । उदीता उद्गताः कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम् । 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टके' इति वैजयन्ती । फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागि रक्तवर्णमनुरक्तञ्च यत्तस्मिन् हृदि विशत् बीजभक्षणान्तःप्रविशच्छुकास्यरूपं शुकतुण्डमेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेवाशुगो बाणो यस्यास्तां दाडिमीमेव वियोगिनीं विरहिणीमैक्षत अपश्यत् । रूपकालङ्कारः । विः पक्षी तद्योगिनीमिति च गम्यते ॥ ८३ ॥

अन्वय—असौ प्रियस्मृतेः स्पष्टं उदीतकण्टकां फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगां दाडिमीं वियोगिनीं ऐक्षत ।

संस्कृत-व्याख्या—असौ—नलः, प्रियस्मृतेः = दोहदादिस्मरणात् (लक्षणया) हेतोः [नायिकापक्षे—प्रियतमस्मरणात्] स्पष्टम् = व्यक्तम्, उदीत-

कण्टकाम् = उदीताः उद्गताः कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्या स्ताम् [नायिकापक्षे-रोमाञ्चिताङ्गीम्], फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् = फलानि एव स्तनौ तत्र स्थाने विदीर्णं उद्घटितं [नायिकापक्षे-भग्नं] च तद् रागि (रागो यस्यास्तीति) रक्तवर्णं [नायिकापक्षे—अनुरागवत्] यद् हृद् आभ्यन्तर भागः [नायिकापक्षे—हृदयम्] तस्मिन् विशत् वीजभक्षणान्तः प्रविशत् यत् शुकस्य आस्यं शुकतुण्डं तदेव स्मरस्य कामस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेव आशुगः बाणः यस्याः ताम्, दाडिमीम्, वियोगिनीम् = विभिः पक्षिभिः शुकादिभिः योगोऽस्याः अस्तीति तादृशीम् [नायिकापक्षे विरहिणीम्], ऐक्षत = अपश्यत् ।

हिन्दी-अनुवाद—असौ = उस (राजा नल) ने, प्रियस्मृतेः = प्रिय (दोहद) के (लक्षणाद्वारा—प्राप्ति के) कारण, (नायिका पक्ष में—प्रियतम के स्मरण के कारण), स्पष्टम्=स्पष्टरूप से, उदीतकण्टकाम्=निकले हुये काँटों से युक्त (नायिका पक्ष में—रोमाञ्चों से युक्त), और, फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मर किंशुकाशुगाम् = स्तनों के समान फलों के मध्य में फटे हुये तथा अन्दर के लाल-लाल भाग में प्रवेश करते हुये शुक-मुख रूपी कामदेव के पलाश पुष्प रूपी बाणों से युक्त (नायिका-पक्ष में—अनार के सदृश स्तनों के मध्यभाग में [विरह के कारण] विदीर्ण तथा अनुराग पूर्ण हृदय में प्रविष्ट होते हुए शुक-मुख सदृश कामदेव के पलाशपुष्प रूप बाणों से युक्त दाडिमीम् = दाडिमी [अनार के वृक्ष] को, वियोगिनीम् = पक्षियों से युक्त [नायिका पक्ष में-विरहिणी के रूप में], ऐक्षत = देखा ।

भावार्थ—राजा नल ने दाडिमी [अनार] के उस वृक्ष को, जिसे प्रिय की स्मृति के कारण स्पष्ट रूप से काँटे रूपी रोमाञ्च हो रहे थे और जिसके फलरूपी स्तनों के स्थान पर फटे हुये तथा रक्तवर्ण के आन्तरिक भागरूपी अनुरागी हृदय में तोते के मुखरूपी कामदेव का पलाश (ढाक) पुष्प रूपी बाण प्रवेश किये हुये था, विरहिणी के रूप में देखा ।

अलङ्कार—इस श्लोक में "श्लेष" की सहायता से पक्षियों से युक्त दाडिमी (अनार-वृक्ष) का वियोगिनी के रूप में वर्णन किया गया है, अतः "श्लेष" अलङ्कार है । इसके अतिरिक्त अनार वृक्ष के काँटों में रोमाञ्च का आरोप किया गया है । फलस्तनस्थान···इत्यादि में इसी प्रकार की स्थिति है । अतः "रूपक" अलङ्कार है ।

व्याकरण—उदीत = उत् + ई + क्त । **वियोगिनीम्** = वि + युज् + घिनुण और तदनन्तर "ङीप्" होकर । **ऐक्षत** = ईक्ष् + लङ्—लकार [प्रथम-पुरुष-एकवचन] ।

समास—**उदीतकण्टकाम्** = उदीताः उद्गताः कण्टकाः यस्यास्ताम् । **फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम्** = फलानि एव स्तनौ तत्र स्थाने विदीर्णं [(१) उद्घटितम् (२) भग्नम्] तस्मिन् विशत् यत् शुकस्य आस्यं तदेव स्मरस्य [कामस्य] किंशुकं [पलाश पुष्पम्] एव आशुगः (बाणः) यस्याः ताम् । **वियोगिनीम्** = वीनां पक्षिणां योगिनीम् ।

टिप्पणियाँ—**प्रियस्मृतेः** = प्रिय [दोहद] के स्मरण [प्राप्ति] के कारण अथवा प्रियतम के स्मरण के कारण । **उदीतकण्टकाम्** = उग आये (उत्पन्न हुये) काँटों से युक्त, पक्षान्तर में—रोमाञ्चयुक्त—"वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टके" इति वैजयन्ती । **दाडिमीम्** = अनार [दाडिम का ही स्त्रीलिङ्ग में दाडिमी बना है । जातिवाचक शब्द होने के कारण यहाँ स्त्रीलिङ्ग में "ङीप्" हुआ है । **वियोगिनीम्** = विरहिणी को । **ऐक्षत** = देखा ।

प्रसङ्ग—राजा नल ने अर्द्धचन्द्राकार बाण के सदृश पलाश के पुष्प पर लगे डंठल को यकृत के खण्ड के रूप में देखा—

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटे पलाशेऽध्वजुषाम्पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

म०—स्मरार्द्धेति । नलः स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः, अत आहामरः-'स्युरुत्तरपदे त्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इति । वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि क्रशीयसांकृशतराणामध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशसंज्ञाभाजि किंशुककलिकायामित्यर्थः । अन्वितं सम्बद्धं वृन्तं प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । आलोकत आलोकितवान् । 'कालखडं यकृत्समे' इत्यमरः । तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेषः ॥ ८४ ॥

अन्वय—सः स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि क्रशीयसां अध्वजुषां पलाशनात् स्फुटं पलाशे अन्वितं वृन्तं कालखण्डजं खण्डं आलोकत ।

संस्कृत-व्याख्या—सः = नलः, स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे=स्मरस्य कामस्य यः अर्धचन्द्र अर्धचन्द्राकारः इषुः बाणः तन्निभे तत्सदृशे, वियोगिहृत्खण्डिनि = वियोगिनां हृदयवेधिनि, क्रशीयसाम् = कृशतराणाम्, अध्वजुषाम्=पथिकानाम्, पलाशनात् = मांसभक्षणात्, स्फुटम् = प्रकटमेव, पलाशे = पलं अश्नातीति अन्वर्थसंज्ञके किंशुके किंशुककलिकायामित्यर्थः, अन्वितम् = सम्बद्धम्, वृन्तम्= प्रसवबन्धनम्, कालखण्डजम्=कालखण्डादुत्पन्नम्, खण्डम् = यकृत्खण्डम्, इव, आलोकत = आलोकितवान् ।

हिन्दी-अनुवाद—सः = उस राजा नल ने, स्मरार्द्धचन्द्रेपुनिभे = कामदेव के अर्धचन्द्राकार बाण के सदृश, वियोगिहृत्खण्डिनि = वियोगियों के हृदय को खण्ड-खण्ड कर देने वाले, क्रशीयसाम् = अत्यन्त निर्बल, अध्वजुषाम् = पथिकों का, पलाशनात् = मांस खाने के कारण, स्फुटम् = स्पष्ट ही, पलाशे = पलाश (पल = मांस, अश = भक्षण—इस प्रकार के अर्थ से सार्थक) पुष्प में, अन्वितम् = संलग्न (युक्त), वृन्तम् = डंठल को, कालखण्डजम् = यकृत (जिगर) के, खण्डम् = खण्ड अथवा टुकड़े के रूप में, आलोकत = देखा ।

भावार्थ—पलाश (ढाक) के फूल की पंखुड़ियाँ रक्तवर्ण के सदृश हुआ करती हैं और उसका पिछला भाग डंठल काला २ होता है। अतः कवि द्वारा इस स्थल पर यह कल्पना की गयी है कि वियोगी पथिकों का मांस खाने से उसका ("पलम् मांसम् अश्नाति" इस व्युत्पत्ति से) 'पलाश' नाम सार्थक है और कृष्णरंग के वृन्त (डंठल) के रूप में पथिकों के जिगर का टुकड़ा (यकृत्-भाग) उससे संलग्नहो गया है । इस प्रकार के अर्द्धचन्द्राकार बाण के समान पलाश के पुष्प के साथ संलग्न वृन्त (डंठल) को राजा नल ने यकृत-खण्ड के रूप में देखा ।

अलङ्कार—इस श्लोक में "व्यस्तरूपक" अलङ्कार है ।

व्याकरण—**क्रशीयसाम्** = कृश + ईयसुन्—यहाँ "र ऋतो हलादेर्लघोः" सूत्र से कृश के "ऋ" के स्थान पर 'र' हो जाने पर उक्त शब्द बनता है । **अध्वजुषाम्** = अध्वन् + जुष् + क्विप् । **अन्वितम्** = अनु + इ + क्त । **अलोकत** = आ + लोक् + लङ् ।

समास—**स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे** = अर्द्धचन्द्रः इषुः (कर्मधारय), स्मरस्य अर्धचन्द्रेषुः (तत्पुरुष), तेन निभः, तस्मिन् । **वियोगिहृत्खण्डिनि** = वियोगिनांहृत् (षष्ठी तत्पु०), तत् खण्डितुं शीलमस्य इति । **अध्वजुषाम्** =

अध्वानं जुषन्ते इति अध्वजुषः तेषाम्। **पलाशनात्** = पलस्य (मांसस्य) अशनात् (भक्षणात्)।

टिप्पणियाँ—स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे = कामदेव के अर्धचन्द्राकार बाण के सदृश। "निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः" इत्यमरः। **वियोगिहृत्खण्डिनि** = वियोगियों के हृदय को विदीर्ण कर देने वाले। **क्रशीयसाम्** = अत्यन्त क्षीण (दुर्बल)। **अध्वजुषाम्** = राहगीरों (पथिकों) के। **पलाशनात्** = मांस के खाने से। **पलाशे** = पलाश (ढाक) के फूल में। **अन्वितम्** = युक्त (संलग्न)। **वृन्तम्** = फल अथवा फूल के डंठल को वृन्त कहा जाता है। "वृन्तं प्रसवबन्धनम्" इत्यमरः। **कालखण्डजम्** = यकृत के—"कालखण्डं यकृत्समे" इत्यमरः। **अलोकत** = देखा।

प्रसङ्ग—राजा नल ने लता को भय तथा आदर भरी दृष्टि से देखा—

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥८५॥

म०—नवेति। गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा वीक्षिता मकरन्दशीकरैः पुष्परसकणैः करम्बिताङ्गी व्यामिश्रितरूपा अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते। स्मितशोभिनः विकासरम्याः कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्यास्तां मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते। दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नवा लता वल्ली तत्सदृशी कान्ता च गम्यते। नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भयतृष्णाभ्यामुपलक्षितेन सता पपे अवेक्षिता गाढं दृष्टा इत्यर्थः: उद्दीपकत्वात् दरः प्रियासादृश्यादादरश्च। 'दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्त्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती। अत्रप्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। 'विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात्। अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यते' 'इति लक्षणात्॥

अन्वय—गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरैः करम्बिताङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दरकम्पिनी नवा लता नृपेण दरादराभ्यां दृशा पपे।

संस्कृत-व्याख्या—गन्धवहेन = वायुना, चुम्बिता = स्पृष्टा, मकरन्दशीकरैः = पुष्परसकणैः, करम्बिताङ्गी = व्यामिश्रितरूपा, स्मितशोभिकुड्मला = स्मितशोभिनः विकासरम्याः कुड्मलाः मुकुलाः यस्याः सा, दरकम्पिनी = वायुस्पर्शात् ईषत्कम्पिनी, नवा = नूतना, लता = वल्ली, नृपेण = राजा नलेन, दरादराभ्याम् = भयतृष्णाभ्याम् [युक्तेन], दृशा = नेत्रेण, पपे = पीता गाढं

दृष्टा इत्यर्थः । [नायिकापक्षे—गन्धवहेन = कस्तूर्यादिगन्धयुक्तेन नायकेन], चुम्बिता = आश्लिष्टा, मकरन्दशीकरैः, करम्बिताङ्गी = स्विन्नाङ्गी, स्मितशोभिकुड्मला=मन्दहासमधुरदन्तमुकुला, दरकम्पिनी = सात्विकवेपथुमती, नवा = नूतना लता = लतासदृशी, दरादराभ्याम् = दरः [परस्त्रीत्वात्] भयं आदरः (सौन्दर्यात्) सम्मानः ताभ्यां युक्तेन केनचित् दृश्यते ।

हिन्दी-अनुवाद—गन्धवहेन = वायुद्वारा, चुम्बिता = स्पर्श की गयी हुयी, मकरन्दशीकरैः = पुष्प रस के कणों (बूँदों) से, करम्बिताङ्गी = मिश्रित अथवा शवलित अङ्गों वाली, स्मितशोभिकुड्मला = विकसित होने के कारण शोभायमान कलियों से युक्त, दरकम्पिनी = [वायु के स्पर्श के कारण] मन्दगति से हिलने डुलने वाली, नवालता = नयी लता को, नृपेण = राजा नल ने, दरादराभ्याम् = भय तथा आदर पूर्ण, दृशा = नेत्रों से, पपे = पान किया । [नायिकापक्ष में—गन्धवहेन = कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्यों की गन्ध से युक्त, [नायक द्वारा] चुम्बिता = चुम्बन की गयी हुयी, मकरन्दशीकरैः = पुष्प रस की बूँदों से, करम्बिताङ्गी = मिश्रित अङ्गों वाली अथवा रोमाञ्चयुक्त शरीरवाली, स्मितशोभिकुड्मला = मुस्कराहट की शोभा से युक्त दाँतों वाली, दरकम्पिनी = [सात्विक भाव से उत्पन्न] होने वाले कम्पन से युक्त, नवा लता = नवीन लता के समान सुन्दरी नायिका को [किसी अन्य की स्त्री होने के कारण] भय तथा [सौन्दर्य युक्त होने के कारण] आदर से परिपूर्ण, दृशा = नेत्रों से किसी नायक ने पान किया अर्थात् देखा ।

भावार्थ—वायु के द्वारा स्पर्श की गयी हुयी, पुष्प रस की बूँदों से युक्त अङ्गो वाली, विकसित होने के कारण शोभायुक्त पुष्प से युक्त, मन्दगति से हिलती-डुलती हुयी नवीन लता को राजा ने भय एवं आदर भरी दृष्टि के साथ देखा । उस लता का देखा जाना राजा के लिये उद्दीपक था अतः वह उसे भय के साथ देख रहे थे। और वह लता सुन्दर थी अतः आदर भरी दृष्टि से भी राजा उसका अवलोकन कर रहे थे ।

अलङ्कार—उपर्युक्त श्लोक में प्रस्तुत लता-सम्बन्धी विशेषणों की समानता के आधार पर अप्रस्तुत नायिका की प्रतीति हो रही है । अतः इसमें "समासोक्ति" अलङ्कार है । लक्षण—"विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात् । अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यते ।।"

व्याकरण—स्मितशोभि = स्मित + शोभ् + णिनि । कम्पिनी = कम्प + णिनि + ङीप् ।

समास—गन्धवहेन = वहतीति वहः, गन्धस्य वहः (षष्ठी तत्पु०), तेन। **करम्बिताङ्गी** = करम्बितानि अङ्गानि यस्याः सा (बहुव्रीहि) यहाँ "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यस्त्विष्यते" से ङीष्। **स्मितशोभिकुड्मला** = स्मितेन शोभन्ते इति स्मितशोभिनः, तादृशाः कुड्मलाः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **दरकम्पिनी** = दरम् ईषत् यथा स्यात् तथा कम्पते इति। **दरादराभ्याम्** = दरश्च आदरश्च इति दरादरौ (द्वन्द्व), ताभ्याम्।

टिप्पणियाँ—गन्धवहेन = (१) वायु से (२) सुगन्धित द्रव्यों से युक्त व्यक्ति से। **चुम्बिता** = (१) स्पर्श की गयी हुयी (२) आलिङ्गित। **मकरन्दशीकरैः** = (१) पुष्परस की बूँदों से (२) पुष्परस के सदृश (पसीने की) बूँदों से। **करम्बिताङ्गी** = (१) मिश्रित अंगो वाली (२) रोमाञ्चित शरीर वाली। **स्मितशोभिकुड्मला** = (१) मुस्कराहट की शोभा से युक्त (२) मुस्कराहट पूर्ण शोभाशाली दाँतों से युक्त। **दरकम्पिनी** = (१) वायु के स्पर्श के कारण कंपन से युक्त। **दरादराभ्याम्** = भय और आदर से युक्त। **दृशा** = नेत्र से (दृष्टि से)। **पपे** = पान किया, भलीभाँति देखा।

प्रसङ्ग—उस राजा ने चम्पा की कलियों की पंक्तियों को देखा—

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥ ८६ ॥

म०—विचिन्वतीरिति। पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्थाः नित्यपथिकाः, 'पथोऽण् नित्यमि'त्यणप्रत्ययः पन्थादेशश्च। स एव पतङ्गाः पक्षिणः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः। तेषां हिंसनैः वधैः अपुण्यकर्माण्येव अलयः कज्जलानी-वेत्युपमितसमासः। तेषां छलादित्यपह्नवालङ्कारः। विचिन्वतीः संगृह्णतीः हिंसापापकारिणीरित्यर्थः। चम्पककोरकावलीः शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स नलो व्यलोकयत्॥ ८६ ॥

अन्वय—स पान्थपतङ्गहिंसनैः अलिकज्जलच्छलात् अपुण्यकर्माणि विचि-न्वतीः शम्बरारेः बलिदीपिका इव चम्पककोरकावलीः व्यलोकयत्।

संस्कृत-व्याख्या—सः = नलः, पान्थपतङ्गहिंसनैः = पान्थाः पथिकाः एव पतङ्गाः शलभाः तेषां हिंसनैः वधैः, अलिकज्जलच्छलात् = अलयः भ्रमराः एव कज्जलं तस्य छलात् व्याजात्, अपुण्यकर्माणि = पापकर्माणि, विचिन्वतीः = संगृह्णतीः हिंसापापकारिणीरित्यर्थः, शम्बरारेः = कामदेवस्य, बलिदीपिका इव = पूजादीपिका इव, चम्पककोरकावलीः = चम्पककुड्मलपंक्तीः, व्यलोकयत् = ददर्श।

हिन्दी अनुवाद—सः = उस राजा नल ने, पान्थपतङ्गहिंसनैः = पथिक-रूपी पतङ्गों की हिंसा करने के कारण, अलिकज्जलच्छलात् = कज्जल सदृश कृष्णवर्ण के भ्रमरों के बहाने से, अपुण्यकर्माणि = पापकर्मों का, विचिन्वतीः = संचय करने वाली, शम्बरारेः = कामदेव के, बलिदीपिका इव = पूआदीपों के समान, चम्पककोरकावलीः = चम्पा की कलियों की पंक्तियों को, व्यलोकयत् = देखा।

भावार्थ—चम्पा की कलियाँ कामोद्दीपक हुआ करती हैं उन्हें देखकर विरही पथिक उसी प्रकार मर जाते थे जिस प्रकार दीपक की लौ पर पतङ्गे मर जाया करते हैं। पथिकों के मरने से जो पाप अथवा अयश उन चम्पा की कलियों को प्राप्त हो रहा था, वही पाप अथवा अयश ही चम्पक पुष्पों के ऊपर बैठे हुये भ्रमरों के रूप में काला २ दृष्टिगोचर हो रहा था [पाप अथवा अयश का रंग काला माना गया है।] ऐसे चम्पकपुष्पों को राजा नल ने कामदेव के लिये की गयी पूजा के दीपकों की [पीतवर्ण की] लौ के समान देखा। दीपक की पीतवर्ण की लौ के सदृश ही चम्पा की कलियाँ भी पीली पीली होती हैं।

अलङ्कार—"अलिकज्जलच्छलात्" में "रूपक" अलङ्कार है। "शम्बरारेः बलिदीपिका इव" में उपमा अलङ्कार है। इसमें "उत्प्रेक्षा" अलंकार की संभावना भी की जा सकती है।

व्याकरण—पान्थाः = पन्थानं गच्छन्ति नित्यम् इति पान्थाः=पथिन् + ण—"पन्थो ण नित्यम्" से। **विचिन्वतीः** = वि + चि + लट्—शतृ + ङीप् = विचिन्वत्यः, ताः।

समास—पान्थपतङ्गहिंसनैः = पान्थाः एव पतङ्गाः (कर्मधारय) तेषां हिंसनानि तैः (षष्ठी तत्पुरुष)। **अलिकज्जलच्छलात्** = अलयः एव कज्जलम् तेषां छलम् तस्मात्। **बलिदीपिकाः** = बल्यै दीपिकाः (चतुर्थी तत्पु०) ताः। **चम्पककोरकावलीः** = चम्पकानां कोरकाणि इति चम्पककोरकाणि तेषां अवलयः, (षष्ठी तत्पु०) ताः।

टिप्पणियाँ—पान्थपतङ्गहिंसनैः = पथिक (राहगीर) रूपी पतंगों की हत्या से। **अलिकज्जलच्छात्** = भ्रमर रूपी काजल के बहाने से। **अपुण्यकर्माणि** = पाप कर्मों को। **विचिन्वतीः** = संग्रह करती हुयी। **शम्बरारेः** = शम्बर नामक असुर के शत्रु अर्थात् कामदेव की। **बलिदीपिकाः** =

बलि (पूजा) के निमित्त रखे गये दीपकों को। **चम्पककोरकावलीः** = चम्पा की कलियों की पंक्तियों को। **व्यलोकयत्** = देखा।

प्रसङ्ग—राजा नल ने पुष्पों के पराग को शिव जी के शरीर पर लगी हुयी भस्म समझा—

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

म०—अमन्यतेति। असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं वियोगिनामिति कर्मणि षष्ठी। अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणं 'आढ्यसुभगे' त्यादिना च्व्यर्थे ख्युनूप्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः। तं परागं पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं संसक्तं तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म तदिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिनः कुसुमेषव इत्यभिमानः, अन्यथैषां तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

अन्वय—असौ कुसुमेषु गर्भजं वियोगिनां अन्धङ्करणं पुरा स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं तदङ्गभस्म इव अमन्यत।

संस्कृत-व्याख्या—असौ = नलः, कुसुमेषु = पुष्पेषु, गर्भजम्=आन्तरप्रदेशगतम्, वियोगिनाम् = विरहिणाम्, अन्धङ्करणम् = नेत्रोपघातकम्, परागम् = कुसुमधूलिः, पुरा=पूर्वम्, स्मरेण = कामेन, पुरारये = पुरहराय, मुक्तेषु = क्षिप्तेषु, शरेषु = बाणेषु, सङ्गतम् = लग्नम्, तदङ्गभस्म = तस्य शिवस्य अङ्गे यद् भस्म तत्, इव, अमन्यत = अतर्कयत्।

हिन्दी-अनुवाद—असौ = इस (राजा) नल ने, कुसुमेषु = पुष्पों में गर्भजम् = अन्दर स्थित, वियोगिनाम् = विरहियों को, अन्धङ्करणम् = अन्धा बनाने वाले, परागम् = पराग को, पुरा = पूर्वकाल में, स्मरेण = कामदेव द्वारा, पुरारये = शिव जी पर, मुक्तेषु = छोड़े गये, शरेषु = बाणों में, संगतम् = लगी हुयी, तदङ्गभस्म इव = शिवजी के शरीर की भस्म, अमन्यत = माना।

भावार्थ—इस राजा नल ने पुष्पों के मध्य विद्यमान, वियोगियों को अन्धा कर देने वाले पराग को पूर्वकाल में कामदेव द्वारा शिव जी पर छोड़े गये पुष्पनिर्मित बाणों में लगी हुयी शिवजी के शरीर की भस्म ही समझा। भस्म अथवा धूलि जब आँख में गिर जाती है तब वह प्राणियों को अन्धा बना देती है। पुष्प परागों का दर्शन कर विरही व्यक्ति काम पीड़ित होकर अन्धे (विवेकशून्य) हो जाया करते हैं।

अलङ्कार—"तदङ्गभस्म इव" में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। फूलों के पराग में शिवजी के शरीर पर लगी हुयी भस्म की संभावना की गयी है।

व्याकरण—**वियोगिनाम्** = यहाँ पर "कर्तृकर्मणोः कृति" सूत्र से कर्म में षष्ठी विभक्ति हुयी है। **अन्धङ्करणम्** = अन्ध + कृ + ख्युन्। **पुरा**—यह अव्यय है—"स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा"—इत्यमरः।

समास—**अन्धङ्करणम्**=अनन्धाः अन्धाः क्रियन्तेऽनेन इति अन्धङ्करणम्।

टिप्पणियाँ—**गर्भजम्** = (पुष्पों के) अन्दर उत्पन्न। **वियोगिनाम्** = वियोगियों अथवा विरहियों के। **अन्धङ्करणम्** = अन्धा बना देने वाला। **पुरा** = पहले, पूर्वकाल में। **पुरारये** = शिवजी पर। **सङ्गतम्** = लगी हुयी, संलग्न। **तदङ्गभस्म** = उन शिवजी के शरीर पर लगी हुयी भस्म।

प्रसङ्ग—उद्यान में कोयल मधुर शब्द कर रही है। भ्रमर भी पुष्पों पर बैठकर गुञ्जन कर रहे हैं। पुष्प विकसित हो रहे हैं। स्थल कमलिनी पृथक ही खिल रही है। इन सभी को देखकर राजा नल की विरह-व्यथा और भी अधिक उनको सन्तप्त कर रही थी—

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः॥ ८८॥

म०—पिकादिति। वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वियोगिनां दशामलिहुङ्कारकृतां दुःखावस्थामित्यर्थः उदञ्चत्करुणं विकसद् वृक्षविशेषमुद्यत्कृपञ्च यथा तथा शृण्वति सति, 'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मते'ति विश्वः। अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं पुष्परूपहस्तविस्तारिणीं तथोक्तामनिष्टकथां करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः। सूनकरेति प्रसारिणीमितिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम्। स्थलपद्मीनीं नलो दूनः परितप्तः सन् दूङः कर्त्तरि क्तः, 'ल्वादिभ्यश्चे'ति निष्ठानत्वम्। ददर्श॥ ८८॥

अन्वय—वने पिकाद् भृङ्गहुङ्कृतैः वियोगिनां दशां उदञ्चत् करुणं [यथास्यात्तथा] शृण्वति अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीं नलः दूनः [सन्] ददर्श।

संस्कृत-व्याख्या—वने = उपवने, पिकाद् = कोकिलात्, भृङ्गहुङ्कृतैः = भ्रमराणां हुंकारैः, वियोगिनाम् = विरहिणाम्, दशाम् = दुःखावस्थाम्, उदञ्चत् करुणम् = विकसद्वृक्षविशेषमुद्यत्कृपञ्च, यथा स्यात्तथा, शृण्वति = आकर्णयति,

सति, अनास्थया = श्रोतुमनिच्छया, सूनकरप्रसारिणीम् = पुष्परूपहस्तविस्तारिणीम् तथोक्तामनिष्टकथां करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः, स्थलपद्मिनीम्=भूकमलिनीम्, नलः, दूनः = संतप्तः, सन् , ददर्श = अवलोकितवान् ।

हिन्दी-व्याख्या—वने=उस उपवन में, पिकाद्=कोयल से, भृङ्गहुङ्कृतैः=भ्रमरों के हुंकारों से, वियोगिनाम् = विरहीपुरुषों की, दशाम् = दुःखावस्था को, उदञ्चत्करुणम् = विकसित करुणनामक वृक्षों से, शृण्वति = सुनने पर, अनास्थया = सुनने की अनिच्छा से, सूनकरप्रसारिणीम् = [रोकने की दृष्टि से] पुष्परूपी [अपने] हाथों को फैलाये हुये, स्थलपद्मिनीम् = स्थलकमलिनी को, नलः = राजा नल ने, दूनः = सन्तप्त होते हुये, ददर्श = देखा ।

भावार्थ—उस उपवन में जब कोयल भ्रमरों के हुंकाररूपी माध्यम के द्वारा विरहियों की करुणाजनक अवस्था को कह रही थी तो स्थलकमलिनी उसे सुनना नहीं चाहती थी। अतएव वह अपने पुष्परूपी हाथों को फैलाकर मानों कोयल को वैसा करने से रोक रही थी । इस प्रकार की स्थलकमलिनी को संतप्तावस्था से विद्यमान राजा नल ने देखा ।

जहाँ करुणनामक वृक्ष विकसित हो रहे थे, कोयल वियोगियों की दशा का वर्णन अपने शब्दों में कर रही थी और जहाँ गुञ्जन करते हुये भ्रमर हूँ, हूँ कह कह कर हुंकारें भर रहे थे, ऐसे उस उपवन में स्थलकमलिनी अपने पुष्प रूपी हाथों को फैलाकर कोयल को वैसा करने से रोक रही थी । ऐसी स्थल-कमलिनी को राजा नल ने संतप्त होते हुये देखा ।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोयल का कूजना, वृक्षों का विकसित होना, भ्रमरों का गुंजन शब्द करना तथा कमलिनी का खिलना आदि सभी पदार्थ कामपीड़ित व्यक्ति के हृदय में और भी अधिक कामोत्तेजना उद्दीप्त करने वाले हुआ करते हैं। राजा नल तो कामपीड़ित थे ही और साथ ही विरहावस्था में भी विद्यमान थे। उसी अपनी कामसंतप्तावस्था में उन्होंने उपर्युक्त सभी पदार्थों को देखा ।

अलङ्कार—"सूनंकरप्रसारिणीम्" में रूपक अलङ्कार से अनुप्राणित "गम्योत्प्रेक्षा" अलङ्कार है ।

व्याकरण—**अनास्थया** = अन + आ + स्था + अङ् ("आतश्चोपसर्गे" इस सूत्र से) + टाप् = अनास्था—तृतीयाविभक्ति के एकवचन में—अनास्थया । दूनः = दू + [कर्त्ता में] क्त । तत्पश्चात् "ल्वादिभ्यश्च" सूत्र से 'त' के स्थान पर 'न' होकर ।

समास—उदञ्चत्करुणं = उदञ्चन्तः करुणाः तन्नामकाः वृक्षाः यस्मिन् तत्तथा **अथवा** श्लेष की दृष्टि से—उदञ्चन्ती करुणा दया यस्मिन् तत्तथा । **भृङ्गहुङ्कृतैः**=भृङ्गाणां हुङ्कृतैः (षष्ठी तत्पु०)। **अनास्थया**=न आस्था अनास्था तया (नञ् तत्पु०) । **सूनकरप्रसारिणीम्**=सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति ।

टिप्पणियाँ—पिकात् = कोयल से । **भृङ्गहुङ्कृतैः** = भ्रमरों द्वारा किये गये हूँ, हूँ—इस प्रकार के हुंकारों के माध्यम से । कहने का तात्पर्य है कि कोयल तो अपने शब्द द्वारा वियोगी पुरुषों की दुःखावस्था का करुण चित्रण कर रही है और भ्रमर अपनी हुंकारों द्वारा उसका समर्थन कर रहे हैं। **उदञ्चत्करुणम्** = [जिस वन में] करुण नामक वृक्ष मिल रहे थे **अथवा** [श्लेष द्वारा] जिनमें करुणा (दया) उत्पन्न हो रही थी । "करुणस्तु रसेवृक्षे कृपायां करुणा मता" इति विश्वः । **शृण्वति** = यह "वने" का विशेषण है । लक्षणा-वृत्ति द्वारा यहाँ "वने" का अर्थ "वनवासी" होगा । इसी कारण यहाँ पर भाव में "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" से सप्तमी हुयी है । कहने का तात्पर्य यह है कि जब वन में रहने वाले प्राणी कोयल के द्वारा कही जाने वाली वियोगियों की करुण दशा का वर्णन सुन रहे थे ऐसे समय पर । **अनास्थया**= बिना आस्था अथवा श्रद्धा के—अनिच्छा से । **सूनकरप्रसारिणीम्** = [अपने] पुष्प रूपी हाथों को फैलाये हुये । कहने का भाव यह है कि स्थलकमलिनी वियोगियों की उस करुण दशा को सुनना नहीं चाहती थी । इसी कारण वह मानो अपने पुष्परूपी हाथों को फैलाकर मना कर रही थी । **दूनः** = सन्तप्त, [काम] पीड़ित अथवा व्यथित ।

प्रसङ्ग—उस उपवन में राजा नल ने देखा कि आम्रवृक्ष अपनी मञ्जरियों को हिला हिलाकर वियोगियों को डरपा रहा है—

रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः ।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम् ॥८९॥

म०—रसालेति । अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमरझङ्कार एव रोषेण या हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य सः समीरलोलैर्वायुचलैर्मुकुलैरङ्गुलिभिरिति भावः । वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थितः, ददातेः सन् प्रत्ययः 'सनिमीमे'त्यादिना इसादेसः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः; 'सस्यार्धधातुक' इति सकारस्य तकारः । रसालसालश्चूतवृक्षः समदृश्यत सम्यग्दृष्टः । द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८९ ॥

अन्वय—अमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः रसालसालः समीरलोलैः मुकुलैः वियोगिने जनाय तर्जनाभियं (पाठान्तरे तर्जनाभयं) दित्सन् इव समदृश्यत ।

संस्कृत-व्याख्या—अमुना = नलेन, स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः = स्फुरन्तः भ्रमन्तः द्विरेफाः भ्रमराः तेषां आरव एव झङ्कार एव रोषहुङ्कृतिः क्रोधहुङ्कारः यस्य तादृशः, रसालसालः = आम्रवृक्षः, समीरलोलैः = समीरेण वायुना लोलैः चञ्चलैः, मुकुलैः = कुड्मलैः अङ्गुलिभिरिति भावः, वियोगिने = विरहिणे, जनाय = लोकाय, तर्जनाभियम् = तर्जनायाः भर्त्सनायाः भियम्, (भयमपि पाठो लभ्यते) दित्सन् इव = दातुमिच्छन् इव स्थितः, समदृश्यत = सम्यग्दृष्टः ।

हिन्दी-व्याख्या—अमुना = इस राजा नल के द्वारा, स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः = उड़ते हुये भ्रमरों की गुञ्जाररूपी हुङ्कार से युक्त, रसालसालः= आम का वृक्ष, समीरलोलैः = वायु के कारण चंचल, मुकुलैः = मंजरियों रूपी अंगुलियों के द्वारा, वियोगिने जनाय = विरही लोगों को, तर्जनाभियम् = तर्जना का भय, दित्सन् इव = दिखलाने की इच्छा सी करता हुआ, समदृश्यत = देखा गया ।

भावार्थ—आम्रवृक्ष पर मंजरियाँ लगी हुयी थीं। वायु के कारण वे हिल-डुल रही थीं, गुंजार करते हुये भ्रमर उनके ऊपर इतस्ततः उड़ रहे थे। इस दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो आम का वृक्ष भ्रमरों के गुञ्जनरूपी हुंकारों के साथ [क्रोध के साथ] अपनी मंजरियों रूपी हाथों को हिला हिलाकर वियोगी-पुरुषों को तर्जना (डर) दे रहा हो।

अलङ्कार—"तर्जनाभियं दित्सन्निव" की दृष्टि से उक्त श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त इसमें "अनुप्रास" अलङ्कार भी है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—दित्सन् = दा + सन् + द्वित्व, "सनि-सीमा" इत्यादि के द्वारा "इस्" आदेश तथा "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" से अभ्यासलोप और "सः स्यार्धधातुके" से 'स' के स्थान 'त' होने के पश्चात् लट्-शतृ । समदृश्यत= सम् + दृश + लङ् (कर्म में)।

समास—स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः = द्वौ रेफौ यस्मिन् स द्विरेफः, स्फुरन्तः द्विरेफाः (कर्मधारय) इति स्फुरद्द्विरेफाः—तेषां आरवः

(षष्ठी तत्पु०), स एव रोषहुंकृतिः यस्य सः (बहु० स०)। **समीरलोलैः**= समीरेण लोलाः इति समीरलोलाः तैः।

टिप्पणियाँ—स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः = [आम्र मंजरियों के ऊपर] मँडराते हुये भ्रमरों का गुँजार ही जिसका [जिस आम्रवृक्ष का] क्रोधपूर्ण हुंकार था [ऐसा आम्रवृक्ष]। **रसालसालः** = आम का वृक्ष। **समीरलोलैः** = वायु के कारण चंचल। **मुकुलैः** = कलियों द्वारा [कलियाँ रूपी अपने हाथों के माध्यम से]। **तर्जनाभियम्** = तर्जन करने अथवा फटकारने सम्बन्धी भय को। **दित्सन्** = देना चाहता हुआ [दिखलाता हुआ]। **समदृश्यत्** = देखा गया।

प्रसङ्ग—"हे पथिक ! तुम प्रतिदिन दुर्बलता को प्राप्त करते जाओ, बार बार मूर्च्छना को प्राप्त करते रहो तथा सन्ताप को प्राप्त करते रहो" इस रूप में शाप देते हुये कोयलों को राजा नल ने बड़े खेद के साथ देखा—

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान्॥९०॥

म०—दिने दिने इति। रे इति हीनसम्बोधने। त्वं दिने दिने अधिकं तनु एधि अधिकं कृशो भव, अस्तेर्लोट् सिप् 'हुझल्भ्यो हेर्धिरि'ति धित्वम्, 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वम्, पुनः पुनः मूर्च्छं च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपतः शपमानानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र रोषाच्चेति द्रष्टव्यम्, पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नलः सखेदमैक्षिष्ट। स्वस्यापि उक्तशङ्कयेति भावः॥ ९०॥

अन्वय—"रे ! त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि, पुनः पुनः च मूर्च्छ, मृत्युं (पाठान्तरे तापं) च ऋच्छ।" इति पान्थं (पान्थानपि पाठो लभ्यते) शपतः इव लोहितेक्षणान् पिकान् द्विजान् स सखेदं ऐक्षिष्ट।

संस्कृत-व्याख्या—"रे != इति नीच सम्बोधने (पान्थ !), त्वम्, दिने दिने = दिवसे दिवसे, अधिकम् = भृशम्, तनुः = कृशः, एधि = भव, पुनः पुनः च = भूयोभूयः च, मूर्च्छ = मूर्च्छां प्राप्नुहि, मृत्युं च = मरणं च [पाठभेदे—तापं च = सर्वाङ्गतापं च], ऋच्छ = लभस्व।" इति = एवम्, पान्थं = पथिकं [पाठभेदे-पान्थान् = पथिकान्], शपतः = शापं ददतः, इव, लोहितेक्षणान् = रक्तदृष्टीन् [पिकपक्षे स्वभावतः द्विजपक्षे च क्रोधात्], पिकान् =

कोकिलान्, द्विजान् = पक्षिणः ब्राह्मणांश्च, सः = नलः, सखेदम् = खेदसहितं यथास्यात्तथा, ऐक्षिष्ट = ददर्श ।

हिन्दी-व्याख्या—"रे ! = हे पथिक !, त्वम् = तुम, दिने दिने = प्रतिदिन अथवा दिन पर दिन, अधिकं तनुः एधि = अधिक दुर्बल होते जाओ, पुनः पुनः च मूर्च्छ = बार बार मूर्च्छित होओ, मृत्युं च ऋच्छ = मृत्यु प्राप्त करो [पाठभेदे—तापं च ऋच्छ = और सन्ताप को प्राप्त करो]", इति = इस भाँति, पान्थं = पथिक को [पाठभेदे—पान्थान् = पथिकों को], शपतः इव = शाप देते हुये के सदृश, लोहितेक्षणान् = लाल नेत्रों वाले, पिकान् = कोयलों को, द्विजान् = पक्षियों अथवा ब्राह्मणों को, स = उस राजा नल ने, सखेदम् = बड़े खेद के साथ, ऐक्षिष्ट = देखा ।

भावार्थ—"हे पथिक ! तुम दिन पर दिन दुबले होते जाओ, बार-बार मूर्च्छना का अनुभव करो तथा मृत्यु [पाठान्तर में सन्ताप] को प्राप्त करो इस भाँति पथिकों को मानो शाप देते हुये लालनेत्रों वाले कोयलों, पक्षियों अथवा ब्राह्मणों को राजा नल ने बड़े खेद तथा दुःख के साथ देखा ।

अलङ्कार—"पान्थं शपतः इव" में उत्प्रेक्षा अलंकार स्पष्ट है ।

व्याकरण—एधि = अस् + लोट् (मध्यम पुरुष, एकवचन का रूप) । शपतः = इस स्थल पर उपालम्भ अर्थ में प्रयुक्त न होने के कारण "शप् उपालम्भे" वार्तिक से आत्मने पद नहीं हुआ । अन्यथा "शपमानान्" प्रयोग बनता । ऐक्षिष्ट = ईक्ष् + लुङ् ।

समास—**लोहितेक्षणान्** = लोहितानि ईक्षणानि येषां ते लोहितेक्षणाः (बहुव्रीहि), तान् ।

टिप्पणियाँ—रे = यह अनादर सूचक अव्यय है । नीच को सम्बोधित करने में इसका प्रयोग किया जाता है । **तनुः** = क्षीण, दुर्बल । **एधि** = होओ । **ऋच्छ** = गच्छ—प्राप्त करो । **पान्थान्** = राहगीरों अथवा पथिकों को । **शपतः** = शाप देते हुये । **लोहितेक्षणान्** = रक्त नेत्रों वाले । कोयल की आँखे स्वभावतः रक्तवर्ण की हुआ करती हैं । क्रोध के कारण क्रोधावस्था में भी आँखे लाल हो जाया करती हैं । अतः रक्त वर्ण की आँखें होने के कारण ही कोयल में शाप देने सम्बन्धी उत्प्रेक्षा की गयी है । **द्विजान्** = पक्षियों अथवा ब्राह्मणों को । **ऐक्षिष्ट** = देखा ।

प्रसङ्ग—धूमकेतु नामक तारे को विपत्ति का कारण माना जाता है । अमर

जिस पर बैठे हुये थे अथवा जिस पर मँडरा रहे थे ऐसे चम्पक-पुष्प भी विरही जनों के लिये उद्दीपक होने के कारण विपत्तिजनक थे। अतः राजा नल ने चम्पक-पुष्प को साक्षात् धूमकेतु ही समझा—

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥ ९१ ॥

म०—अलिस्रजेति। अलिस्रजा भ्रमरपंक्त्या उच्चशेखरमुन्नतशिरोभूषणम् अलिमलिनाङ्कमित्यर्थः। 'शिखास्वापीडशेखरावि'त्यमरः। चाम्पेयं चम्पकविकारं कुड्मलम् 'अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पक' इत्यमरः। नन्वयुक्तमिदं 'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रदि'त्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत् नैवं किन्तु स्पृष्टेयन्तावतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् केषाञ्चित् उक्तपरिहारः अथवा चाम्पेयं नागकेसरं 'चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वय' इत्यमरः। अधीरया दृशा निपीय विक्लवदृष्ट्या गाढं दृष्ट्वा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान्। स नलः 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः' इति लक्षणात्। वियोगिनां विपदे उदीतमुत्थितं धूमकेतुमशङ्कत अतर्कयदित्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ९१ ॥

अन्वय—अलिस्रजा उच्चशेखरं चाम्पेयं कुड्मलं अधीरया दृशा निपीय आशङ्कितवान् स वियोगिनो विपदे उदीतं धूमकेतुं अशङ्कत।

संस्कृत-व्याख्या—अलिस्रजा = भ्रमरपङ्क्त्या, उच्चशेखरम् = उन्नतशिरोभूषणम्—अलिमलिनाङ्कमित्यर्थः, चाम्पेयम् = चम्पकविकारम्, कुड्मलम् = कोरकम्, अधीरया = विक्लवया, दृशा, निपीय = गाढं दृष्ट्वा, आशङ्कितवान् = किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान्, स = नलः, वियोगिनाम् = विरहिणाम्, विपदे = विनाशाय, उदीतम् = उत्थितम्, धूमकेतुम्, अशङ्कत = अतर्कयत्।

हिन्दी-अनुवाद—अलिस्रजा = भ्रमरों की पंक्ति से युक्त होने के कारण, उन्नतशेखरम् = उन्नतशिखरभाग वाली, चाम्पेयम् = चम्पा की, कुड्मलम् = कली को, अधीरया = अधीर, दृशा = दृष्टि से, निपीय = भलीभाँति देखकर, आशङ्कितवान् = आशङ्कायुक्त, स = राजा नल ने, [उस चम्पक पुष्प को], वियोगिनाम् = वियोगियों की, विपदे = विपत्ति अथवा विनाश के लिये, उदीतम् = उदित हुआ, धूमकेतुं अशङ्कत = धूमकेतु समझा।

भावार्थ—आकाश में धूमकेतु तारे का उदय होना अत्यन्त अनिष्टकारक माना जाता है। चम्पा की कली भी कामोद्दीपक होने के कारण विरही जनों के लिये अनिष्टकारक ही हुआ करती है। इसी आधार को ध्यान में रखते हुये

महाकवि ने यहाँ यह कल्पना की है कि विरहावस्था में विद्यमान राजा नल के लिये चम्पकपुष्प अथवा चम्पा की कलियाँ साक्षात् धूमकेतु के सदृश ही थीं।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—चाम्पेयम् = चम्पा + अण्। **कुड्मलम्** = कुड् (बाल्ये) + कल, मुट् का आगम। **उदीतम्** = उद् + ई + क्त।

समास—अलिस्रजा = अलीनां स्रक् इति अलिस्रक् (षष्ठी तत्पु०), तया। **उच्चशेखरम्** = उच्चः शेखरो यस्य सः (बहुव्रीहि), तम्। **चाम्पेयम्** = चम्पायाः अयं चाम्पेयः तम्।

टिप्पणियाँ—अलिस्रजा = भ्रमरों की माला अथवा पंक्ति से। **उच्चशेखरम्** = उन्नतशिखर भाग से युक्त। ऊँचो उठी हुयी। **चाम्पेयम्** = चम्पा की—"अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पकः" इत्यमरः। चम्पा के सम्बन्ध में लोक में ऐसी प्रसिद्धि है कि उसके पास भ्रमर नहीं जाया करते हैं किन्तु फिर भी कवि ने उस प्रकार का वर्णन क्यों किया है ("न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत")। इससे प्रतीत होता है कि महाकवि श्रीहर्ष को उस कथन में विश्वास नहीं था। अथवा—हो सकता है कि इस स्थल पर 'चाम्पेय' शब्द से 'नागकेसर का फूल' ही कवि को अभिप्रेत रहा हो क्योंकि नागकेसर के फूल को भी "चाम्पेय" कहा जाता है—"चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वयः" इत्यमरः। **कुड्मलम्**=कली को—"कुड्मलो मुकुले पुंसि न द्वयोर्नरकान्तरे" इति मेदिनीकोषः। **निपीय** = पान करके अर्थात् भलीभाँति नेत्रों से देख करके। **विपदे** = विपत्ति अथवा विनाश के लिये।

प्रसङ्ग—राजा नल ने नागकेसर के फूल को देखा जिस पर भ्रमर बैठे हुये थे और उनके बैठने के कारण वह काला काला दिखलाई पड़ रहा था और उससे पीले पराग के कण झड़ रहे थे—

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम्।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत्॥ ९२॥

म०—गलदिति। स नलो गलत्परागं निर्यद्रजस्कं भ्रमिभङ्गिभिः भ्रमणप्रकारैरुपलक्षितं पतद् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुलं नागकेसरं कुसुमविशेषं मारनाराचनिघर्षणैः स्मरशरकर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गा यस्य तं शाणं निकषोत्पलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत्, 'शाणस्तु निकषः कष' इत्यमरः॥ ९२॥

अन्वय—स गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरं मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणं इव व्यलोकयत्।

संस्कृत-व्याख्या—स = नलः, गलत्परागम् = निर्यद्रजस्कम्, भ्रमिभङ्गिभिः = भ्रमणप्रकारैः उपलक्षितम्, पतत् = भ्रश्यत्, प्रसक्तभृङ्गावलि = सक्तालिकुलम्, नागकेसरम्=नागकेसर पुष्पम्, मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणम् = मारस्य कामदेवस्य नाराचः शराः तेषां निघर्षणैः कर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तः देदीप्यमानाः कणाः स्फुलिङ्गाः यस्मात् तादृशम्, शाणमिव = निकषोत्पलमिव, व्यलोकयत् = दृष्टवान्।

हिन्दी-अनुवाद—स = राजा नल ने, गलत्परागम् = झरते हुये पराग से युक्त, भ्रमिभङ्गिभिः = चक्कर खाकर एक विशेष प्रकार से, पतत् = गिरते हुये, प्रसक्तभृङ्गावलि = [एवं] संलग्न भ्रमरों की पंक्तियों से युक्त, नागकेसरम् = नागकेसर के फूल को, मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणम् = कामदेव के बाणों की रगड़ से गिरते तथा जलते हुए कणों (चिनगारियों) से युक्त, शाणमिव = शाण (सान रखे जाने वाले प्रस्तर विशेष) के सदृश, व्यलोकयत् = देखा।

भावार्थ—उस उपवन में नागकेसर का फूल भ्रमरों के बैठ जाने के कारण कृष्ण वर्ण का दिखलाई पड़ रहा था तथा उसमें से पीतवर्ण का पराग नीचे की ओर झर रहा था। अतएव नागकेसर पुष्प के सम्बन्ध में यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि वह मानो काला शाण (सान रखने का पत्थर) था जिसपर कामदेव के बाणों की रगड़ लग रही थी और उस रगड़ के कारण जलते हुए पीले पीले कण निकल निकल कर नीचे की ओर गिर रहे थे। इस प्रकार के नागकेसर के फूल को राजा नल ने देखा।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—**नागकेसरम्** = विकार अर्थ में—(अर्थात् नागकेसर का विकार) नागकेसर + अण्।

समास—**गलत्परागम्** = गलन् परागो यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **प्रसक्तभृङ्गावलि** = प्रसक्ता भृङ्गावलिः यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। **मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणम्** = मारस्य नाराचाः इति मारनाराचाः तेषां निघर्षणैः स्खलन्तः ज्वलन्तश्च कणाः यस्मात् तादृशम्।

टिप्पणियाँ—**गलत्परागम्** = जिससे पराग के कण गिर अथवा झड़

रहे थे ऐसे नागकेसर के फूल को। **भ्रमिभङ्गिभिः** = चक्कर काटने सम्बन्धी विशिष्ट प्रकार के साथ। **पतत्** = गिरते हुये। दूसरे वृक्षों से उड़कर उस ओर आते हुये। **प्रसक्तभृङ्गावलि** = भ्रमर-समूह से युक्त अर्थात् जिस पुष्प पर भ्रमरों की पंक्तियाँ बैठी हुयी थीं। **नागकेसरम्** = नागकेसर का फूल। **मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणम्** = जिस (शाण) पर कामदेव के बाणों की रगड़ लग रही थी और उस रगड़ के कारण उससे चिनगारियाँ भी निकल निकलकर इधर-उधर गिर रही थी ऐसे, **शाणम्** = सान रखने वाले पत्थर—"शाणस्तु निकषः कषः" इत्यमरः। **व्यलोकयत्** = देखा।

प्रसङ्ग—नल का शरीर पुष्पों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर था। अतएव भ्रमरों की पंक्तियाँ शब्द करती हुयीं उनके शरीर के चारों ओर उड़ रहीं थीं। कामदेव, यह समझकर कि मेरे बाणों की पंक्तियाँ लक्ष्य भ्रष्ट होकर शब्द कर रही हैं, लज्जित हुआ—

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः॥९३॥

म०—तदङ्गमिति। सुगन्धि शोभनगन्धं 'गन्धस्ये'त्यादिना समासान्त इकारः। तदङ्गं तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणो गन्धादिः मौर्वीच, 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुष्वि'ति वैजयन्ती। तत्स्पृशस्तद्युक्ताः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' कुसुमादुपादानात् पातुका धावन्तीः, 'लषपते'त्यादिना उकञ्प्रत्ययः। स्वनन्तीर्ध्वनन्तीः शिलीमुखालीः अलिपंक्तीः बाणपंक्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गताः विषमनिर्गता ये मार्गणाः बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोर्लज्जितोऽभवत् नूनमिति शेषः। दुर्निर्गतेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः। अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शिलीमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ९३॥

अन्वय—सुगन्धि तदङ्गमुद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः शिलीमुखालीः अवलोक्य स्मरः स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् लज्जितः।

संस्कृत-व्याख्या—सुगन्धि = शोभनगन्धम्, तदङ्गमुद्दिश्य = तस्य नलस्य अङ्गं शरीरं उद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य, गुणस्पृशः = गुणाभिलाषिणीः [बाणपंक्ति-पक्षे = मौर्वीस्पृशः], कुसुमात् = पुष्पात्, पातुकाः = धावन्तीः, स्वनन्ती = ध्वनन्तीः, शिलीमुखालीः = भ्रमरपंक्तीः [बाणपंक्तीश्च], अवलोक्य = दृष्ट्वा, स्मरः =

कामः, स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = स्वचापात् स्वधनुषः दुर्निर्गताः दुःखेन निर्गताः मार्गणाः बाणाः तेषां भ्रमात्, लज्जितः अभवत् नूनमिति शेषः ।

हिन्दी-अनुवाद—सुगन्धि = शोभनगन्धयुक्त, तदङ्गम् = नल के शरीर को, उद्दिश्य = लक्ष्य करके, गुणस्पृशः = गुण अर्थात् सुगन्ध की अभिलाषिणी [बाणपंक्ति-पक्ष में—प्रत्यञ्चा का स्पर्श करने वाली], कुसुमात् = पुष्प से निकलकर, पातुकाः = दौड़ने वाली तथा, स्वनन्तीः = शब्द करती हुयी, शिलीमुखालीः = भ्रमरों की पंक्तियों [पक्षान्तर में—बाण-पंक्तियों] को, अवलोक्य = देखकर, स्मरः = कामदेव, स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = अपने धनुष से बुरी तरह निकले हुये [अर्थात् लक्ष्यभ्रष्ट] बाणों के भ्रम से, लज्जितः = लज्जित हो गया ।

भावार्थ—राजा नल का शरीर पुष्पों की अपेक्षा कहीं अधिक सुगन्धित था । अतएव भ्रमर समूह पुष्पों को छोड़ छोड़कर नल के शरीर के चारों ओर मँडरा रहा था । यह दृश्य देखकर कामदेव को यह भ्रम हो गया कि उनकी अपनी धनुष की डोरी का स्पर्श करने वाले बाणों की पंक्तियाँ लक्ष्य भ्रष्ट होकर भ्रमरों की पंक्तियों के रूप में गुञ्जन कर रही हैं [क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि है कि लक्ष्यभ्रष्ट बाण अधिक ध्वनि करते हैं ।] अतः कामदेव लज्जित हो गया । [लक्ष्यभ्रष्ट बाणों को देखकर धनुषधारी का लज्जित होना स्वाभाविक ही है ।] ।

अलङ्कार—यहाँ पर शब्द करते हुये भ्रमरों की पंक्ति में कामदेव द्वारा अपने लक्ष्यभ्रष्ट बाणों का भ्रम किये जाने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है । और श्लेष से अनुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार का अंगांगिभाव से संकर भी है ।

व्याकरण—**सुगन्धि** = यहाँ पर "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" सूत्र से "इत्व" हो जाता है । **गुणस्पृशः** = गुण + स्पृश + क्विन् ("स्पृशोऽनुदके" से) = गुणस्पृक् । **पातुका** = पत् + उकञ् + टाप् । **स्वनन्तीः** = स्वन् + लट्—शतृ + ङीप्—(बहुवचन में) ।

समास—**सुगन्धि** = सुष्ठु गन्धो यस्मिन् तत् सुगन्धि (बहुव्रीहि) । **गुणस्पृशः** = गुणं स्पृशतीति गुणस्पृक् ताः गुणस्पृशः । **पातुकाः** = पतितुं शीलं यासां ताः । **शिलीमुखालीः** = शिलीमुखानां आलयः (षष्ठी तत्पु०) ताः । **स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्** = स्वचापात् दुःखेन निर्गताः मार्गणा इति स्वचापदुर्निर्गतमार्गणाः तेषां भ्रमात् ।

टिप्पणियाँ—**सुगन्धि** = शोभन (उत्तम) गन्ध से युक्त। **तदङ्गम्** = शरीर को। **उद्दिश्य** = लक्ष्य करके। **गुणस्पृशः** = गुण (सुगन्ध) को ग्रहण करने वाली। (बाणों की पंक्ति के पक्ष में—गुण अर्थात् प्रत्यंचा का स्पर्श करने वाली।) "गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु" इति वैजयन्ती। **पातुकाः** = गिरने वाली या दौड़ने वाली। **स्वनन्तीः** = शब्द करती हुयी। **शिलीमुखालीः** = भ्रमरों की पंक्तियों को। **स्मरः**=कामदेव। **स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्** = अपने धनुष से बुरी तरह निकले हुये बाणों के भ्रम से। जब बाण ठीक रूप में नहीं छूटता है तब वह शब्द करता हुआ लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाया करता है जिसके कारण बाण-चालक को लज्जित भी होना पड़ा करता है। **लज्जितः** = लज्जा को प्राप्त हुआ अथवा लज्जित हुआ।

प्रसङ्ग—उस राजा नल ने वायु से कम्पायमान पल्लवों के काँटों से क्षत-विक्षत पके हुये बेल के फल को देखा—

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

म०—मरुदिति। मरुता वायुना ललत्पल्लवानाञ्चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः क्षतमन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दनसारस्येव सौरभं यस्य तत् अतएव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यमित्युपमालङ्कारः। 'वारस्त्री गणिका वेश्ये'त्यमरः। कुलाङ्गनानखक्षताद्यनौचित्याद्वारविशेषणं, पचेलिमं स्वतः पक्वं कर्मकर्त्तरि 'केलिमर उपसंख्यानमि'ति पचेः केलिमर्प्रत्ययः। मालूरफलं बिल्वफलं 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरः श्रीफलावपी'त्यमरः। स नलो ददर्श ॥ ९४ ॥

अन्वय—स मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चलच्चन्दनसारसौरभं वारनारीकुचसञ्चितोपमं पचेलिमं मालूरफलं ददर्श।

संस्कृत-व्याख्या—सः = नलः, मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः = मरुता वायुना ललन्तः विलसन्तः ये पल्लवाः तेषां कण्टकैः [अन्यत्र मरुत् देवः तद्वत् ललन् विलासं कुर्वन् यः पल्लवः विटः तस्य कण्टकाः कण्टवत्तीक्ष्णाः नखाः तैः।), क्षतम् = आहतम्, समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् = समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दन सारस्य इव सौरभं गन्धं यस्मात् तादृशम् (अन्यत्र-चन्दनस्य सारसौरभं यस्मात् तादृशम्) वारनारीकुचसञ्चितोपमम् = वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमम् सम्पादितसादृश्यम्—वेश्यास्तनतुल्यशोभम्—इत्यर्थः, पचे-

लिमम् = स्वतः पक्वम्, मालूरफलम् = बिल्वफलम्, ददर्श = अवलोकयामास ॥

हिन्दी-अनुवाद—स = उस राजा नल ने, मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः=वायु के द्वारा हिलते हुये पल्लवों के काटों से, [कुच-पक्ष में—देवता के सदृश विलास करने वाले विट के तीक्ष्ण नखों से] क्षतम् = क्षत-विक्षत, समुच्चलच्चन्दन-सारसौरभम् = (तथा) फैलती हुयी चन्दन की गन्ध के सदृश उत्तम गन्ध से युक्त [कुच-पक्ष में—फैलती हुयी तथा लिप्त हुयी चन्दन की गन्ध से युक्त], वारनारीकुचसञ्चितोपमम् = वेश्या के स्तनों की समानता को धारण किये हुये, पचेलिमम् = पके हुये, मालूरफलम् = बेल के फल को, ददर्श = देखा ।

भावार्थ—राजा नल ने वायु द्वारा कम्पित पल्लवों के काटों से [अन्य-पक्ष में—वायु नामक देवता के सदृश विलासी विट (धूर्तनायक) के कण्टक-सदृश नखों से] क्षत (घायल), निकलते हुये चन्दन सदृश शोभन गन्ध से युक्त [अन्य पक्ष में—लिप्त हुये चन्दन सदृश श्रेष्ठ गन्ध से युक्त] वेश्या के स्तनों के सादृश्य को प्राप्त किये हुये एवं भलीभाँति पके हुये बेल के फल को देखा ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उपमा" अलङ्कार है ।

व्याकरण—पचेलिमम् = पच् + केलिमर् ["केलिमर उपसंख्यानम्" वार्तिक से] ।

समास—मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः=मरुता ललन्तः मरुल्ललन्तः मरुल्ललन्तः पल्लवाः इति मरुल्ललत्पल्लवाः (कर्मधारय), तेषां कण्टकाः इति (षष्ठी तत्पु०), तैः । **समुच्चलच्चन्दनसारसौरभम्** = समुच्चलत् चन्दनसारसौरभं यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि) । **वारनारीकुचसञ्चितोपमम्** = वारनार्याः कुचौ इति वारनारी-कुचौ ताभ्यां संचिता उपमा यस्य तादृशम् ।

टिप्पणियाँ—**मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः** = वायु द्वारा हिलाये डुलाये जाते हुये पल्लवों के काँटों से । **क्षतम्** = क्षत-विक्षत, घायल । **समुच्चल-च्चन्दनसारसौरभम्** = जिसमें से चन्दन सदृश उत्तम गन्ध निकलकर चारों ओर व्याप्त हो रही थी । **वारनारीकुचसञ्चितोपमम्** = वेश्या के स्तनों के समान । "वारस्त्री गणिका वेश्या-इत्यमरः" । अच्छे कुल की स्त्रियों के स्तनों का नखक्षत आदि का प्रकट होना अनुचित माना गया है इसीलिए 'वार' विशेषण का प्रयोग हुआ है । **पचेलिमम्**=पकेहुये । **मालूरफलम्**=बेल के फल को । **ददर्श** = देखा ।

प्रसङ्ग—राजा नल पाटल के फूल के गुच्छे को कामदेव के वाणों का तूणीर समझकर भयभीत हो गये—

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् ।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तवकं प्रकम्पितः ।९५।

म०—युवेति । युवा च युवती च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं तस्याश्चित्तयोः कर्मणोर्निमज्जनेण्यन्ताल्लुट् उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पवाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् पाटलायाः पाटलवृक्षस्य स्तवकं कुसुमगुच्छभिम-यान्धया भयमूढया धिया भयजन्यभ्रान्त्येत्यर्थः । स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य तथा विभ्रम्यद्वृत्यर्थः, अत एव भयात् प्रकम्पितश्चकम्पे । अत्र पाटलस्तवके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारः । 'कविसंमतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि । आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः ॥' इति लक्षणात् ॥ ९५ ॥

अन्वय—सः युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरं पाटलायाः स्तवकं भियान्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य प्रकम्पितः ।

संस्कृत-व्याख्या—सः = नलः, युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतर-गर्भगह्वरम् = युवा च युवति च तयोः यूनोः द्वयी मिथुनं तस्याः चित्तयोः अन्तः करणयोः निमज्जने उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पवाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तादृशम्, पाटलायाः = पाटलवृक्षस्य, स्तवकम् = कुसुमगुच्छम्, भियान्धया = भयमूढया, धिया = बुद्ध्या [भयजन्यभ्रान्त्या इत्यर्थः), स्मरेषु-धीकृत्य = कामतूणीरीकृत्य, प्रकम्पितः = चकम्पे ।

हिन्दी-अनुवाद—सः = वह राजा नल, युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचित-प्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् = युवक और युवतियों (दोनों के) के चित्तों को डुबाने में समर्थ पुष्पों से पूर्ण मध्यभागों वाले, पाटलायाः = पाटलवृक्ष के, स्तवकम् = फूल के गुच्छे को, भियान्धया = भय के कारण विमूढ़, धिया = बुद्धि से, स्मरेषुधीकृत्य = कामदेव का तरकस समझकर, प्रकम्पितः=काँप गये ।

भावार्थ—राजा नल ने पाटलवृक्ष के पुष्पों के गुच्छे को पुष्पों से परिपूर्ण देखकर यह समझा कि यह विरही युवक और युवतियों के हृदयों को वेधने वाले कामदेव के वाणों से भरा हुआ तरकस ही है। राजा नल स्वयं भी विरहावस्था में विद्यमान थे अतः उस पाटलपुष्प के गुच्छे को देखकर उनका भयभीत हो जाना स्वाभाविक ही था । भय के कारण उनकी विचारशक्ति

नष्ट हो गयी थी। इस कारण उन्होंने उस गुच्छे को बाणों से भरा हुआ कामदेव का तूणीर ही समझ लिया।

अलङ्कार—पाटलवृक्ष के पुष्पों के गुच्छे में कामदेव के बाणों से परिपूर्ण तूणीर का भ्रम होने से उक्त श्लोक में भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

व्याकरण—स्मरेषुधीकृत्य = स्मरेषुधी + च्वि, ईत्व + कृ + ल्यप्। प्रकम्पितः = प्र + कम्प् + क्त (कर्त्ता में)।

समास—युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् = युवा च युवती च इति युवानौ ("पुमान स्त्रिया"—से एकशेप) तयोः द्वयी, तस्याः चित्ते (षष्ठी तत्पु०), तयोः निमज्जनम्, तस्मिन् उचितानि प्रसूनानि (कर्मधारय), तैः शून्येतरं गर्भगह्वरं यस्य सः (बहुव्रीहि), तम्। स्मरेषुधीकृत्य = स्मरस्य इषुधिः (षष्ठी तत्पु०), न स्मरेषुधिः अस्मरेषुधिः, अस्मरेषुधिं स्मरेषुधिं कृत्वा इति स्मरेषुधीकृत्य।

टिप्पणियाँ—युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्= युवा और युवती दोनों के चित्तों को डुबा लेने में समर्थ पुष्पोंसे परिपूर्ण मध्य-भाग वाले। पाटलायाः = पाटला (पाढर) के। स्तवकम् = गुच्छे को। भियान्धया = भय के कारण अंधी (अज्ञानपूर्ण)। धिया = बुद्धि से। स्मरेषुधीकृत्य = कामदेव के बाणों से भरा हुआ तरकस समझकर। प्रकम्पितः = काँप गये।

प्रसङ्ग—राजा नल ने कृष्णवर्ण के पत्रों वाले अगस्त्य वृक्ष को राहु तथा उसके बीच दिखाई देने वाली कली को भक्षण के बाद पुनः राहु द्वारा उद्गमित चन्द्रकला समझा।

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥९६॥

म०—मुनीति। अमुना नलेन वने कोरकितः सञ्जातकोरकः पत्रेषु कृष्णच्छविः मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्षः तमिस्रपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम् भक्षितत्वे कुतः क्षय? इति भावः। अत्र कूटशब्देन क्षयोपह्नवेन भक्षणारोपादपह्नवभेदः। वैधवं चन्द्रसम्बन्धि 'विधुः शुभ्रांशुरि'त्यमरः। कलाकलापङ्कलासमूहं वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल खलु? अत्र कोरकितशितद्युतित्वाभ्यां मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति सङ्करः॥ ९६॥

अन्वय—अमुना वने कोरकितः शितिद्युतिः मुनिद्रुमः तमिस्रपक्षत्रुटिकूट-भक्षितं वैधवं कलाकलापं वमन् सिंहिकासुतः अमन्यत किल ।

संस्कृत-व्याख्या—अमुना = नलेन, वने = विपिने, कोरकितः=मुकुलितः, शितिद्युतिः = शितिः कृष्णः द्युतिः छविः यस्य तादृशः, मुनिद्रुमः = अगस्त्यवृक्षः, तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितम् = तमिस्रपक्षे अन्धकारपक्षे, त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम्, वैधवम् = चन्द्रसम्बन्धिनम्, कलाकलापम् = कलासमूहम्, वमन् = उद्गिरन्, सिंहिकासुतः = राहुः, अमन्यत = मेने, किल = खलु ।

हिन्दी-अनुवाद—अमुना=इस (राजा नल) ने, वने=वन में, कोरकितः= कलियों से युक्त, शितिद्युतिः = कृष्णवर्ण की कान्ति से युक्त, मुनिद्रुमः = अगस्त्य नामक वृक्ष को, तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितम् = कृष्ण पक्ष में कलाओं के क्रमशः घटने के बहाने निगले गये हुये, वैधवम् = चन्द्रमा के, कलाकलापम् = कला-समूह को, वमन् = उगलता हुआ, सिंहिकासुतः = राहु ही, अमन्यत किल = समझा अथवा माना ।

भावार्थ—राजा नल ने वन में कलिकाओं से युक्त कृष्ण वर्ण वाले अगस्त्य के वृक्ष को कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं के क्रमिक घटाव के बहाने से निगले हुये और तदनन्तर उसकी कलाओं को पुनः उगलते हुये राहु सदृश ही समझा । [अथवा—अन्धकार में छल पूर्वक खाये गये हुये पशु आदि को पुनः उगलते हुए सिंह के बच्चे के समान उस अगस्त्य के वृक्ष को राजा नल ने देखा] ।

राजा नल ने पहले यह सोचा कि यह राहु चन्द्रमा को निगल गया था अतएव इससे मुझे कोई सन्ताप नहीं होता है किन्तु अब यह पुनः चन्द्रमा को उगल रहा है और यह चन्द्रमा मुझे अब संतप्त करेगा—ऐसा सोचकर उन्होंने उस आगस्त्य के वृक्ष को राहु के सदृश ही माना ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति तथा श्लेष अलङ्कारों का संकर है ।

व्याकरण—कोरकितः = कोरक + इतच् । वैधवम् = विधु + अण् ।

समास—कोरकितः = कोरकः संजातः अस्मिन् इति कोरकितः । शिति-द्युतिः=शितिः द्युतिः यस्य सः (बहुव्रीहि) । **तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितम्**= तमिस्रः पक्षः इति तमिस्रपक्षः (कर्मधारय) तस्मिन् त्रुटिः इति तमिस्रपक्ष-

त्रुटिः, सैव कूटम्, तेन भक्षितः इति तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितः तम्। **वैधवम्** = विधोः अयं वैधवः तम्।

टिप्पणियाँ—कोरकितः = जिसमें कलियाँ लगी हुयी थीं अर्थात् कलियों से युक्त। **शितिद्युतिः** = कृष्ण वर्ण की कान्ति से युक्त। "शितीधवलमेचकौ"—इत्यमरः। **मुनिद्रुमः** = अगस्त्य नामक वृक्ष को। **तमिस्रपक्षत्रुटिकूट-भक्षितम्** = कृष्ण पक्ष में कलाओं के क्रमशः घटने के वहाने से खाये हुये अथवा निगल लिये गये हुये। कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं का एक एक करके क्रमिक ह्रास होता चला जाया करता है। अतएव ऐसी कल्पना की जाती कि मानो चन्द्रमा की एक एक कला को राहु क्रम से ग्रस रहा हो और अमावस्या का एक दिन ऐसा आ जाता है कि जिस दिन पूर्ण रूप से राहु द्वारा चन्द्रमा ग्रस लिया जाता है अर्थात् राहु चन्द्रमा को निगल लेता है। **वैधवम्** = विधु अर्थात् चन्द्रमा सम्बन्धी अथवा चन्द्रमा की। **कलाकलापम्**= कला-समूह को। **वमन्** = उगलता हुआ। **सिंहिकासुतः** = राहु। राजा नल ने काले रंग की पत्तियों से युक्त अगस्त्य के वृक्ष को राहु समझा जिसमें श्वेत वर्ण की अर्द्धचन्द्राकार कलियाँ खिली हुयी थीं। वह वृक्ष उस समय राहु के सदृश प्रतीत हो रहा था तथा उसमें संलग्न श्वेत वर्ण की कलियाँ चन्द्रमा की श्वेत वर्ण की कलाओं के सदृश प्रतीत हो रही थीं। **अमन्यत** = माना, समझा।

प्रसङ्ग—राजा नल ने वायु द्वारा लता के साथ किया गया विलास एवं कुसुम के साथ की गयी क्रीड़ा को देखकर अपनी आँखें बन्द कर लीं—

पुरोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः ॥९७॥

म०—पुर इति। पुरोऽग्रेहठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टातुषारेण हिमेन पाण्डराणां छदानां पत्राणां तुषारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य चावृतिरावरणं येन तस्य नभस्वतो वायोः वीरुधि लतायां बद्धाः अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च यासान्ताः कुसुमेषु विषये केलयः क्रीडाः कुसुमेषु केलयः कामक्रीडाश्च विलोकिताः सत्यस्तं नृपं नलं मिलन्निमीलो मिलनं यस्य तं विदधुः निमीलिताक्षञ्चक्रुरित्यर्थः। विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् अन्यत्र ('नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनामि'ति निषेधादिति भावः।) अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतकामुकविरहप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥९७॥

अन्वय—पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः नभस्वतः वीरुधि बद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलयः विलोकिताः तं मिलन्निशीलं विदधुः ।

संस्कृत-व्याख्या—पुरः=अग्रे [पाठान्तरे पुरा=पूर्वम्], हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः=हठात् झटिति आक्षिप्ता आकृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणां धवलानां छदानां पत्राणां [पक्षे = तुषारवत् पाण्डरस्य धवलस्य छदस्य वस्त्रस्य] आवृतिः आवरणं येन तथाविधस्य, नभस्वतः=वायोः, वीरुधि = लतायाम्, बद्धविभ्रमाः= बद्धाः नद्धाः विभ्रमाः भ्रमणानि [पक्षे—विलासाः] यासां ताः, कुसुमेषु = पुष्पेषु, केलयः = क्रीडाः [पक्षे—कुसुमेषु केलयः = कामक्रीडाः], विलोकिताः = दृष्टाः [सत्यः], तम् = नलम्, मिलन्निमीलम् = कृतनेत्रसंकोचम्, विदधुः = चक्रुः ।

हिन्दी-अनुवाद—पुरः = सामने [पाठान्तर में पुरा = पहले], हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः = हठपूर्वक बर्फ के सदृश श्वेत वर्ण के पत्तों रूपी आवरण को हटाने वाली [नायक पक्ष में—तुषार के सदृश श्वेत वर्ण के वस्त्र के आवरण को हटाने वाले], नभस्वतः = वायु की, वीरुधि = लता में, बद्धविभ्रमः = भ्रमणों [नायक पक्ष में—विलासों] से युक्त, कुसुमेषु = पुष्पों के साथ की गयी, केलयः = क्रीडाओं [नायक पक्ष में—कामक्रीडाओं] ने, विलोकिताः = देखी जाने पर, तम् = उस नल को, मिलन्निमीलम् विदधुः = आँखो को बन्द कर दिया ।

भावार्थ—पहले हठपूर्वक बर्फ के सदृश श्वेत पत्रों रूप आवरण (वस्त्र) को हटाने वाली वायु की लताओं में विलास [अथवा विशिष्ट भ्रम अथवा पक्षियों का भ्रम] उत्पन्न करने वाली पुष्प विषयक क्रीडाओं [अथवा काम क्रीडाओं] ने राजा नल के नेत्रों को बन्द कर दिया अर्थात् उसे देखकर राजा नल ने अपने नेत्रों को बन्द कर लिया ।

अथवा अपने समक्ष बलपूर्वक हटाये गये तुषारसदृश श्वेत पत्रों वाली, वेरे की लताओं में विशिष्ट भ्रम [अथवा—पक्षियों का भ्रम] उत्पन्न करने वाली, वायु की पुष्पों के साथ की गयी क्रीडा [अथवा वायु द्वारा की गयी कामकीडा] ने राजा नल के नेत्रों को बन्द कर दिया ।

राजा नल ने वायु द्वारा लता के साथ किये गये विलास तथा पुष्पों के साथ की गयी क्रीडा को देखकर अपनी आँखें बन्द कर लीं क्योंकि विरही व्यक्ति [राजा नल] के लिये ये उद्दीपक थीं । दूसरी बात यह है कि धर्म-

शास्त्र [" ... संस्पृष्टमैथुनाम्"—इति याज्ञवल्क्यः] के अनुसार किसी की भी कामक्रीडा को देखना मना है। अतः स्त्रीरूपिणी लता के साथ पुरुष रूपी वायु की कामक्रीडा को देखकर मानों राजा नल ने अपने नेत्रों को वन्द कर लिया।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में प्रस्तुत वायु के विशेषणों की सामर्थ्य से अप्रस्तुत कामुक-विरह की प्रतीति होने के कारण "समासोक्ति" अलङ्कार है।

समास—हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः=तुषारेण पाण्डरम् [तृतीया तत्पु०] इति तुषारपाण्डरम्, तुषारपाण्डरं छदम् (कर्मधारय) इति तुषार-पाण्डरच्छदम्, तस्य आवृतिः [षष्ठी तत्पु०] इति तुषारपाण्डरच्छदावृतिः। हठेन आक्षिप्ता तुषारपाण्डरच्छदावृतिः येन सः [बहुव्रीहि], तस्य। बद्धविभ्रमाः = बद्धाः विभ्रमाः भ्रमणानि [विलासाश्च] यासां ताः।

टिप्पणियाँ—पुरः = आगे—समक्ष । [पाठान्तर में—पुरा = पहले] हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः = जिस [वायु ने] तुषार के कारण श्वेतवर्ण के पत्तों के आवरण को वलपूर्वक हटा दिया था [नायक पक्ष में—जिसने तुषार के समान श्वेतवर्ण के वस्त्र के आवरण को जबरदस्ती हटा दिया था]। नभस्वतः = वायु की। वीरुधि = लता में। बद्धविभ्रमाः = वायु द्वारा की गयी क्रीडा के पक्ष में—जिनमें विशिष्ट भ्रमण किये गये हों। नायक द्वारा की गयी क्रीडा के पक्ष में—जिनमें विलास [अर्थात् विशिष्ट हाव-भाव, नखरे आदि] किये गये हों। कुसुमेषुकेलयः = वायुपक्ष में—फूलों के साथ की गयी क्रीडाओं। नायक-पक्ष में—[एक शब्द मानकर] काम सम्बन्धी क्रीडाओं। विलोकिताः = देखकर। मिलन्निमीलम् = जिसने अपने नेत्रों को बन्द कर लिया हो। विदधुः = किया अथवा कर लिया। पाठान्तर में—ससृजुः = कर लिया, किया।

प्रसङ्ग—फलों के भार से झुके हुये वृक्षों को देखकर राजा नल अत्यधिक प्रसन्न हुये—

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम्।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान्? ॥९८॥

म०—गता इति। द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं गताः तां धात्रीम्भुवञ्च उपमातरं वा 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युप-मातृष्वि'तिविश्वः। 'धा कर्मणि ष्ट्रन्नि'ति दधातेः ष्ट्रन् प्रत्ययः। फलगौरवेण फलभरेण

सुकृतातिशयेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः, प्रह्वीकृतैः नमेभिरत्वविकल्पादृभ्रस्वा-भावः। शिरोभिरग्रैः उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृशतोऽभिवादयमानांश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान् अत एव यच्छन्दानपेक्षी स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिनन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिमपत्यानां च मातृभक्तिञ्च को नाम नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषणसामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः॥ ९८॥

अन्वय—द्रुमाः यदुत्सङ्गतले विशालतां गताः तां धात्रीं फलगौरवेण अतिमात्रनामितैः शिरोभिः वन्दमानान् तान् स कथं न अभिनन्दति स्म।

संस्कृत-व्याख्या—द्रुमाः = वृक्षाः, यदुत्सङ्गतले = यस्याः धात्र्याः उत्सङ्गतले = उपरिप्रदेशे अङ्के वा, विशालताम् = विवृद्धिम्, गताः = प्राप्ताः; ताम्, धात्रीम् = भुवम् उपमातरं वा, फलगौरवेण = फलभरेण फलाधिक्येन वा, अतिमात्रनामितैः = अतिमात्रं अतिशयेन नामितैः नम्रितैः, शिरोभिः = अग्रभागैः उत्तमाङ्गैश्च, वन्दमानान् = स्पृशतः, अभिवादयमानांश्च, तान् = प्रकृतान् द्रुमान् पुत्रांश्च, सः = नलः कथम् न, अभिनन्दति स्म = अस्तौषीत्—अभिननन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिम्, अपत्यानां च मातृभक्तिं च को नाभिनन्दतीति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—द्रुमाः = वृक्ष, यदुत्सङ्गतले = जिस (पृथ्वी) की गोद में, विशालताम् = विशालता को, गताः = प्राप्त हुये; ताम् = उस, धात्रीम् = पृथ्वी की [अथवा पुत्रपक्ष में—पालनकर्त्री धाय की] फलगौरवेण = फलों के भार से [पुत्रपक्ष में—अतिशय पुण्य से], अतिमात्रनामितैः = अत्यधिक झुकाये हुये, शिरोभिः = अग्रभागों [पक्षान्तर में—मस्तकों] से, वन्दमानान् = वन्दना करते हुये, तान् = उन वृक्षों [अथवा-पुत्रों] का, स = वह नल, कथं न अभिनन्दति स्म = अभिनन्दन क्यों नहीं करते अर्थात् अवश्य करते।

भावार्थ—जिनका पालन पोषण पृथ्वी की गोद में हुआ था ऐसी अपनी माँ पृथ्वी को अपने फलों के आधिक्य से झुके हुये अग्रभागों से युक्त उन वृक्षों का राजा नल अभिनन्दन क्यों नहीं करते अर्थात् अवश्य ही अभिनन्दन करते।

संसार में भी—माता की गोद में पालपोषकर युवावस्था को प्राप्त हुये, विद्याध्ययन आदि के गौरव से अत्यन्त नतमस्तक हो अपनी माँ की वन्दना

करने वाले पुत्र को देखकर सज्जनपुरुष जिस भाँति उनका अभिनन्दन किया करते हैं उसी भाँति इस पृथ्वीतल पर वृद्धि को प्राप्त कर फलों के भार से अत्यन्त झुकी हुयी डालियों से युक्त वृक्षों का राजा नल ने अभिनन्दन किया।

अलङ्कार—इस श्लोक में भी विशेषण की सामर्थ्य से पुत्र की प्रतीति होने के कारण "समासोक्ति" अलङ्कार है।

व्याकरण—धात्रीम् = धा + ष्ट्रन् ["धा कर्मणि ष्ट्रन्" से] + ङीप्। नामितैः = नम् + णिच् + क्त = नामित (तृतीया बहुवचन में)।

समास—यदुत्सङ्गतले = यस्याः उत्सङ्गतले—इति। **धात्रीम्** = दधति याम् **अथवा** धयन्ति याम्—इति। **अतिमात्रनामितैः** = अतिमात्रं नामितानि अतिमात्रनामितानि तैः।

टिप्पणियाँ—यदुत्सङ्गतले = [पृथ्वी पक्ष में—] जिसके ऊपर के भाग में। [माता-पक्ष में—गोद में।] **विशालताम्** = विशालता को, वृद्धि को। पक्षान्तर में—युवावस्था को। **धात्रीम्** = पृथ्वी को, धाय को—उपमाता को। "धात्री स्यादुपमातापि क्षितिरप्यामलक्यपि"—इत्यमरः। **अतिमात्रनामितैः** = अत्यधिक झुके हुये—विनम्र हुये। **शिरोभिः** = अग्रभागों से (डालियों से), मस्तकों से। **वन्दमानान्** = वन्दना करते हुये—प्रणाम करते हुये।

प्रसङ्ग—वायु के कारण शीतलता आदि गुणों से युक्त दिन की धूप चाँदनी सदृश हो कर भी राजा नल को आनन्द नहीं दे सकी—

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुदः ॥९९॥

म०—अत्रातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति-नृपायेति। वनानिलैः उद्यानवातैः हिमं शीतलं कृतं हिमितं, तत्करोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। पुष्परसैर्वनवातानीतैः मकरन्दैः सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं शुभ्रीकृतम् अह्नो महस्तेजः अहर्मह आतपः 'रोः सुपी'ति रेफादेशः। तदेव कौमुदीति व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतोद्दीपिकैवाभूदिति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वय—वनानिलैः हिमितं पुष्परसैः सुधीकृतं केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं अहर्महः तस्मै वियोगिने नृपाय कौमुदी मुदः न अदत्त।

संस्कृत-व्याख्या—वनानिलैः = उद्यानवातैः, हिमितम् = शीतलीकृतम्,

पुष्परसैः = वनवातानीतैः मकरन्दैः, सुधीकृतम् = अमृतीकृतम्, केतकरेणुभिः = केतकीपुष्पपरागैः, सितम् = श्वेतम्, विनिर्मितम् = कृतम् [शुभ्रीकृतमित्यर्थः], अहर्महः = अह्नः दिवसस्य महः तेजः—आतपः–इत्यर्थः, तस्मै, वियोगिने = विरहिणे, नृपाय—राज्ञे नलाय, कौमुदीमुदः = चन्द्रिकाजनितान् प्रमोदान्, न अदत्त = न अददात्। प्रत्युत उद्दीपकमेवाभूदिति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—वनानिलैः = उद्यान की वायु से, हिमितम् = शीतल, पुष्परसैः = पुष्पों के रस से, सुधीकृतम् = अमृत सदृश किया हुआ, केतकरेणुभिः = केतकी के पुष्पों के पराग से, सितम् = धवल, अहर्महः = दिन का तेज, तस्मै वियोगिने नृपाय = उस विरही राजा के लिये, कौमुदीमुदः = चन्द्रमा की चाँदनी के सदृश आनन्द को, न अदत्त = प्रदान न कर सका।

भावार्थ—वायु द्वारा शीतलता को प्राप्त कराया गया हुआ, पुष्पों के मधु से अमृत के सदृश बनाया गया हुआ तथा केतकी के पुष्पों के परागों से शुभ्रता को प्राप्त कराया गया हुआ भी दिन का तेज (धूप) उस विरही राजा नल के लिये चाँदनी सदृश आनन्द को नहीं दे सका।

यद्यपि उपर्युक्त तीनों कारणों से शीतल, अमृत युक्त एवं शुभ्रवर्ण होने के कारण दिन की धूप चन्द्रमा की चाँदनी के समान सुखद हो रही थी किन्तु फिर भी वह धूप उस विरही राजा नल के लिये सुखद न बन सकी क्योंकि विरही व्यक्तियों के लिये चाँदनी भी दुखद तथा उद्दीपक ही हुआ करती है।

अलङ्कार—टीकाकार मल्लिनाथ ने "अहर्महः एवं कौमुदी तस्मै वियोगिने नृपाय मुदः न अदत्त" रूप में टीका कर यह स्पष्ट किया है कि दिन की धूप रूपी चन्द्रिका ने उस वियोगी राजा को आनन्दित नहीं किया। अतः इस दृष्टि से यहाँ "व्यस्तरूपक" अलङ्कार बनता है। किन्तु हमारे द्वारा की गयी उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर सभी सुखद कारणों से युक्त होने पर भी दिन की धूप राजा नल को सुख प्रदान रूपी कार्य की उत्पत्ति नहीं कर सकी—अतएव यहाँ "विशेषोक्ति" नामक अलङ्कार की मान्यता हो जाती है।

व्याकरण—हिमितम् = हिमं कृतं इति हिमितम्—हिम + णिच्—"तत्करोति तदाचष्टे" नामक वार्तिक से। तत्पश्चात् 'क्त' प्रत्यय होकर "हिमितम्" बनता है। **सुधीकृतम्** = सुधा + च्वि, ईत्व—कृ + क्त। **अहर्महः** = अह्नः महः इति अहर्महः—यहाँ "रोऽसुपि" सूत्र से अहन् के नकार के स्थान पर रेफादेश हो जाता है।

समास—हिमितम्=हिमं (शीतलं) कृतम् इति हिमितम् । अहर्महः = अह्नः महः इति अहर्महः (षष्ठी तत्पु०) ।

टिप्पणियाँ—वनानिलैः = उद्यान वायु के द्वारा । हिमितम् = शीतलता को प्राप्त कराया गया हुआ । पुष्परसैः = पुष्पों के मधु के द्वारा । सुधीकृतम् = अमृततुल्य बना दिया गया हुआ । अहर्महः = दिन का तेज (धूप) । कौमुदीमुदः = चाँदनी से प्राप्त होने वाले आह्लादक आनन्द को । न अदत्त—न दे सका ।

प्रसङ्ग—विरहावस्था में विद्यमान होने पर भी राजा नल का मुख चन्द्रमा की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा था—

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम् ।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताहूयत चन्द्रवैरिणी ॥१००॥

म०—वियोगेति । वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशुं प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अत एव रोषादद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणचक्षुषा पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूर्निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रकला अमावास्येति श्लिष्टरूपकं, 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपी'ति विश्वः । मुहुराहूयत आहूता किमित्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति संकरः । अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया स्यात् तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः ॥१००॥

अन्वय—वियोगभाजः अपि नृपस्य तत् आननं साक्षात् अमृतांशुं एव पश्यता रोषारुणचक्षुषा पिकेन मुहुः कुहूरुता चन्द्रवैरिणी आहूयत ।

संस्कृत-व्याख्या—वियोगभाजः = वियोगिनः, अपि, नृपस्य = राज्ञः नलस्य, तत् = प्रसिद्धम्, आननम् = मुखम्, साक्षात् अमृतांशुम्=प्रत्यक्षचन्द्रम्, एव, पश्यता = अवलोकयता, रोषारुणचक्षुषा = रोषेण क्रोधेन अरुणे रक्ते चक्षुषी नेत्रे यस्य तथाविधेन, पिकेन = कोकिलेन, मुहुः = वारंवारम्, कुहूरुता= कुहूः इति रुत् शब्दो यस्य तेन अथवा कुहूः इति रुत् शब्दः तया, चन्द्रवैरिणी= चन्द्रस्य वैरिणी विरोधिनी—अमावस्या [अथवा—[कुहूः] + उत्—निश्चयेन चन्द्रवैरिणी चन्द्रस्य हिमांशोः वैरिणी विरोधिनी, कुहूः = अमावस्या], आहूयत = आहूता किम् ?

हिन्दी-अनुवाद—वियोगभाजः = विरहातुर होने पर, अपि=भी, नृपस्य= राजा नल का, तद् आननम् = उस मुखको, साक्षाद् अमृतांशुम् एव = प्रत्यक्ष-रूप से चन्द्रमा ही, पश्यता = [देखने वाली] समझने वाली, रोषारुणचक्षुषा=

क्रोध के कारण रक्तवर्ण की आँखों वाली, पिकेन = कोयल ने, मुहुः = बार-बार, कुहूरुता = "कुहू" कुहू" शब्द करके, चन्द्रवैरिणी = चन्द्रमा की शत्रु अमावस्या को, आहूयत = बुला लिया।

भावार्थ—विरहावस्था में विद्यमान होने पर भी राजा नल के मुख को प्रत्यक्षरूप से चन्द्रमा ही समझते हुये [राजा नल का मुख विरही होने पर भी मलिन नहीं हुआ अपितु चन्द्रमा के समान ही सुन्दर है ऐसा सोचकर] क्रोध के कारण लाल नेत्रों वाली तथा "कुहू" शब्द करने वाली कोयल ने चन्द्रमा की विरोधिनी ["कुहू" अर्थात् अदृष्ट चन्द्रकलावाली अमावस्या की तिथि] अमावस्या को ही बुला लिया [अथवा—निश्चित ही चन्द्रमा की विरोधिनी कुहू (अमावस्या) को बुला लिया।

अलङ्कार—कोयल की बोली का शब्द "कुहू" है। "कुहू" नाम अमावस्या का भी है "कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपि" इति विश्वः"। अतः यहाँ यह संभावना की गयी है कि मानों कोयल अपने "कुहू-कुहू" शब्द के द्वारा अमावस्या का आह्वान कर रही हो। अतएव उक्त श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है॥ "कुहूरुताहूयत" में "सभङ्ग श्लेष" अलङ्कार भी है—(१) कुहूरुता आहूयत—(२) कुहूः (अमावस्या) उत आहूयत।

व्याकरण—वियोगभाक् = वियोग + भज् + ण्वि।

समास—वियोगभाजः = वियोगं भजते इति वियोगभाक् तस्य। **अमृतांशुम्** = अमृतमया अंशवो यस्य स अमृतांशुः (बहुव्रीहि) तम्। **रोषारुणचक्षुषा** = रोषेण अरुणी चक्षुषी यस्य स रोषारुणचक्षुः (बहुव्रीहि) तेन। **कुहूरुता** = कुहूः इति रुत् यस्य स (बहुव्रीहि), तेन अथवा—कुहूः एव रुत् (कर्मधारय),।

टिप्पणियाँ—वियोगभाजः = विरही होने पर अथवा वियोगी। **साक्षात्** = प्रत्यक्षरूप से। **अमृतांशुम्** = चन्द्रमा को। **रोषारुणचक्षुषा** = क्रोध के कारण रक्तवर्ण (लाल) के नेत्रों से युक्त। **कुहूरुता** = "कुहू-कुहू" शब्द करने वाली कोयल ने। अथवा—"कुहूः" इस शब्द के द्वारा। अथवा—"उत चन्द्रवैरिणी कुहूः आहूयत" इस प्रकार का अन्वय किये जाने पर—अर्थ होगा—"निश्चय ही चन्द्रमा की विरोधिनी अमावस्या को"। कोयल के नेत्र स्वाभाविकरूप से ही लाल हुआ करते हैं तथा वह "कुहू-कुहूः" शब्द भी किया करती है। **आहूयत** = बुला लिया अथवा बुलाया।

प्रसङ्ग—राजा नल ने अशोक वृक्ष को रक्षा करते हुये के सदृश माना—

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान्।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥ १०१ ॥

म०—अशोकमिति। एष नलः पल्लवैः प्रतीष्टानि प्रतिगृहीतानि संच्छन्नानि कामस्य ज्वलदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि छादकानि बालमुकुलगुच्छा येन तं पल्लवसंच्छन्नकुसुमरूपकामास्त्रमित्यर्थः। अन्यथा तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः। अशोकमत एवार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्नित्यन्वर्थसंज्ञा तत्कृतया आशया अस्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलाषेण शरणे रक्षणे साधु समर्थं शरण्यं मत्वेति शेषः। 'शरणं रक्षणे गृह' इति विश्वः, 'तत्र साधुरि'ति यत्प्रत्ययः। आगतान् शरणागतानित्यर्थः। गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः। गृहः पत्न्यां गृहे स्मृत' इति विश्वः। अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव शरणागतरक्षणे महाफलस्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः। अमन्यत ज्ञातवान्। अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भावः ॥ १०१ ॥

अन्वय—एषः पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकं अशोकं अर्थान्वितनामताशया शरण्यं गतान् गृहशोचिनः अध्वगान् अवन्तमिव अमन्यत।

संस्कृत-व्याख्या—एषः = नलः, पल्लवैः, प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् = प्रतीष्टं स्वीकृतं कामस्यकन्दर्पस्य ज्वलत् आरक्तं अस्त्रजालकं अस्त्रसमूहः येन तथाविधम्, अशोकम् = अशोकवृक्षम्, अर्थान्वितनामताशया = अर्थेन 'यत्सेवया शोको न भवति' इत्येवं रूपेण अन्वितं अन्वर्थं नाम यस्य तस्य भावः अर्थान्वितनामता तस्यां आशया 'अस्मानपि अशोकान् करिष्यति' इत्यभिलापेण, शरण्यम् = शरणे रक्षणे साधुं समर्थम्, गतान् = प्राप्तान् [अथवा = आगतान् शरणागतानित्यर्थः], गृहशोचिनः = गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः, अध्वगान् = प्रोपितान् पथिकान्, अवन्तमिव = रक्षन्तमिव, अमन्यत = ज्ञातवान्। अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय—इति भावः ॥

हिन्दी-अनुवाद—एषः = इस (राजा) नल ने, पल्लवैः = नूतन पत्रों के रूप में, प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् = कामदेव के जलते हुये (दीप्तिमान्) अस्त्रसमूह को धारण किये हुये, अशोकम् = अशोकनामक वृक्ष को, अर्थान्वितनामताशया = यथार्थ नाम [शोक-रहित] से युक्त होने की आशा से,

शरण्यम् = शरणागत रक्षक तथा, गतान् = पास में प्राप्त हुये अथवा आये हुये, गृहशोचिनः = [विरह के कारण] पत्नी की चिन्ता करने वाले, अध्वगान् = पथिकों की, अवन्तमिव = रक्षा करते हुये के समान, अमन्यत = माना अथवा समझा।

भावार्थ—"शोकरहित" को 'अशोक' कहा जाता है। ऐसे सार्थक नाम की आशा से पास में गये हुये, अपनी अपनी स्त्रियों के बारे में चिन्ता मग्न परदेश जाते हुए पथिकों की, पल्लवों के द्वारा कामदेव के जलते अस्त्र सदृश कलियों के गुच्छों को छिपाये हुये [अथवा—लाल-लाल नवीन कोपलों से कामदेव के जलते हुये अस्त्र को अपने शरीर पर ग्रहण किये हुये, अतएव] शरण में आये हुये लोगों के लिये साधु (श्रेष्ठ) अशोक को राजा नल ने अपने रक्षक के रूप में माना [अथवा—कामदेव के जलते हुये अस्त्र को स्वीकार कर परदेश गये हुये पथिकों को पल्लवों से मारते हुये अशोक के वृक्ष को राजा नल ने वध करने वालों में श्रेष्ठ माना।]।

संसार में भी देखने को मिलता है कि सज्जन पुरुष शरण में आये हुये व्यक्ति की रक्षा अवश्य किया करते हैं, चाहे उन्हें उसके शत्रुओं के अस्त्रों के प्रहारों को क्यों न सहन करना पड़े। ऐसे ही अशोक का वृक्ष भी अपने सार्थक नाम से युक्त था। वह अपनी शरण में आये हुये काम-बाणों से आहत पथिकों को शोक रहित करने में समर्थ था। अतः राजा नल ने अशोक वृक्ष को सार्थक नाम से युक्त समझा।

अथवा—जो पथिक अशोक वृक्ष की शरण में रक्षार्थ गये थे उनको अशोक वृक्ष ने अपने कलियों के गुच्छों के रूप में विद्यमान कामास्त्रों द्वारा मारा [अर्थात् अशोक वृक्ष के नवीन रक्तवर्ण के पत्तों से अच्छादित कलियों के गुच्छों को देखकर राजा नल की काम-पीड़ा और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हुयी]। अतएव राजा नल ने उस अशोक वृक्ष को वध करने वालों में श्रेष्ठ माना।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में सापह्नव उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—अर्थान्वितनामता—अर्थान्वितनामन् + तल् + टाप्। शरण्यम् = शरण + यत्। गृहशोचिनः = गृह=शुच् + णिनि (कर्त्ता अर्थ में)। अवन्तम् = अव + लट्—शतृ।

समास—प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् = ज्वलन्ति अस्त्राणि ज्वलद-

स्त्राणि (कर्मधारय) तेषां जालकम् इति ज्वलदस्त्रजालकम्, कामस्य ज्वलदस्त्र-जालकम् (षष्ठी तत्पु०), प्रतीष्टं कामज्वलदस्त्रजालकम् येन सः (बहुव्रीहि), तम् । **अर्थान्वितनामताशया** = अर्थेन अन्वितम्—अर्थान्वितम् (तृतीया तत्पु०), अर्थान्वितं नाम यस्य स अर्थान्वितनामा (बहुव्रीहि), तस्य भावः अर्थान्वितनामता, तस्याः आशा (षष्ठी तत्पु०) इति अर्थान्वितनामताशा तया । **शरण्यः** = शरणे साधुः शरण्यः । **गृहशोचिनः** = गृहान् शोचन्तीति गृहशोचिनः ।

टिप्पणियाँ—पल्लवैः = नवीन पत्तों (कोपलों) के द्वारा । **प्रतीष्ट-कामज्वलदस्त्रजालकम्** = (विशेषण) इस पद के कई अर्थ हो सकते हैं (१) पल्लवों द्वारा आच्छादित कर लिया है कामदेव के जलते हुये अस्त्र समूह को जिसने । अर्थात् अशोक वृक्ष ने कामदेव के अस्त्रों के प्रहार को पथिकों पर नहीं होने दिया प्रत्युत अपने पल्लवों द्वारा उनको छिपा लिया अथवा ढक लिया । इसी कारण उसके पल्लव रक्तवर्ण के हो गये । (२) मल्लिनाथ ने "प्रतीष्ट" का अर्थ "ढका हुआ" किया है और "अस्त्रजालकं" में रूपक की कल्पना की है । उनके अनुसार अर्थ होगा—अपने पल्लवों द्वारा ढक लिये हैं कामदेव के जलते हुये अस्त्र रूपी जाल को (पुष्पगुच्छक) जिसने । अर्थात् पुष्पों के गुच्छ ही कामदेव के जलते हुये अस्त्र थे । उनको छिपाने मात्र से अशोक वृक्ष पथिकों की रक्षा करने में समर्थ हो रहा था । "क्षारको जालकं क्लीबे कलिका कोरकः पुमान्" इत्यमरः । **अर्थान्वितनामताशया** = सार्थक नाम से युक्त होने की आशा से । कहने का तात्पर्य यह है कि "अशोक" शब्द का अर्थ ही है जिससे शोक न हो अथवा जो शोक से रहित हो । उसी अर्थ को ध्यान में रखते हुये पथिक लोग अशोक वृक्ष की शरण में इसी आशा से जाया करते हैं कि वह हमारे "शोक" को दूर कर देगा । **शरण्यम्** = शरणागतों का रक्षक अथवा शरणागतवत्सल । "शरणं वधरक्षित्रोः शरणं रक्षणे गृहे" इति विश्वः । **गृहशोचिनः** = अपनी अपनी पत्नियों की चिन्ता करने वाले । "गृहः पत्न्यां गृहे स्मृतः" इति विश्वः । **अध्वगान्** = पथिकों को, राहगीरों को । **अवन्तम्** = रक्षा करते हुये । **अमन्यत** = माना अथवा समझा ।

प्रसङ्ग—उस उद्यान में नृत्य, गीत एवं वाद्य रूप संगीत के द्वारा राजा नल की सेवा की गयी—

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्य्यत्रिकमारराध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ? ॥

म०—विलासेति । विलासवापी विहारदीर्घिका तस्यास्तटे वीचीनां वादनात्पिकानामलीनाञ्च गीतेर्गानात् शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नलं तौर्य्यत्रिकं नृत्य गीत वाद्य त्रयं कर्त्तृ, आरराध आराधयामास । तथा हि—भाग्यभाक् भाग्यवान् जनः क्व भुज्यत इति भोगः तं सुखं नाप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १०२ ॥

अन्वय—विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् तौर्यत्रिकं वने अपि तं आरराध । भाग्यभाक् जनः क्व भोगं न आप्नोति ।

संस्कृत-व्याख्या—विलासवापीतटवीचिवादनात् = विलासवापी विहारदीर्घिका तस्याः तटे तीरे वीचीनां तरङ्गाणां वादनात् नादात्, पिकालिगीतेः = पिकानां कोकिलानां अलीनां च भ्रमराणां च गीतेः गानात्, शिखिलास्यलाघवात् = शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात्, तौर्यत्रिकम् = नृत्यगीतवाद्यत्रयम्, वने अपि = उद्यानेऽपि, तम् = नलम्, आरराध = आराधयामास । भाग्यभाक् = भाग्यवान्, जनः = पुरुषः, क्व = कुत्र, भोगम् = सुखं सुखसाधनं वा, न आप्नोति = न प्राप्नोति ? सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः ।

हिन्दी-अनुवाद—विलासवापीतटवीचिवादनात् = क्रीडा करने सम्बन्धी बावली के किनारे तरंगों के वादन द्वारा, पिकालिगीतेः = कोयलों तथा भ्रमरों के गीत द्वारा, शिखिलास्यलाघवात् = मयूरों द्वारा किये गये विशिष्ट नृत्य द्वारा, तौर्यत्रिकम् = नृत्य, गीत और वाद्य—तीनों प्रकार के संगीत द्वारा, वने अपि = उस उद्यानरूपी वन में भी, तम् = उस राजा नल की, आरराध = आराधना (सेवा) की गयी । [क्योंकि] भाग्यभाक् = भाग्यशाली, जनः = पुरुष, क्व = कहाँ, भोगम् = सुख अथवा सुख सम्बन्धी साधनों से प्राप्त किये जाने वाले भोग को, न आप्नोति = नहीं प्राप्त कर लिया करता है ? अर्थात् भाग्यशाली पुरुष सभी स्थानों पर आवश्यक भोगों की प्राप्ति कर ही लिया करते हैं ।

भावार्थ—क्रीड़ा सम्बन्धी बावड़ी के किनारे पर तरङ्गों के बजने (शब्द करने) से, कोयलों और भ्रमरों के गान से तथा मयूरों द्वारा प्रस्तुत किये गये नृत्य-चातुर्य से वन में भी उस राजा नल की वादन, गायन तथा नर्तन रूप

संगीत ने सेवा की। भाग्यशाली पुरुष कहाँ पर भोग की प्राप्ति नहीं कर कर पाता है? अर्थात् भाग्यशाली व्यक्ति भोग-विलास सम्बन्धी साधनों को सर्वत्र ही प्राप्त कर लिया करता है।

यद्यपि विरही राजा नल के लिये वे सभी भोग-साधन (वादन आदि) कामोद्दीपक ही थे तथापि वन की बावली, वृक्ष एवं प्राणियों द्वारा राजा को सुख पहुँचाना उनका कर्तव्य था। इस कारण वे सभी अपने अपने कर्तव्य में संलग्न थे। राजा नल अपने महल में काम-पीड़ा से संतप्त थे और वे उस उद्यान में विनोदार्थ आये थे। अतएव उद्यान में विद्यमान सभी चर, अचर पदार्थों और प्राणियों का कर्तव्य था कि वे उनका विनोद करें।

इस भाँति यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि काम-पीड़ा की शान्ति हेतु राजा नल उस उद्यान में पधारे थे किन्तु फिर भी वे वहाँ पर अपनी काम-पीड़ा से छुटकारा न प्राप्त कर सके।

अलंकार—इस श्लोक में सामान्य द्वारा विशेष का समर्थन किये जाने के कारण "अर्थान्तरन्यास" नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—तौर्य्यत्रिकम्=तूर्य + अण् = तौर्य। **आरराध** = आ + रा + लिट्। भाग्यभाक् = भाग्य + भज् + ण्वि।

समास—विलासवापीतटवीचिवादनात् = विलासार्थं वापी विलास-वापी (चतुर्थी तत्पु०), तस्याः तटम् (षष्ठी तत्पु०) इति विलासवापीतटम् तस्मिन् वीचिवादनम् [वीचीनां वादनम् (षष्ठी तत्पु०) वीचीवादनम्], तस्मात्। **पिकालिगीतेः** = पिकाश्च अलयश्च इति पिकालयः (द्वन्द्व), तेषां गीतिः इति, तस्याः। **शिखिलास्यलाघवात्** = शिखिनां लास्यं—शिखिला-स्यम् तस्य लाघवम् (षष्ठी तत्पु०), तस्मात्। **तौर्य्यत्रिकम्** = तौर्य्याणां त्रिकम् (षष्ठी तत्पु०) इति तौर्यत्रिकम्। **भाग्यभाक्** = भाग्यं भजते इति भाग्यभाक्।

टिप्पणियाँ—विलासवापीतटवीचिवादनात् = विहार अथवा क्रीडा के निमित्त बनायी गयी बावली के किनारे तरङ्गों (लहरों) के वादन (शब्द) से। **पिकालिगीतेः** = कोयलों तथा भ्रमरों के गान से। **शिखिलास्यलाघ-वात्** = मोरों के द्वारा किये गये नृत्य-चातुर्य्य से। **तौर्य्यत्रिकम्** = वाद्य, गीत और नृत्य—इन तीनों के समुदाय का ही नाम तौर्य्यत्रिक है। **आरराध** = आराधना अथवा सेवा की। **भाग्यभाक्** = भाग्यशाली अथवा भाग्यवान्। **आप्नोति** = प्राप्त करता है।

प्रसङ्ग—अभ्यस्त तोतों (शुकों) के द्वारा नल की स्तुति की गयी तथा शिक्षित सारिकाओं ने उसके पौरुष का गान किया—

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन् ।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥ १०२ ॥

म०—तदर्थमिति । जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन् । तथैव शुकवदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः कृता गायनीकृताः शारिकाः शुकवध्वः स्वरामृतेन मधुरस्वरेणेत्यर्थः उपजगुश्च ॥ १०२ ॥

अन्वय—जनेन तदर्थं अध्याप्य तद् वने विमुक्ताः पटवः शुकाः तं अस्तुवन् । । च तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः शारिकाः स्वरामृतेन उपजगुः ।

संस्कृत-व्याख्या—जनेन = सेवकजनेन, तदर्थम् = नलप्रीत्यर्थं, अध्याप्य= स्तुतिं पाठयित्वा, तद्वने = तस्मिन् उद्याने, विमुक्ताः = विसृष्टाः, पटवः = स्फुटगिरः, शुकाः = कीराः, तम् = नलम्, स्तुवन् = तुष्टुवुः । च, तथैव = तेनैव प्रकारेण (शुकवदेव—इत्यर्थः), तत्पौरुषगायनीकृताः = तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यः गायकाः कृता गायनीकृताः, शारिकाः = शुकवध्वः, स्वरामृतेन = मधुरस्वरेण—इत्यर्थः, उपजगुः = अगायन् ।

हिन्दी-अनुवाद—जनेन = सेवक जनों के द्वारा, तदर्थम् = नल को प्रसन्न करने के लिये, अध्याप्य = सिखा पढ़ाकर, तद्वने = उस उद्यान में, विमुक्ताः = छोड़े गये हुये, पटवः = स्पष्ट वाणी से युक्त अथवा चतुर, शुकाः = शुकों (तोतों) ने, तम् = उस राजा नल की, अस्तुवन् = स्तुति की । च = और, तथैव = उसी प्रकार से [शुकों के ही समान], तत्पौरुषगायनीकृताः = उस राजा नल के पराक्रम का गायन करने वाली, शारिकाः = मैनाओं ने, स्वरामृतेन = अमृत सदृश मधुर स्वर द्वारा, उपजगुः = [उस राजा नल के पराक्रम का] गान किया ।

भावार्थ—उस राजा नल को प्रसन्नता प्रदान करने के लिये भली-भाँति शिक्षित किये गये हुये चतुर स्पष्ट उच्चारण करने में दक्ष अथवा अभ्यस्त [स्तुति का उचितरूप में उच्चारण करने में समर्थ] शुकों (तोतों) द्वारा उस राजा नल की स्तुति की गयी । और उसी भाँति राजा नल के पराक्रम संबन्धी

गानों का गान करने में अभ्यस्त एवं शिक्षित सारिकाओं (मैनाओं) ने भी अमृततुल्य मधुर स्वर से राजा नल के पुरुषार्थ एवं पराक्रम का गान किया।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में जाति अलङ्कार है।

व्याकरण—अध्याप्य = अधि + इ + णिच्, पुक् + क्त्वा—ल्यप्। तत्पश्चात् "क्रीङ्जीनां णौ" सूत्र से आत्व। **गायनी** = गै + ण्युट—अन् + ङीप्। **गायनीकृताः** = गायनी + च्वि + कृ + क्त + टाप्। **उपजगुः** = उप + गै + लिट्—झि—उस् द्वित्व—आदि होकर।

समास—**तत्पौरुषगायनीकृताः** = तस्य पौरुषं इति तत्पौरुषम्, तस्य गायनीकृताः (षष्ठी तत्पु०)। **स्वरामृतेन** = स्वरः अमृतमिव इति स्वरामृतम् (उपमित समास), तेन।

टिप्पणियाँ—जनेन = सेवक लोगों द्वारा अथवा लोक के द्वारा। **तदर्थम्** = उस राजा नल को प्रसन्नता प्रदान करने के निमित्त। **अध्याप्य** = शिक्षित अथवा अभ्यस्त—सिखा पढ़ाकर। **विमुक्ताः** = छोड़े गये हुये। **पटवः** = चतुर, स्पष्ट वाणी से युक्त। **अस्तुवन्** = स्तुति की। **तथैव** = उसी प्रकार से कि जैसे शुकों को शिक्षित किया गया था उसी प्रकार से भलीभाँति सिखायी पढ़ायी गयी हुयीं। **तत्पौरुषगायनीकृताः** = उस राजा नल के पुरुषार्थ अथवा पराक्रम सम्बन्धी गानों को गाने में शिक्षित की गयी हुयीं। **स्वरामृतेन** = अमृत सदृश मधुर स्वर के साथ। **उपजगुः** = गान किया।

प्रसङ्ग—इस भाँति वन में भ्रमण करते हुये शुकों एवं सारिकाओं से स्तुत होने पर भी राजा नल ने केवल बाहरी आनन्द की तो अनुभूति की किन्तु दमयन्ती-विरह के कारण आन्तरिक आनन्द की अनुभूति वे न कर सके—

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥१०४॥

म०—इतीति। इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यमिष्टसौगन्ध्यसम्पन्नं वनमटन्, 'देशकालाध्वगन्तव्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणामि'ति वनस्य देशत्वात् कर्मत्वम्। असौ नलः पिकैः कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकैः स्तुतोऽपि च परं केवलं 'परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवल' इति विश्वः। बहिरामोदभरं सौरभ्यातिरेकमेवाविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमानन्दातिरेकरूपन्नाविन्दत न

लब्धवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भावः 'आमोदो गन्धहर्षयोरि'ति विश्वः ॥ १०४ ॥

अन्वय—इति इष्टगन्धाढ्यं वनं अटन् पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च बहिश्चरं आमोदभरं अविन्दत, विदर्भसुभ्रूविरहेण आन्तरं [आमोदभरं न अविदन्त]।

संस्कृत-व्याख्या—इति = इत्थम्, इष्टगन्धाढयम् = इष्टेन अभीष्टेन गन्धेन आढ्यम् समृद्धम्, वनम् = उद्यानम्, अटन् = भ्रमन् [सन्] पिकोपगीतोऽपि = पिकैः कोकिलैः उपगीतः स्तुतः अपि, शुकस्तुतः अपि = शुकैः कीरैः स्तुतः अपि, च असौ = नलः, बहिश्चरम् = वाह्यम्, आमोदभरम् = हर्षातिशयम्, अविन्दत = लब्धवान् । विदर्भसुभ्रूविरहेण = विदर्भसुभ्रूः दमयन्ती तस्याः विरहेण वियोगेन, आन्तरम् = आन्तरिकम्, [आमोदभरम्], न = नहि, अविंन्दत = लब्धवान् ।

हिन्दी-अनुवाद—इति = इस प्रकार, इष्टगन्धाढ्यम् = अभीष्ट गन्ध से समृद्ध, वनं अटन् = वन में भ्रमण करते हुये, पिकोपगीतोऽपि = कोयलों द्वारा गान किये जाने पर भी, शुकस्तुतः अपि = शुकों द्वारा स्तुति किये जाने पर भी, असौ = इस राजा नल ने, बहिश्चरम् = बाह्य, आमोदभरम् = आनन्दातिशय को, अविन्दत = प्राप्त किया, किन्तु, विदर्भसुभ्रूविरहेण = विदर्भसुन्दरी (दमयन्ती) के विरह के कारण, आन्तरम् = आन्तरिक, आमोदभरम् = आनन्द को, न अविन्दत = नहीं प्राप्त किया ।

भावार्थ—इस प्रकार अभीष्ट सुगन्ध आदि से परिपूर्ण उद्यान में भ्रमण करते हुये तथा कोयलों एवं शुकों द्वारा अपने गान तथा स्तुति द्वारा प्रसन्न कर दिये जाने पर भी उस राजा नल ने वाहरी आनन्द की तो अनुभूति की किन्तु दमयन्ती के विरह के कारण आन्तरिक (हार्दिक) आनन्द की अनुभूति उनको न हो सकी ।

अलंकार—उक्त श्लोक में आनन्द-प्राप्ति की सम्पूर्ण सामग्री के विद्यमान होने पर भी राजा को आन्तरिक आनन्द की अनुभूति हो सकने रूपी कार्य के न होने के कारण "विशेषोक्ति" अलङ्कार है ।

व्याकरण—बहिश्चरम् = बहिस् + चर् + ट । आन्तरम् = अन्तर् + अण् ।

समास—इष्टगन्धाढ्यम् = इष्टोगन्धः (कर्मधारय) इति इष्टगन्धः तेन आढयम् (तृतीया तत्पु०) **बहिश्चरम्** = बहिः चरतीति बहिश्चरम् ।

टिप्पणियाँ—स्वगन्धवासम् = अपने को ग्रंथ सुगन्ध आदि से परिपूर्ण। अटन् = घूमते हुये। वहिश्चरम् = बाह्य, बाहरी। आमोदभरम् = हर्षातिशय को, आनन्द को। अविन्दन्त = प्राप्त किया। विदर्भसुभ्रूविरहेण = विदर्भ देश की सुन्दर भौंहों वाली "दमयन्ती" के विरह के कारण। आन्तरम् = आन्तरिक, भीतरी, हार्दिक।

प्रसङ्ग—उस उद्यान में भ्रमण करते हुये राजा नल कामदेव के तुल्य ही समझे गये—

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया।
व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥१०५॥

म०—करेणेति। स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं द्रुमालवालाम्बु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत् तादृक् शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुघने सर्वर्तुसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा ॥ १०५ ॥

अन्वय—स निजकेतनं मीनं द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया करेण दधत् सर्वर्तुघने अत्र वने मित्रं मधुं अनुसरन् स्मर इव व्यतर्कि।

संस्कृत-व्याख्या—स = नलः, निजकेतनम् = निज (चक्रवर्ति—) चिह्नम्, मीनम्, लक्षणभूतरेखारूपमत्स्यम्, द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया = द्रुमाणां वृक्षाणां आलवालेषु आवापेषु यत् अम्बु जलं तस्मिन् निवेशः प्रवेशः तस्य शङ्कया भिया, करेण = हस्तेन, दधत् = धारयन्, सर्वर्तुघने = सर्वर्तुसङ्कुले, अत्र = अस्मिन्, वने = विपिने, मित्रम् = सखायम्, मधुम् = वसन्तम्, अनुसरन् = अन्विष्यन्, स्मर इव, काम इव, व्यतर्कि = अमन्यत तत्रस्थजनैरिति शेषः।

हिन्दी-अनुवाद—सः = वे राजा नल, निजकेतनं मीनम् = अपने (चक्रवर्ती होने सम्बन्धी) चिह्न स्वरूप मत्स्य (मछली की रेखा) को, द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया = वृक्षों के आलवाल (थावलों के) के जल में प्रविष्ट हो जाने की शंका से, करेण दधत् = हाथ में धारण किये हुये, सर्वर्तुघने = सम्पूर्ण ऋतुओं से व्याप्त, अत्र वने = इस वन में, मित्रं मधुम् = [अपने] मित्र वसन्त को, अनुसरन् = खोजते हुये, स्मर इव = कामदेव के सदृश, व्यतर्कि = समझे गये।

भावार्थ—उस उद्यान में विद्यमान सभी लोगों ने राजा नल को साक्षात्

कामदेव ही समझा। उस वन में सभी ऋतुयें विद्यमान थीं। राजा नल द्वारा ऋतुराज वसन्त का अनुगमन किया जा रहा हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था। चक्रवर्ती होने की दृष्टि से उनके हाथ में मत्स्य का चिह्न भी था। अतः मकर-केतन तथा वसन्त का मित्र होने के नाते वहाँ स्थित लोगों ने राजा को कामदेव ही समझा।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में अनुप्रास तथा उत्प्रेक्षा दोनों ही अलङ्कार प्रयुक्त हुये हैं।

व्याकरण—दधत् = धा + शतृ। व्यतर्कि = वि + तर्क् + लुङ् [कर्मणि]।

समास—**द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया** = आलूयते खन्यते इति आलवालम्, द्रुमाणां आलवालानि (षष्ठी तत्पु०) इति द्रुमालवालानि, तेषु अम्बु, तस्मिन् निवेशः इति द्रुमालवालाम्बुनिवेशः, तस्य शङ्का (षष्ठी तत्पु०), तया। **सर्वर्तुघने** = सर्वे च ते ऋतवः (कर्मधारय) सर्वर्तवः, तैः घनम् इति-सर्वर्तुघनम् तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—**निजकेतनम्** = अपना चिह्न। मीनम् = मछली—राजा नल के हाथ में मछली (मत्स्य) की रेखा थी जो कि चक्रवर्ती राजा होने की सूचक कही गयी है। कामदेव का ध्वज भी मत्स्य के चिह्न से युक्त हुआ करता है। **द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया** = वृक्षों के आलवाल (थालों) के पानी में प्रविष्ट हो जाने के भय से। "स्यादालवालमावालमावापः" इत्यमरः। करेण = हाथ से। **दधत्** = धारण किये हुये—पकड़े हुये। **सर्वर्तुघने** = सभी ऋतुओं से युक्त। **अनुसरन्** = अनुसरण करते हुये—खोजते हुये। व्यतर्कि= संभावित किये गये अथवा समझे गये अथवा समझा।

विशेष—राजा नल के हाथ में मकर-रेखा का चिह्न विद्यमान था जिसे चक्रवर्ती होने का लक्षण माना जाता है। दैवत-कथा के अनुसार कामदेव का ध्वजचिह्न भी 'मकर' माना गया है। अतः यहाँ पर यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि मानो नल साक्षात् कामदेव ही था जिसने अपने ध्वजचिह्न मकर को इस भय से कि कहीं वह वृक्षों के आलवाल (थावलों) के जल में प्रविष्ट न हो जाय, हाथ में ही पकड़ रखा था और जो एक साथ ही सभी ऋतुओं से संयुक्त उस वन में, अपने मित्र वसन्त को खोजने के निमित्त आया हुआ था।

प्रसङ्ग—वन (अथवा उद्यान) की वायु ने भी राजा नल की सेवा की—

लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः॥ १०६॥

म०—लतेति। लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टेति मान्द्योक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां पश्यतोहरः पश्यन्तमनादृत्य हरः प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः। 'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' इतिहलायुधः पचाद्यच् 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी। 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वि'ति वक्तव्यादलुक्। सौरभ्ययुक्तं मधुमकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तत्र प्रणीतलीलाप्लवनः। एतेन कृतलीलावगाहन इति शैत्योक्तिः, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत गुणवान् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः॥१०६॥

अन्वय—लतावलालास्यकलागुरुः तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनानिलः अमुं असेवत।

संस्कृत व्याख्या—लतावलालास्यकलागुरुः = लतारूपाः अवलाः स्त्रियः तासां लास्यकला नृत्यविद्या तस्याः गुरुः शिक्षकः, तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः= तरूणां प्रसूनानि पुष्पाणि तेषां गन्धोत्करस्य गन्धसमूहस्य पश्यतोहरः चौरः—[प्रसह्य अपहर्त्ता —इत्यर्थः] मधुगन्धवारिणि = मधुमकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तस्मिन्, प्रणीतलीलाप्लवनः = प्रणीतं कृतं लीला प्लवनं जलक्रीडा येन तादृशः, वनानिलः = उद्यानवातः, अमुम् = नलम्, असेवत् = सेवितवान्। गुणी सेवकः सेव्यप्रियो भवतीत्यभिप्रायः।

हिन्दी अनुवाद—लतावलालास्यगुरुः = लतारूपी स्त्रियों को नृत्यकला सिखाने वाले, तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः = वृक्षों के पुष्पों से गन्ध-समूह का अपहरण करने वाले, मधुगन्धवारिणि = मकरन्द रूपी गन्धयुक्त जल में, प्रणीतलीलाप्लवनः = जलक्रीडा करने वाले [अथवा पराग से सुगन्धित जल में क्रीडा करने वाले], वनानिलः = वन या उद्यान की वायु ने, अमुम् = राजा नल की, असेवत = सेवा की।

भावार्थ—लतारूपिणी नायिका को नृत्यकला सिखलाने वाले, वृक्षों के फूलों से गन्धसमूह को हरण करने वाले तथा पुष्परस रूपी सुगन्धित जल में [अथवा—राजा नल के 'मधुगन्ध' नामक सरोवर के जल में] क्रीडा करने वाले वायु ने राजा नल की सेवा की। उपर्युक्त तीनों विशेषणों द्वारा वायु का मन्द, सुगन्ध तथा शीतल होना सूचित होता है। राजा नल के लिये यह शुभशकुन का सूचक है।

अलङ्कार—इस श्लोक में रूपक तथा अनुप्रास अलङ्कार है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—पश्यतोहरः = पश्यतः + हृ + अच् । इस स्थल पर "षष्ठी चानादरे" सूत्र से षष्ठी विभक्ति हुयी तथा "वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु" से षष्ठी का 'अलुक्' हो गया है ।

समास—लताबलालास्यगुरुः—लतारूपाः अबलाः—इति लताबलाः तासां लास्यकला, तस्याः गुरुः [षष्ठी तत्पु०] । **तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः**=पश्यन्तमनादृत्य हरति यः स पश्यतोहरः । तरूणां प्रसूनानि इति तरुप्रसूनानि तेषां गन्धोत्करस्य पश्यतोहरः—इति । **मधुगन्धवारिणि**=मधु एव गन्धवारि तस्मिन् । अथवा मधुनः गन्धः मधुगन्धः तेन युक्तं वारि, तस्मिन् । **प्रणीतलीलाप्लवनः** = प्रणीतं लीलाप्लवनं येन सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—लताबलालास्यकलागुरुः = लतारूपी स्त्रियों को लास्य नृत्य सिखलाने वाले । **तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः**=वृक्षों के पुष्पों की सुगन्धिसमूह का अपहरण-कर्त्ता [अथवा-चोर] "पश्यतो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः" इति हलायुधः । **मधुगन्धवारिणि**=मधुररस रूपी सुगंधित जल में अथवा पराग से सुगन्धित जल में । कुछ विद्वानों का कथन है कि "मधुगन्ध नामक कोई सरोवर नल के उद्यान में विद्यमान था । **प्रणीतलीलाप्लवनः** = जलक्रीडा करने वाला अथवा क्रीडा के साथ तैरने वाला ।

प्रसंग—राजा नल ने अपने उस उद्यान में स्थित क्रीडा सरोवर को समुद्र के समान देखा—

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपान्निधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥१०७॥

म०—अथेति । अथ वनावलोकनानन्तरं मन्थनाद्भयेन धनार्थं पुनर्मथिष्यतीति भयादित्यर्थः चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनं 'चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्य'इति त्न प्रत्ययः । तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपी'त्यमरः । स्वं धनमादाय तस्मिन् वने निलीयान्तर्धाय निवसन् वर्त्तमानोऽपान्निधिरिवेत्युत्प्रेक्षा । तेन नलेन तडागः सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा ददृशे दृष्टः ॥१०७॥

अन्वय—अथ अवनीभुजा, मन्थनात् भयेन चिरात् उच्चितं चिरत्नरत्नाधिकं स्वं आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् अपान्निधिः [इव] तडागः ददृशे ।

संस्कृत व्याख्या—अथ = वनावलोकनानन्तरम्, अवनीभुजा = राज्ञा,

भयेन = धनार्थं पुनः मथिष्यति--इति भयादित्यर्थः, चिरात्=बहुकालेन, उच्चितम्=संचितम्, चिरत्नरत्नाधिकम्=चिरत्नं चिरातनं पुरातनं वा रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तुभूयिष्ठम्, स्वम्=धनम्, आदाय = गृहीत्वा, तस्मिन्, वने = विपिने, निलीय = अन्तर्धाय, निवसन् = वर्तमानः, अपान्निधिः = समुद्रः, इव, तडागः= सरोविशेषः, ददृशे = दृष्टः ।

हिन्दी-अनुवाद—अथ = वन का अवलोकन करने के पश्चात्, अवनीभुजा = उस राजा नल ने, मानो, मन्थनात् भयेन = मन्थन किये जाने के भय से, चिरात् उच्चितम् = चिरकाल से संचित, चिरत्नरत्नाधिकम् = पुरातनकाल से ही एकत्रित किये गये हुये रत्नों से युक्त, स्वम् = सम्पत्तिको, आदाय = लेकर तस्मिन्—उस, वने = वन में, निलीय = छिपकर, निवसन् = निवास करता हुआ, अपान्निधिः = समुद्र ही हो इस रूप में उस, तडागः = विशिष्ट सरोवर को, ददृशे = देखा ।

भावार्थ—उस राजा (नल) ने बहुत समय से वृद्धि को प्राप्त हुये, मन्थन के भय से (कहीं मेरा मंथन न किया जाय—इस भय के कारण) अपने, प्राचीनकाल से विद्यमान रत्नों रूपी सम्पत्ति को लेकर राजा के उस उद्यान में आकर छिपे हुये रूप में विद्यमान समुद्र को ही क्रीड़ासर के रूप में देखा ।

समुद्र को भय था कि कहीं मेरा मंथन पुनः न किया जाय । अतः वह अपने अन्दर विद्यमान रत्न आदि लेकर राजा नल के उस उद्यान में आकर विशिष्ट सरोवर के रूप में स्थित हो गया था । ऐसे उस सरोवर को राजा नल ने देखा ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में उत्प्रेक्षा (जो कि स्पष्ट ही है) तथा अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

व्याकरण—अवनीभुजा = अवनी + भुज् + क्विप्, [तृतीया विभक्ति-एक वचन] । मन्थनात् = में "भीत्रार्थानां भयहेतुः" सूत्र द्वारा पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है । चिरत्न = चिर + त्न—"चिरपरुत्परादिभ्यस्त्नो वाच्यः" वार्तिक से 'त्न' । निलीय = नि + ली + ल्यप् । ददृशे = दृश् + लिट् (कर्मवाच्य) ।

समास—अवनीभुजा = अवनीं (पृथ्वीं) भुनक्ति इति अवनीभुक् तेन । चिरत्नरत्नाधिकम् = चिरत्नानि रत्नानि (कर्मधारय) इति चिरत्नरत्नानि तैः अधिकम् ।

टिप्पणियाँ—अवनीभुजा = राजा (नल) ने । **उच्चितम्** = संचित, समृद्ध अथवा वृद्धि को प्राप्त हुये । **चिरत्नरत्नाधिकम्** = पुरातनकाल से ही विद्यमान रत्नों के आधिक्य से युक्त । "रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपि" इत्यमरः । **निलीय** = छिपकर । **अपान्निधिः** = जलनिधि, समुद्र । **तडागः** = विशिष्ट सरोवर अथवा तालाब । **ददृशे** = देखा ।

प्रसङ्ग—आगामी नौ श्लोकों में इसी विशिष्ट सरोवर की विभिन्न विशेषताओं तथा शोभाओं का वर्णन महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो मृणालजालस्य निभाद्बभार यः ॥१०८॥

म०—यदुक्तं भ्रमनमादायेति, तदेवात्र सम्पादयति नवभिः श्लोकैः पय इत्यादिभिः । यस्तडागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धच्छन्नस्य तटान्तभूभिदस्तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः । मृणालजालस्य विसवृन्दस्य निभाद्व्याजादित्यपह्नवालङ्कारः, 'निभो व्याजसदृशयोरि'ति विश्वः । अनन्तोरगस्य शेषाहेः; पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान् तद्वद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनानामभ्रमुकावलीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् बभार । तत्रैक एवैरावतः, अनन्तसंख्या इति व्यतिरेकः । अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासुवत्, 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् 'लषपते' त्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः ॥१०८॥

अन्वय—यः जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभात् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदान् बभार ।

संस्कृत-व्याख्या—यः = तडागः, जलार्द्धरुद्धस्य = जलेन अर्द्धरुद्धस्य अर्द्धछन्नस्य, तटान्तभूभिदः = तटान्ते तटसमीपे या भूः तां भिनत्तीति तटान्तभूभित् तस्य—तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः, मृणालजालस्य=विसवृन्दस्य, निभात् = व्याजात् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् = अनन्तोरगः शेषाहेः पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान्—तद्वत् धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदान् = पयसि जले निलीना मग्ना, अभ्रमुकामुकाः ऐरावताः तेषां अवलीनां, श्रेणीनाम्, रदान् = दन्तान्, बभार = धारयामास ।

हिन्दी-अनुवाद—यः = जो तालाब, जलार्द्धरुद्धस्य = जल के कारण आधे ढके हुये, तटान्तभूभिदः = किनारे की जमीन को फोड़कर निकले हुये, मृणालजालस्य = कमल-नालों के समूह के, निभात् = बहाने से, अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् = शेषनाग की पूँछ के सदृश कान्ति से युक्त, पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावली-

रदान् = जल में छिपे हुये ऐरावत नामक हाथियों के दांतों को, बभार = धारण किये हुये था ।

भावार्थ—जो तालाव जल से आधे ढके हुये, किनारे की भूमि से बहिर्गत, मृणालदण्डों के बहाने से शेषनाग की पूँछ के सदृश सुन्दर शोभा से युक्त तथा जल में डूबे हुये ऐरावत नामक हाथियों के दाँतो को धारण किये हुये था ।

जल में आधे डूबे हुये तथा किनारे की जमीन पर आधे बाहर निकले हुये मृणाल (कमल-नाल) ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों वे शेषनाग की पूँछ के समान ही हों अथवा पानी में डूबे हुये ऐरावत नामक हाथियों के दन्त-समूह ही हों ।

राजा नल का यह उद्यान-सरोवर कमल-नालों के रूप में अनेक ऐरावत-हाथियों के दाँतों को धारण किये हुये था । समुद्र में तो केवल एक ही ऐरावत नामक हाथी के दाँत विद्यमान कहे जाते हैं किन्तु इस सरोवर (या तालाव) में मृणालदण्डों के रूप में सैकड़ों ऐरावत हाथियों के दाँत विद्यमान थे । अतः यह तालाव समुद्र से भी कहीं अधिक बढ़कर और श्रेष्ठ था ।

अलङ्कार—समुद्र में तो एक ही ऐरावत है और इस सरोवर में असंख्य ऐरावत हैं—इस दृष्टि से यहाँ "व्यतिरेक" नामक अलङ्कार है ।

व्याकरण—तटान्तभूभिद् = तटान्तभू + भिद् + क्विप् । **कामुकाः** = कम् + उकञ् लषपतपदस्थाभू'''इत्यादि से' ।

समास—जलार्द्धरुद्धस्य = जलेन अर्द्धरुद्धस्य । **तटान्तभूभिदः** = तटस्य अन्तः इति तटान्तः तस्य भूः (षष्ठी तत्पु०) इति तटान्तभूः—तां भिनत्ति-इति—तटान्तभूभिद् तस्य । **अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन्** = अनन्ताख्यः उरगः (कर्मधारय) इति अनन्तोरगः तस्य पुच्छम् (षष्ठी तत्पु०), तस्य सच्छविरिव छविर्येषां ते (बहुव्रीहि), तान् । **पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदान्** = अभ्रमूणां कामुकाः इति अभ्रमुकामुकाः (षष्ठी तत्पु०), पयसि निलीनाः इति पयोनिलीनाः (सप्तमी तत्पु०), पयोनिलीनाः अभ्रमुकामुकाः इति पयोनिलीनाभ्रमुकामुकाः (कर्मधारय), तेषां अवली; तस्याः रदाः तान् ।

टिप्पणियाँ—जलार्द्धरुद्धस्य = जल से आधे ढके हुये अथवा जिनका आधा भाग जल के अन्दर विद्यमान था ऐसे । **तटान्तभूभिदः** = किनारे की भूमि को फोड़कर बाहर निकले हुये । **मृणालजालस्य** = कमल नालों अथवा मृणालों के समूह के । **अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन्** = शेषनाग की पूँछ के सदृश

सुन्दर शोभा को धारण करने वाले। यह "रदान्" का विशेषण है। **पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदान्** = जल में छिपे हुये अभ्रमुओं (हथिनियों) के कामुकों (ऐरावत नामक हाथियाँ) के दाँतों को। ऐरावत नाम के हाथी की पत्नी का नाम अभ्रमु है। ऐसी अभ्रमु नामक हथिनियों के कामुकों (चाहने वालों) अर्थात् ऐरावत नामक हाथियों के दाँतों को। **बभार** = धारण किये हुये था अथवा धारण करता था।

प्रसंग—पूर्ववत्।

तटान्तविश्रान्त तुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः।
बभौचलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

म०—तटान्तेति। यस्तडागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रतीत्या निमित्तेन च एकैकशस्तासां वीचीनां कशानामन्तैः शातनैः प्रताडनैः, अश्वादेस्ताडनी कशे'त्यमरः चलदुल्ललदुच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभाविस्युत्प्रेक्षा, व्यतिरेकश्च पूर्ववत्। एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवः साम्यं इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ १०९ ॥

अन्वय—यः तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन वीचिकशान्तशातनैः चलत् उच्चैः श्रवसां सहस्रं श्रयन् इव बभौ।

संस्कृत व्याख्या—यः = तडागः, तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन = तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता स्थिता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावव्याप्त्या निमित्तेन, वीचिकशान्तशातनैः = वीचयः एव तरङ्गाः एव कशा अश्वताडन्यः तासां अन्ताः अग्रभागाः तैः शातनैः ताडनैः, चलत् = उल्ललत्, उच्चैश्रवसां सहस्रम्, श्रयन् = प्राप्नुवन्, इव बभौ = शुशुभे।

हिन्दी अनुवाद—यः = जो तड़ाग, तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन = तट के समीप में ठहरे हुये घोड़ों के समूह के स्पष्ट प्रतिबिम्ब केआविर्भाव के चुम्बन सम्पर्क से, वीचिकशान्तशातनैः=तरङ्गरूपी कोड़े (चाबुक) के अग्रभाग के ताड़नों (आघातों) से, चलत् = चंचल, उच्चैःश्रवसां सहस्रम्=हजारों उच्चैःश्रवस नामक घोड़ों को, श्रयन् इव = मानो धारण करता हुआ, बभौ = शुशोभित हो रहा था।

भावार्थ—जो तड़ाग तीर पर स्थित (नील-श्वेत-कृष्ण आदि विभिन्न

प्रकार के) घोड़ों की कान्ति (शोभा) के प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध से चञ्चल तरङ्गरूपी कोड़ों के प्रहारों से मानों हजारों उच्चैःश्रवस् नामक घोड़ों को धारण किये हुये था ।

कोड़ों के आघातों के कारण घोड़े चञ्चल होकर चला करते हैं । पानी में प्रतिबिम्बित वस्तु के तरङ्गों द्वारा चंचल होने के कारण किनारे पर स्थित नल के घोड़ों के प्रतिबिम्ब पानी की लहरों रूपी कोड़ों की मार से चलते हुये अनेक उच्चैःश्रवस नामक घोड़ों के सदृश ज्ञात हो रहे थे ।

इस स्थल पर यह भी स्पष्टरूप से ध्वनित हो रहा है कि समुद्र में तो उच्चैःश्रवाः नामक एक ही घोड़ा है । तथा इस तालाव में अनेक उच्चैःश्रवस् नामक घोड़ों की विद्यमानता है । अतः यह तालाव समुद्र की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है इसके अतिरिक्त राजा नल के घोड़ों का उच्चैःश्रवा के समान होना भी सूचित हो रहा है ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार स्पष्ट ही है ।

व्याकरण—उच्चैःश्रवसः = उच्चैः + श्रु + असुन् ।

समास—तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन = तटान्ते विश्रान्ता (सप्तमी तत्पु०) इति तटान्तविश्रान्ता, तुरङ्गमाणां छटा (षष्ठी तत्पु०) इति तुरङ्गमच्छटा, तटान्तविश्रान्ता तुरङ्गमच्छटा (कर्मधारय) इति तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा—तस्याः अनुबिम्बः, तस्य उदयः तस्य चुम्बनम् (षष्ठी तत्पु०) तेन । **वीचीकशान्तशातनैः** = वीचयः एव कशाः (कर्मधारय) इति वीचीकशाः तासां अन्ताः (षष्ठी तत्पु०) इति वीचीकशान्ताः तैः शातनानि, तैः । **उच्चैश्रवसाम्** = उच्चैः श्रवो यशो यस्य अथवा उच्चैः श्रवसी कर्णौ यस्य सः (बहुब्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—तटान्त···चुम्बनेन = तट पर स्थित घोड़ों के स्पष्ट प्रतिबिम्बों की प्रतीति के निमित्त से । **वीचीकशान्तशातनैः** = लहरों रूपी कोड़ों (चाबुकों) के अग्रभागों के प्रहारों से—"अश्वादेः ताडनी कशाः" इत्यमरः । **चलत्** = चंचल—हिलते डुलते हुये । **उच्चैःश्रवसाम्** = उच्चैःश्रवस् नामक घोड़ों के । इन्द्र के घोड़े का नाम "उच्चैः श्रवाः है । यह भी समुद्र मंथन के समय समुद्र से ही निकला था । यह पूर्णतया उज्ववल वर्ण का है । **श्रयन् इव**=धारण करता हुआ सा । **बभौ** = सुशोभित हो रहा था ।

प्रसङ्ग—पूर्ववत् ।

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद् बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम्।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु ॥ ११० ॥

म०—सितेति। यस्तडागः अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यालीकृतमध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य च्छलात् तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहलं सम्पूर्णम्बह्वनेकं सुधांशोश्चन्द्रस्य कुलं वंशं वहन् सन् बभौ। अत्र च्छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु पूर्ववत् ॥ ११० ॥

अन्वय—यः अलिश्यामलितोदरश्रियां सिताम्बुजानां निवहस्य छलात् तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं बहलं बहु सुधांशोः कुलं वहन् बभौ।

संस्कृत-व्याख्या—यः = तडागः, अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = अलिभिः भ्रमरैः श्यामलिता श्यामलीकृता उदरश्रीः मध्यभागीयशोभा येषां तादृशानाम्, सिताम्बुजानाम् = श्वेतपङ्कजानाम् पुण्डरीकाणां वा, निवहस्य = समूहस्य, छलात् = व्याजात्, तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलम् = तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं व्याप्तम्, बहलम् = सम्पूर्णम्, बहु = अनेकम्, सुधांशोः = चन्द्रमसः, कुलम् = वंशम्, वहन् = धारयन् (सन्) बभौ = शुशुभे।

हिन्दी-अनुवाद—यः = जो तालाब, अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = भौरों के बैठने के कारण श्यामवर्ण की मध्य भाग की कान्ति से युक्त, सिताम्बुजानाम् = श्वेतकमलों के, बहलम् = (अतएव) सम्पूर्ण, बहु = अनेक, सुधांशोः = चन्द्रमा के, कुलम् = समूह को, वहन् = धारण करता हुआ, बभौ = सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—जो तालाब बीच में भ्रमरों के बैठने के कारण श्यामवर्ण के मध्यभाग से युक्त श्वेत कमलों के समूह के बहाने से अन्धकार सदृश (कृष्णवर्ण के) कलङ्क से युक्त सम्पूर्ण एवं अनेक चन्द्रमा के समूह को धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा था।

इस वर्णन में भी यह स्पष्ट किया गया है कि वह तालाब अनेक चन्द्रमाओं के सदृश अनेक विकसित श्वेत कमलों से युक्त था। चन्द्रमा में कृष्णवर्ण का कलङ्क विद्यमान रहा करता है। श्वेतकमलों के मध्यभाग में भी कृष्णवर्ण के भ्रमर बैठे हुये हैं। अतएव उनका बैठना ही कलङ्क सदृश है।

चन्द्रमा की उत्पत्ति भी समुद्र से ही हुयी थी। अतः समुद्र चन्द्रमा का धारण करने वाला है किन्तु इसकी संख्या केवल एक ही है किन्तु इस तालाब

में अनेक चन्द्रमा श्वेत कमलों के रूप में विद्यमान हैं। अतः यह तालाब समुद्र की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ हुआ।

अलङ्कार—इस श्लोक में अनुप्रास तथा अपह्नुति अलङ्कार हैं। साथ ही व्यतिरेक अलङ्कार की भी विद्यमानता पूर्वश्लोक की ही भाँति है।

व्याकरण—श्यामलिता = श्यामल + णिच् + क्त + टाप्।

समास—अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = श्यामली कृता इति श्यामलिता, अलिभिः श्यामलिता उदरश्रीः येषां तादृशानाम्। **तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलम्** = तमः समच्छायः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलम्।

टिप्पणियां—अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = जिनके मध्य भाग (बीच की) की शोभा काले-काले भ्रमरों के बैठने के कारण श्यामल हो गयी थी ऐसे—**सिताम्बुजानाम्** = सफेद कमलों के। **निवहस्य** = समूह के। **तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलम्** = अन्धकार की कृष्णवर्ण की कान्ति के सदृश कृष्ण वर्ण की कान्ति से युक्त कलङ्क से व्याप्त। **बहलम्** = सम्पूर्ण। बहु = अनेक। **हिमांशोः** = चन्द्रमा के। कुलम् = वंश, समूह को।

प्रसङ्ग—पूर्ववत्। क्षीरसागर में भगवान् विष्णु निवास करते हैं। यह तालाब भी कमलिनी-स्तम्बसमूह रूप विष्णु से युक्त था—

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाहिभुवाऽन्वयायि यः ॥१११॥

म०—रथाङ्गेति। यस्तडागो रथाङ्गः चक्रवाकः चक्रायुधञ्च यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो रूढः तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्यायत्वप्रयोगदर्शनात् (रथाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगम्मन्यते कविः, तद्भाजा 'भजो ण्विः' कमलैः कमलया चानुषङ्गिणा संसर्गवता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुलसहचरेण अन्यत्र सखिशब्दः सादृश्यवचनः तत्सवर्णेनेत्यर्थः मृणालं शेषाहिरिवेत्युपमितसमासः तद्भुवा तदाकरेण अन्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्ममि'त्यमरः, तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात् अन्वयायि अनुयातोऽनुसृतोऽधिष्ठित इति यावत्। अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्नुत्य शार्ङ्गित्वारोपादपह्नवभेदः ॥ १११ ॥

अन्वय—यः सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाहिभुवा शार्ङ्गिणा अन्वयायि।

संस्कृत व्याख्या—यः तडागः सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् = सरोजिनीनां

कमलिनीनां स्तम्बाः गुल्माः तेषां कदम्बस्य समूहस्य कैतवात् मिषात्, रथाङ्गभाजा = रथाङ्गं चक्रवाकः चक्रायुधं च तद्भाजा, कमलानुषङ्गिणा = कमलैः कमलया लक्ष्म्या च अनुषङ्गिणा संसर्गवता, शिलीमुखस्तोमसखेन = शिलीमुखस्तोमः भ्रमरसमूहः तत्सखेन तत्सहचरेण तत्सदृशेन च—तत्सवर्णेनेत्यर्थः, मृणालशेषाहिभुवा=मृणालं शेषाहिरिव तद्भुवा तदाकरेण—अन्यत्र = मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण, शार्ङ्गिणा = विष्णुना, अन्वयायि=अनुयातः–अनुसृतः—अधिष्ठितः इति यावत्।

हिन्दी अनुवाद—यः = जो तालाब, सरोजिनीस्तम्बकैतवात्—कमलिनी के गुच्छों के समूह के बहाने से, रथाङ्गभाजा = [तालाब पक्ष में—] चक्रवाक् पक्षी से युक्त [विष्णु पक्ष में—] चक्र (सुदर्शनचक्र) नामक अस्त्र से युक्त, कमलानुषङ्गिणा = [तालाब पक्ष में—] कमलों से युक्त [विष्णु पक्ष में—] कमला अर्थात् लक्ष्मी से युक्त, शिलीमुखस्तोमसखेन = [तालाब पक्ष में—] भ्रमरों के समूह से युक्त [विष्णु पक्ष में—] भ्रमरों के सदृश वर्ण अर्थात् श्यामवर्ण से युक्त, मृणालशेषाहिभुवा = [तालाब पक्ष में]—शेषनाग सदृश मृणाल के उत्पत्ति स्थान [विष्णु पक्ष में—] मृणाल सदृश शेषनाग की शय्या से युक्त, शार्ङ्गिणा=भगवान् विष्णु से, अन्वयायि = अनुगत हो रहा था।

भावार्थ—जो तालाब चकवा चकवी से युक्त, कमलों से युक्त, भ्रमरसमूह से युक्त, मृणालरूप जो शेषनाग का शरीर तत्सदृश भूमि पर उत्पन्न कमलिनयों के गुच्छों के समूह के व्याज से, सुदर्शन चक्रधारी, लक्ष्मी के साथ निवास करने वाले, भ्रमर समूह के सदृश श्यामवर्ण की कान्ति वाले तथा मृणाल सदृश शुभवर्ण की कान्ति से युक्त शेषनाग की शय्या से युक्त भगवान् विष्णु से अनुगत होता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि क्षीरसागर में भगवान् विष्णु शयन करते हैं। यह तालाब भी उक्त प्रकार से कमलिनी-गुल्म-समूह के रूप में विष्णु से युक्त था।

अलंकार—उक्त श्लोक में श्लेष अलंकार स्पष्ट ही है। अपह्नुति अलङ्कार भी है।

व्याकरण—रथाङ्गभाजा = रथाङ्ग + भज् + ण्वि (भजोण्विः सूत्र से)। **शार्ङ्गिणा** = शार्ङ्ग + इनि (तृतीया एकवचन का रूप)। **अन्वयायि** = अनु + या + लुङ् (कर्मवाच्य) प्रथम पुरुष, एकवचन।

समास—सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् = सरोजिन्याः स्तम्बाः सरोजिनीस्तम्बाः तेषां कदम्बः इति सरोजिनी स्तम्बकदम्बः तस्य कैतवम्—इति-सरोजितीस्तम्बकदम्बकैतवम् (षष्ठी तत्पु०) तस्मात्। **रथाङ्गभाजा** = रथाङ्गं भजते इति रथाङ्गभाक् तेन। **कमलानुषङ्गिणा** = कमलानां कमलायाः वा अनुषङ्गः (षष्ठी तत्पु०), सः अस्ति अस्य इति कमलानुषङ्गी तेन। **शिलीमुखस्तोमसखेन** = शिलीमुखानां स्तोमः (षष्ठी तत्पु०) शिलीमुखस्तोमः स एव सखा यस्य सः (बहुव्रीहि), तेन। **मृणालशेषाहिभुजा**=मृणालं शेषाहिरिव अथवा शेषाहिः मृणालमिव, तस्य भूः (षष्ठी त०) अथवा स एव भूः यस्य सः (बहुव्रीहि), तेन। **शार्ङ्गिणा** = शार्ङ्गं धनुः अस्ति अस्य इति शार्ङ्गी तेन।

टिप्पणियाँ—सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतावत् = कमलिनियों के गुच्छों के बहाने से। **रथाङ्गभाजा** = [तालाब पक्ष में—] चकवा-चकवी (चक्रवाक) नामक पक्षियों से युक्त। [विष्णुपक्ष में—] (सुदर्शन) चक्र को धारण करने वाले। **कमलानुषङ्गिणा** = [तालाब पक्ष में—] कमलों से युक्त। [विष्णु-पक्ष में—] कमला (लक्ष्मी) के सहचर। **शिलीमुखस्तोमसखेन** = [तालाब पक्ष में—] भ्रमर समूह के सखा। [विष्णु पक्ष में--] भ्रमर समूह के समान कृष्ण वर्ण की कान्ति से युक्त। **मृणालशेषाहिभुवा** [तालाब पक्ष में—] शेषनाग के समान मृणाल के उत्पत्ति-स्थान। [विष्णु पक्ष में— मृणाल सदृश शेषनाग की शय्या वाले। **शार्ङ्गिणा** = विष्णु से। **अन्वयायि**= अनुगत हो रहा था अथवा अनुसरण किया गया था।

प्रसङ्ग—नदियों के मिलन से युक्त समुद्र की तरह यह तालाब भी लहरों से युक्त था—

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गरेखा विभराम्बभूव यः।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥ ११२ ॥

म०—तरङ्गिणीरिति। यस्तडागोऽङ्कजुषोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च वा तरङ्गरेखास्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरितिव्यस्तरूपकम्विभराम्बभूव बभार, 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्चेति भृञो विकल्पादाम्प्रत्ययः। किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीषदुद्बुद्धैः कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलखण्डकलिकाभिः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ११२ ॥

अन्वय—यः अङ्कजुषः स्ववल्लभाः तरङ्गरेखाः तरङ्गिणीः विभराम्बभूव।

च यः दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः (आसीत्)

संस्कृत-व्याख्या—यः = तडागः, अङ्कजुषः = अन्तिकभाजः उत्सङ्गसंगिन्यश्च, स्ववल्लभाः = स्वप्रियाः प्राणेश्वरीश्च, तरङ्गरेखा = तरङ्गराजीः एव, तरङ्गिणीः = नद्यः, विभराम्बभूव = बभार । च=किञ्च, यः = तडागः, दरोद्गतैः= इषदुद्बुद्धैः, कोकनदौघकोरकैः = कोकनदौघाः रक्तोत्पलसमूहाः तेषां कोरकैः कलिकाभिः, धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः = धृतः विद्रुमाङ्कुरनिकरः [आसीत्] ।

हिन्दी अनुवाद—यः=जो तालाव, अङ्कजुषः = [अपनी] गोद अथवा मध्य भाग में स्थित, स्ववल्लभाः=अपनी प्रिया, तरङ्गरेखाः=तरङ्ग मालाओं रूपी, तरङ्गिणीः = नदियों को, विभराम्बभूव = धारण किये हुये था । च = और, यः= जो तालाव, दरोद्गतैः = कुछ-कुछ खिली हुयी, कोकनदौघकोरकैः = लाल कमलों की कलियों के रूप में, धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः = प्रवालों (मूँगों) के अङ्कुर समूह को धारण किये हुये था ।

भावार्थ—जो तालाव अपने मध्य में स्थित अपनी प्रिया सदृश तरङ्गों की रेखाओं के रूप में नदियों को धारण किये हुये था तथा जो कुछ वाहर की ओर निकले हुये लाल कमलों के समूह के अङ्कुरों के रूप में प्रवालों (मूँगों) के अंकुरों को भी धारण किये हुये था ।

समुद्र में जैसे उसकी प्यारी नदियाँ आकर मिला करती हैं तथा मूँगों के अंकुर समूह भी रहा करते हैं उसी भाँति इस तालाव के मध्य में भी अपने में ही उत्पन्न होने से प्रिय तरङ्ग रूपी नदियाँ विद्यमान थीं तथा थोड़ा वाहर की ओर दिखलायी पड़ते हुये लाल कमलों के अंकुर-समूह मूँगों के अंकुरों के रूप में विद्यमान थे । अतः यह तालाव समुद्र के सदृश ही था ।

अलङ्कार—इस श्लोक में तरङ्गों में नदियों तथा रक्त कमल की कलियों में मूँगों के अंकुरों का आरोप किये जाने से "रूपक" अलङ्कार है ।

व्याकरण—अङ्कजुषः = अङ्क + जुष् + क्विप् **तरङ्गिणीः**=तरङ्ग + इनि + ङीप् (बहुवचन) ।

समास—अङ्कजुषः = अङ्कं जुषन्ते इति अङ्कजुषः । **तरङ्गिणीः** = तरङ्गाः सन्ति आसु इति तरङ्गिण्यः, ताः । **कोकनदौघकोरकैः** = कोकनदानां ओघाः इति कोकनदौघाः तेषां कोरकाः (षष्ठीतत्पु०), तैः । **धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः** = प्रवालानां अंकुराः इति प्रवालाङ्कुराः तेषां सञ्चयः (षष्ठी तत्पु०) इति प्रवालाङ्करसञ्चयः, धृतः प्रवालाङ्कुरसञ्चयः येन सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**अङ्कजुषः**=मध्य भाग अथवा गोद में स्थित। **तरङ्गिणीः** = नदियों को। **तरङ्गरेखाः** = तरङ्गों (लहरों) की रेखाओं के रूप में विद्यमान। **विभराम्बभूव** = धारण किये था। **दरोद्गतैः** = कुछ-कुछ विकसित (खिली-हुयी)। **कोकनदौघकोरकैः** = रक्त (लाल) कमलों के समूह की कलियों से। **धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः** = मूँगों के अंकुरों के समूहों को जिसने धारण किया था। तात्पर्य यह है कि समुद्र में अनेक नदियाँ आकर मिला करती हैं और उसके अन्दर मूँगे भी हुआ करते हैं। उसी प्रकार से इस तालाब में भी लहरें ही नदियों के रूप में तथा रक्त कमल के अंकुर मूँगों के रूप में विद्यमान हैं।

प्रसङ्ग—यह तालाब चन्द्रमा (श्वेत कमल रूप में) एवं कालकूट नामक विष (नील कमलों के रूप में) से युक्त होने के कारण समुद्र के सदृश था—

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥११३॥

स०—महीयस इति। यस्तडागः महीयसो महत्तरस्य गौरस्य च मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः सितासितयोरितिभावः। त्विषं विमुञ्चन् विसृजन्निव नलेन मेने। अत्र छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

अन्वय—यः नलेन महीयसः गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः त्विषं विमुञ्चन् मेने।

संस्कृत व्याख्या—यः = तडागः, नलेन = राजा नलेन, महीयसः = महत्तरस्य, गौरस्य = श्वेतस्य, मेचकस्य = नीलस्य, च, पङ्कजमण्डलस्य = कमलसमूहस्य, [सितासितसरोजयोः], छलेन = व्याजेन, सलिले = जले, निलीनयोः = निमग्नयोः, विधुकालकूटयोः = सितासितयोः चन्द्रविषयोः, त्विषम् = कान्तिम्, विमुञ्चन् = विसृजन्निव, मेने।

हिन्दी अनुवाद—यः = जिस तालाब को, नलेन = राजा नल ने, महीयसः बड़े, गौरस्य=श्वेत, मेचकस्य च = और नील, पङ्कजमण्डलस्य=कमलों के, छलेन = बहाने से, सलिले=जल में, निलीनयोः छिपे हुये, विधुकालकूटयोः = चन्द्रमा और कालकूट नामक विष की, त्विषम्=शोभा को, विमुञ्चन=फैलाता हुआ सा, मेने = समझा अथवा माना।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र श्वेतवर्ण के चन्द्रमा और कृष्ण वर्ण के

कालकूट नामक विष से युक्त है उसी प्रकार यह तालाब भी श्वेत तथा नील वर्ण के कमल समूह के विद्यमान होने से चन्द्रमा तथा कालकूट नामक विष से युक्त था।

चन्द्रमा तथा कालकूट विष दोनों ही पदार्थ समुद्रमंथन के समय समुद्र से निकले थे कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों की उत्पत्ति का स्थान समुद्र ही है। अर्थात् दोनों ही पदार्थों से युक्त समुद्र है। उसी प्रकार श्वेत कमल रूपी चन्द्रमा से तथा नीलकमल रूपी कालकूट नामक विष से यह तालाब भी युक्त है।

अलङ्कार = इस श्लोक में श्वेत और नील कमलों का "छल" शब्द द्वारा अपह्नव करके उसमें चन्द्रमा और कालकूट विष की संभावना की गयी है। अतः यहाँ सापह्नवोत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—महीयसः = महत् + ईयसुन् = महीयस् (षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप।

टिप्पणियाँ—महीयसः = बहुत बड़े। यह "पङ्कजमण्डलस्य" का विशेषण है। **गौरस्य** = गोरे—श्वेतवर्ण के। **मेचकस्य**=नीले अथवा नील वर्ण के। **पङ्कजमण्डलस्य** = कमल समूह के अथवा कमलों के। **छलेन**= व्याज से बहाने से। **विषकालकूटयोः** = चन्द्रमा और विष दोनों की। **त्विषम्** = कान्ति को—शोभा को। चन्द्रमा की कान्ति श्वेत (उजली) है। कालकूट नामक विष की कान्ति नीली है। **विमुञ्चन्**=छोड़ता हुआ—प्रकट करता हुआ अथवा फैलाता हुआ। **मेने** = माना—समझा।

प्रसङ्ग—समुद्र में वडवानल रहा करता है। उस तालाब में शैवाल नामक घास की पंक्तियाँ ही वडवानल थीं। अतः यह तालाब समुद्र-सदृश था।

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः।
भ्रुवन्दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

म०—चलीकृता इति। यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्गकम्पनाश्चलीकृताः चञ्चली कृताः अबालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पंक्तयः हव्यं वहतीति हव्यवाट्वाडवाग्निः 'वहश्चे'ति ण्विवप्रत्ययः। तस्यच्छन्दोमात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषायां प्रयोगः। वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरेव स्थित्याऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्भवत्तमो भूमा येषान्ते च धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता तां दधुः बहिरुत्थित-धूमपटलवद्भुरित्यर्थः। ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

अन्वय—यत्र तरङ्गरिङ्गणैः चलीकृताः अवालशैवाललतापरम्पराः वाडवहव्यवाडवस्थिति प्ररोहत्तमभूमधूमतां दधुः ध्रुवम् ।

संस्कृत व्याख्या—यत्र = तडागे, तरङ्गरिङ्गणैः = तरङ्गकम्पनैः, चलीकृताः= चञ्चलीकृताः, अवालशैवाललतापरम्पराः = अवालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पङ्क्तयः, वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् = हव्यं वहतीति हव्यवाट् अग्निः, वाडवहव्यवाहः वाडवाग्नेः अवस्थितिः अवस्थानं तेन प्ररोहत्तमः बहिःप्रादुर्भवत्तमः येषां च ते धूमाश्च तेषां भावः तत्ता ताम्, दधुः = वह्नेः उत्थितधूमपटलवत् बभुरित्यर्थः, ध्रुवम्—इत्युत्प्रेक्षायाम् ।

हिन्दी अनुवाद—यत्र = जिस तालाव में, तरङ्गरिङ्गणैः = लहरों के कंपन से, चलीकृताः = चंचलताको प्राप्त कराई गयी, अवालशैवाललतापरम्पराः=वृद्धि को प्राप्त हुयीं शैवाल (सिवार नामक घास) लताओं की पंक्तियाँ, वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् = वडवानल के निवास से अत्यधिक रूप में निकलती हुयी धूम-राशि के स्वरूप को, ध्रुवं दधुः = मानो धारण कर रही थीं ।

भावार्थ—जिस तालाव में लहरों के कंपन से शैवाल लता की पंक्तियों ने अभ्यन्तर विद्यमान वडवानल से ऊपर उठे हुये धुयें के अतिशय को धारण कर लिया हो, ऐसा प्रतीत होता था ।

तालाव की लहरों के कारण चंचलता को प्राप्त हुयी बड़ी बड़ी शैवाल नामक घास (जो तालाव के अभ्यन्तर विद्यमान थी ।) अन्तःस्थित वडवानल से उपर की ओर उठती हुयी धूमज्वाला के समान प्रतीत हो रही थी ।

समुद्र के अन्दर वडवानल निवास किया करती है और इस तालाब में शैवाल नामक घास उसी रूप में विद्यमान है । अतः उक्त सरोवर समुद्र के समान है ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में शैवालपंक्तियों में वडवाग्नि की संभावना की गयी है । अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

व्याकरण—**हव्यवाट्** = हव्य + वह् + ण्वि । **धूमताम्**=धूम + तल् + टाप् । **दधुः**—धा + लिट् (प्रथम पुरुष बहुवचन का रूप) ।

समास—**अबालशैवाललतापरम्परा** = अवालां शैवाललतानां परम्पराः इति । **वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम्** = वाडवः हव्यवाट् (कर्मधारय) इति वाडवहव्यवाट्, तस्य अवस्थितिः (षष्ठी तत्पु०) इति

वाडवहव्यवाडवस्थितिः तेन प्रोहत्तमः भूमा यस्य (बहुव्रीहि) सः, तादृशः धूमः (कर्मधारय), तस्य भावः, ताम् ।

टिप्पणियाँ—तरङ्गरिङ्गणैः = लहरोंके हिलने डुलने से । **चलीकृताः** = चंचलता को प्राप्त हुयी—हिलती—डुलती हुयी । **अवालशैवाललतापरम्पराः** = वृद्धि को प्राप्त हुयी अर्थात् बढ़ी हुयी सिवार नामक घास की पंक्तियाँ **वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम्** = वडवाग्नि की विद्यमानता के कारण अतिशयरूप में निकलते हुए धुँयें के रूप को । **दधुः** = धारण किया । **ध्रुवम्** = मैं ऐसा मानता हूँ । मानों । यह उत्प्रेक्षा को अभिव्यक्त करने वाला शब्द है । महाकवि दण्डी ने उत्प्रेक्षा-व्यंजक शब्दों का एकत्रीकरण निम्नलिखित रूप में किया है—मन्ये शङ्के ध्रुवम् प्रायो नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥ काव्यादर्श-२।२३४ ॥

प्रसङ्ग—समुद्र से उत्पन्न हुयी (अथवा समुद्र के अन्दर निवास करने वाली) अप्सराओं के रूप में कमलिनियाँ भी इस तालाब में विद्यमान थीं । अतएव यह तालाव समुद्र के सदृश था—

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती ।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता ॥११५॥

म०—प्रकाममिति । आदित्यं सूर्यमवाप्य प्रकामं कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः करम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता अतएवामोदभरं परिमलसम्पदमानन्दसम्पदम् च विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा स्वर्गलोकवासिनीत्यर्थः । यस्तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या सरोजिनी पद्मिनी अप्सरायिता अप्सर इवाचरिता । 'उपमानाद् कर्तुः क्यङ् सलोपश्चेति कर्त्तरि क्तः 'ओजसोऽप्सरसो नित्यमि'त्यप्सरसः सकारलोपः । श्लिष्टविशेषणेयमुपमा ॥ ११५ ॥

अन्वय—आदित्यं अवाप्य कण्टकै प्रकामं करम्बिता आमोदभरं विवृण्वती दिवा धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा यत्प्रभवा सरोजिनी अप्सरायिता ।

संस्कृत-व्याख्या—आदित्यम् = सूर्यम्, अवाप्य = प्राप्य, कण्टकैः = नाल गतैः तीक्ष्णाग्रैः अवयवैः, प्रकामम् = अतिशयेन करम्बिता = दन्तुरिता [अप्सरापक्षे—आदित्यं अदितिपुत्रम्, अवाप्य प्राप्य, कण्टकैः पुलकैः प्रकामं कर-

म्बिता], आमोदभरम्=परिमलसम्पदम्, बिभ्रती=प्रकटयन्ती, दिवा=दिवसे, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा=धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि विकसितकमलानि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा [अप्सरापक्षे–दिवा=स्वर्गेण, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा=धृतः स्फुटायाः प्रकाशमानायाः श्रियः शोभायाः गृहं स्थानम् विग्रहः शरीरम् यासां ताः—स्वर्गलोकवासिन्यः—इत्यभिप्रायः] यत्प्रभवा = यः तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या, सरोजिनी = पद्मिनी, अप्सरायिता = अप्सरा इव आचरिता ।

हिन्दी-अनुवाद—आदित्यम्=सूर्यको, अवाप्य = प्राप्त करके, कण्टकैः = काटों से, प्रकामम् = अत्यधिक, करम्बिता = व्याप्त [अप्सरापक्ष में—आदित्यम् = अदिति—पुत्र इन्द्र को, अवाप्य = पाकर कण्टकैः रोमाञ्चों से, प्रकामम् = अत्यधिक रूप से, करम्बिता = रोमाञ्चित] आमोदभरम् = गन्धराशि को, बिभ्रती = प्रकट करती हुयी, [अप्सरापक्ष में—आमोदभरम् = हर्षाधिक्य को बिभ्रती = प्रकट करती हुयी] दिवा = दिन में, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा = विकसित कमलों को शरीर पर धारण किये हुये [अप्सरा पक्ष में—दिवा = स्वर्ग में धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहाः = स्पष्ट रूप से शोभा के आस्पद शरीर को धारण करती हुयी] यत्प्रभवा = जिस तालाब में उत्पन्न हुयी, सरोजिनी = कमलिनी, अप्सरायिता = अप्सरा के सदृश आचरण करती थी अथवा अप्सरा के समान प्रतीत होती थी ।

भावार्थ—जिस तालाब में उत्पन्न हुयी, दिन के समय सूर्य को प्राप्त कर भलीभाँति काँटोंसे व्याप्त, अपने सुगन्धि-समूह को फैलाती हुयी, विकसित शरीर वाली कमलिनी, अदिति-पुत्र-इन्द्रदेव को प्राप्तकर रोमाञ्चों से परिपूर्ण हर्षाधिक्य को प्रकट करती हुयी, स्वर्ग में स्पष्टरूप से शोभा-स्थान रूप शरीर को धारण करने वाली अप्सरा के समान प्रतीत हो रही थी ।

तात्पर्य यह है कि तालाब में विद्यमान विकसित कमलिनी साक्षात रूप से स्वर्ग में विद्यमान अप्सरा के सदृश प्रतीत होती थी ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उपमा तथा "श्लेष" अलङ्कार है। जो सुस्पष्ट ही है ।

व्याकरण—**अप्सरायिता** = अप्सरसः—अप + सृ + असुन् । अप्सरसः इव आचरिता इति अप्सरायिता = अप्सरस् + क्यङ् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" से क्यङ् तथा 'स्' का लोप—दीर्घ—अप्सराय (नाम धातु)+क्त+टाप् । **आदित्यम्** = अदिति + ण्य—"दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" से ।

समास—आदित्यं = आदितेः अपत्यं पुमान् आदित्यः तम् । प्रकामम्= अप्सरा पक्ष में इसे "आदित्यम् का विशेषण भी बनाया जा सकता है। इस स्थिति में समास होगा—प्रकृष्टः कामो यस्य सः—तम् । अप्सरायिता= अद्भ्यः समुद्रजलात् सरन्ति उद्यन्ति इति अप्सरसः । अप्सरस इव आचरिता इति अप्सरायिता ।

टिप्पणियाँ—आदित्यम् = सूर्य को । अप्सरा पक्ष में—इन्द्र को (अदिति के पुत्र-इन्द्र)। अवाप्य = प्राप्त कर । कण्टकैः = काटों से । अप्सरापक्ष में—रोमाञ्चों से । करम्बिता = व्याप्त । आमोदभरम् = अत्यधिक सुगन्धि से युक्त । अप्सरापक्ष में = अत्यधिक आनन्द से परिपूर्ण । धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा—विकसित कमल पुष्परूप शरीर वाली । अप्सरा-पक्षमें—प्रकाशमान शोभा के स्थानरूप शरीर को धारण करने वाली। यत्प्रभवा—जिस तालाब से अथवा जिस तालाब में उत्पन्न। अप्सरा-यिता—अप्सरा के सदृश आचरण किया । अप्सरायें समुद्र में तो थी हीं—समुद्रमन्थन के समय रत्नों के साथ ही अप्सरायें भी उत्पन्न हुयी थीं। उस तालाब से भी सरोजिनियों के रूप में अप्सरायें उत्पन्न हुयी थीं। अतः उक्त तालाब को भी समुद्र ही कहा जा सकता था ।

प्रसङ्ग—दैवतकथा के अनुसार प्राचीन काल में पर्वतों को पंखयुक्त माना गया है । एक बार क्रोधित होकर इन्द्र ने अपने बज्र से उनके पंखों को काट डाला । मैनाक पर्वत भागकर समुद्र में जाकर छिप गया । अतः उसके पंख कटने से बच गये । किन्तु वह समुद्र में ही रहा । इस तालाब में वृक्ष का प्रतिबिम्ब ही मैनाक-पर्वत के सदृश छिपा हुआ है । अतः यह तालाब भी समुद्र के समान है—

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।
निमज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान् धुवतः सपक्षताम् ॥११६॥

म०—यदिति । यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायामः मरुत्तरङ्गैः वातवीजनैस्तरलश्चञ्चलः तटद्रुमः निमज्य सतो वर्त्तमानस्य पक्षान् धुवतः कम्पयतो मैनाकमहीभृतस्तदाख्यस्य पर्वतस्य साम्यं ततानेत्युपमा ॥११६॥

अन्वय—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिः मरुत्तरङ्गैः तरलः तटद्रुमः निमज्य सतः पक्षान् धुवतः मैनाकमहीभृतः सपक्षतां ततान ।

संस्कृत-व्याख्या—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिः = यस्य तडागस्य अम्बुनः

जलस्य पूरे प्रवाहे प्रतिबिम्बिता प्रतिफलिता आयतिः आयामः यस्य एवम्भूतः, मरुत्तरङ्गैः = वातवीजनैः, तरलः = चञ्चलः, तटद्रुमः = तीरवृक्षः, निमज्ज्य = अन्तर्निलीय, सतः=विद्यमानस्य, पक्षान् , धुवतः कम्पयतः, मैनाकमहीभृतः = मैनाकनाम्नः पर्वतस्य, सपक्षताम् = समानताम्, ततान = विस्तारयामास ।

हिन्दी-अनुवाद—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिः = जिस (तालाब) के जल-प्रवाह में प्रतिबिम्बित लम्बाई वाला, मरुत्तरङ्गैः तरलः = वायु द्वारा चालित लहरों से चंचल, तटद्रुमः = तटवर्त्ती वृक्ष, निमज्ज्य = (समुद्र के) भीतर डूबकर सतः = अवस्थित, पक्षान् धुवतः = (अपने) पंखों को हिलाते हुये, मैनाकमही-भृतः = मैनाक पर्वत की, सपक्षताम् = समानता को, ततान = फैला रहा था अथवा समता कर रहा था ।

भावार्थ—जिस (तालाब) के जल प्रवाह में प्रतिबिम्बित एवं विस्तार-युक्त, वायु द्वारा चालित लहरों के कारण चंचलता को प्राप्त हुआ किनारे पर स्थित वृक्ष, जल के अन्दर डूबकर स्थित तथा अपने पंखों को कंपित करने वाले मैनाक पर्वत की समानता प्राप्त कर रहा था ।

जिस तालाब के जल में प्रतिबिम्बित, वायुप्रेरित लहरों के कारण चंचलता को प्राप्त हुआ किनारे पर स्थित वृक्ष जल के भीतर डूबकर स्थित अपने पंखों को कम्पित करने वाले मैनाक पर्वत की समानता कर रहा था ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उपमा" अलङ्कार है ।

व्याकरण—निमज्ज्य = नि + मज्ज् + ल्यप् । **धुवतः** = धु + लट्—शतृ = धुवन् (षष्ठी विभक्ति के एक वचन में) । **ततान** = तन् + लिट् ।

समास—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिः = यस्य, अम्बु यदम्बु तस्य पूरः (षष्ठी तत्पु०) यदम्बुपूरः तस्मिन् प्रतिबिम्बिता आयतिः यस्य सः(बहुव्रीहि) **सपक्षताम्** = समानः पक्षः यस्य सः सपक्षः (बहुव्रीहि), सपक्षस्य भावः सप-क्षता ताम् ।

टिप्पणियाँ—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायति := जिस (तालाब) के जल में जिस (वृक्ष) की लम्बाई प्रतिबिम्बित हो रही थी ऐसा (वृक्ष) । **निमज्ज्य** = डूबकर । **धुवतः** = कँपाते हुये । **मैनाकमहीभृतः** = मैनाक नामक पर्वत के । **सपक्षताम्** = समानता को । ततान = फैला रहा था—विस्तृत कर रहा था । समुद्र में मैनाक नामक पर्वत निवास किये हुये है । इस तालाब में

उसी के सदृश वृक्ष का प्रतिबिम्ब सुशोभित हो रहा है। अतएव यह तालाब समुद्र के सदृश है।

प्रसंग—इसके अनन्तर राजा नल ने उस क्रीडा-तडाग के समीप में विचरण करते हुये एक सुवर्णमय हंस देखा—

(युग्मम्)

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्लवे रिरंसुहंसीकलनादसादरम्।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥११७॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितञ्च बिभ्रतम्।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥११८॥

म०—पयोधीति। अथ च नैषधो निषधानां राजा नलः, 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' त्यञ् पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्सदृश इत्यर्थः। अत्र केलिपल्लवे क्रीडा-सरसि रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्तं चित्रमद्भुतं हिरण्मयं सुवर्णमयं 'दाण्डिनायना' दिना निपातनात् साधुः। हंसमबोधि ददर्शेत्यर्थः। 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि चिण्। पुनस्तमेव विशिनष्टि—प्रियास्विति। बालासु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवना-स्वित्यर्थः। अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात्। रतिक्षमासु युवतीषु द्विविधासु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्च्वोस्त्रोट्योः 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियामि'त्यमरः। चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जात पल्लवञ्च चञ्च्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रित्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन पल्लवसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तं स्मरार्जितं स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पा-दितमित्यर्थः। राग एव महीरुहस्तस्याङ्कुरं रागमहीरुहाङ्कुरः बिभ्रतं चञ्चुपुटमि-षेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्रत-मित्यर्थः। ईदृशं हंसमबोधीति पूर्वेणान्वयः। 'नाभ्यस्ताच्छतुरिति नुम्प्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम्। तत्र रागं बिभ्रतम् इति हंसविशेषणात्, तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्वधिकरण-भूतास्वित्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, अन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधि-करणत्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतर-पर्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरोधात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रमः केषाञ्चित्क-स्मात्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधिकरणत्वमेवमिति

सिद्धान्तः, प्रियास्विति विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम् । अत्र रागमहीरुहाङ्कुरमिति रूपकं चन्चुचरणमिषेणेत्यपह्नवानुप्राणितमिति सङ्करः । तेन स बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्त्थापिता चन्चुचरणव्याजेनान्तरस्यैव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ११७-११८ ॥

अन्वय—स नैषधः पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् बालासु रतिक्षमासु च प्रियासु चन्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतं तत्र अन्तिके विचरन्तं चित्रं हिरण्मयं हंसं अबोधि ।

संस्कृत-व्याख्या—सः, नैषधः = निषधानां राजा नलः, पयोधिलक्ष्मीमुषि = पयोधिः समुद्रः तस्य लक्ष्मीं शोभां मुष्णातीति तादृशे, केलिपल्वले = क्रीडासरसि, रिरंसुहंसीकलनादसादरम् = रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु अव्यक्तमधुरशब्देषु सादरं साभिलापम्, बालासु = अल्पवयस्कासु, रतिक्षमासु = रतियोग्यासु—आसन्नयौवनासु—इत्यर्थः (अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात्), च, (द्विविधासु) प्रियासु = वल्लभासु विषये, चन्च्वोः = त्रोट्योः चरणद्वयस्य च = पादद्वयस्य च, मिषेण = व्याजेन, द्विपत्रितम् = द्विपत्रयुक्तम्, पल्लवितम् = किसलययुक्तम्, च, [चन्च्वोः द्वयोः सम्पुटितत्वे सांमात् द्विपत्रित्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन पल्लवसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचन्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तम्], स्मरार्जितम् = स्मरेण कामेन एव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः—कामोत्पन्नं वा, रागमहीरुहाङ्कुरम् = रागः अनुरागः तल्लक्षणः महीरुहः वृक्षः तस्य अङ्कुरं, [राग एव महीरुहः वृक्षः तस्य अङ्कुरम्] बिभ्रतम् = [यथाक्रमं—चन्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागं च बिभ्रतमित्यर्थः] धारयन्तम्, तत्र अन्तिके = क्रीडासरनिकटे, विचरन्तम् = विहरन्तम्, चित्रम् = अद्भुतम्, हिरण्मयम् = सुवर्णमयम्, हंसम्, अबोधि = ददर्श—इत्यर्थः ।

हिन्दी-अनुवाद—सः नैषधः = उस राजा नल ने, पयोधिलक्ष्मीमुषि = समुद्र की शोभा चुराने वाले, केलिपल्वले = क्रीडासरोवर में, रिरंसुहंसीकलनादसादरम् = रमणाभिलाषिणी हँसिनियों के अव्यक्त मधुर शब्द (कलनाद) के प्रति अभिलाषायुक्त (अथवा आदर रखने वाला), बालासु = किशोरावस्था में विद्यमान (मुग्धा), च = और रतिक्षमासु = रति के योग्य अथवा रमणयोग्य अथवा युवावस्था में विद्यमान (युवती), प्रियासु = प्रियाओं अथवा वल्लभाओं

के विषय में, चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण = दो चोंचों (चञ्चुपुट) और दो चरणों के बहाने, द्विपत्रितं पल्लवितं च = दो पत्तियों और पल्लव से युक्त, स्मरार्जितम् = कामदेव द्वारा उत्पादित (अथवा उत्पन्न किये गये हुये), रागमहीरुहांकुरम् = अनुरागरूपी वृक्ष के अंकुर को, बिभ्रतम् = धारण किये हुये, अत्र अन्तिके = उस सरोवर के समीप में ही, विचरन्तम् = विचरण करते हुये, चित्रम् = अद्भुत, हिरण्मयम् = सुनहले, हंसम् = हंसको, अबोधि = देखा ।

भावार्थ—उस राजा नल ने [उक्त प्रकार से—१०८ वें श्लोक तक वर्णित] समुद्र की शोभा को चुराने वाले अर्थात् समुद्र के सदृश शोभाधारी उस क्रीडा-तडाग में रमणाभिलाषिणी हंसिनियों के अव्यक्त एवं मधुर शब्द के प्रति अभिलाषा युक्त, किशोरावस्था में विद्यमान बाला प्रियाओं तथा युवावस्था में विद्यमान सुरत-समर्था युवती प्रियाओं में दोनों चोंचों तथा दोनों चरणों के बहाने से (क्रमशः) दो पत्रयुक्त तथा पल्लवयुक्त, कामदेव द्वारा उत्पादित अनुराग रूपी वृक्ष के अंकुर को धारण किये हुये, विचित्र प्रकार के [अथवा सुवर्णमय होने के कारण अद्भुत], समीप में [क्रीडा सरोवर के पास में—अथवा—राजा नल के ही समीप में] विचरण करते हुये अथवा मन्दगति से चलते हुये, सुनहले हंस को देखा ।

अलङ्कार—उपर्युक्त युग्म में अनुप्रास, यथासंख्य ["बालासु ……… पल्लवितं च" में], रूपक ["रागमहीरुहांकुरम्" में] तथा अपह्नुति अलङ्कारों की संसृष्टि विद्यमान है ।

व्याकरण—**पयोधिलक्ष्मीमुषि** = पयोधिलक्ष्मी + मुष् + क्विप् (सप्तमी-एकवचन में)। **हिरण्मयम्** = हिरण्य + मयट् । **अबोधि** = बुध + लुङ् (कर्त्ता अर्थ में)। **द्विपत्रितम्** = द्विपत्र + इतच् । **पल्लवितम्** = पल्लव + इतच् । **बिभ्रतम्** = भृ + शतृ ।

समास—**पयोधिलक्ष्मीमुषि** = पयोधेः लक्ष्मीः (षष्ठीतत्पु०) पयोधिलक्ष्मी, तां मुष्णातीति पयोधिलक्ष्मीमुट्—तस्मिन् । **रिरंसुहंसीकलनादसादरम्** = रन्तुमिच्छुः रिरंसुः, रिरंसुः हंसी (कर्मधारय) रिरंसुहंसी, तस्याः कलनादः (षष्ठीतत्पु०) इति रिरंसुहंसीकलनादः, तस्मिन् सादरः (सुप्सुपा समास), तम् । **हिरण्मयम्** = हिरण्यस्य विकार—इस अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होकर—हिरण्मयः, तम् ।

टिप्पणियाँ—**युग्मम्** = का अर्थ है दो—अर्थात् जहाँ दो को मिलाकर

ही अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सके उसे 'युग्म' कहा जाता है। "द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तम्"। **पयोधिलक्ष्मीमुषि** = समुद्र की शोभा को चुरानेवाले अर्थात् समुद्र की शोभा के समान ही शोभा को धारण करने वाले। **रिरंसु-हंसीकलनादसादरम्** = रमण करने की इच्छुक हंसिनियों के अस्पष्ट एवं मधुर आलाप को सुनने के लिये अभिलाषायुक्त अथवा लालायित। **केलि-पल्वले** = क्रीडा सरोवर में। **बालासु** = बाला हंसिनियों के प्रति-अथवा अल्पवयस्का अथवा किशोरावस्था में विद्यमान (मुग्धाओं) हंसिनियों के प्रति। **रतिक्षमासु** = रति अथवा सुरत कार्य हेतु समर्थ युवा हंसिनियों के प्रति। इसका अभिप्राय यह है कि बाला (मुग्धा) हंसिनियों के प्रति उस हंसका अनुराग स्वल्प था और प्रौढ़ा हंसिनियों के प्रति हंस का अत्यधिक अनुराग था। अतएव वह हंस बाला हंसिनियों के साथ केवल चुम्बनादि व्यापार ही करता था तथा प्रौढ़ा हंसिनियों के साथ सभी प्रकार की रति। **चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च** = इसका तात्पर्य यह है कि हंस की चोंच और चरण रक्तवर्ण (लाल) के हुआ करते हैं: महाकवि ने चञ्चुपुट और चरणद्वय का "मिष" शब्द से अपह्नव करके उसमें क्रमशः द्विपत्रित और पल्लवित राग रूपी वृक्ष के अङ्कुर की उत्प्रेक्षा की है। अङ्कुर निकलते समय सर्वप्रथम दो पत्ते ही निकला करते हैं जो प्रारम्भ में आपस में जुड़े भी रहा करते हैं। तत्पश्चात् उसमें से पल्लवों का सृजन हुआ करता है। हंस का चञ्चुपुट द्विपत्रित अंकुर के सदृश प्रतीत होता था और उसके अनेक अंगुलियों से युक्त दोनों चरण पल्लवित अङ्कुर के सदृश। हंस के द्विपत्रित रागाङ्कुर का विषय बाल-प्रिया थी और पल्लवित रागाङ्कुर का विषय युवती-प्रिया। **अन्तिके** = समीप में (तालाब के समीप में अथवा राजा नल के समीप में)। **चित्रम्** = विचित्र, अद्भुत। **हिरण्मयम्** = सुन-हला। **अबोधि** = जाना, समझा, देखा।

प्रसंग—उस पक्षी (हंस) को देखकर राजा नल का मन कौतूहल से पूर्ण हो गया—

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम्।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत्॥११९॥

म०—महीति। महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं नितान्तं मनो विनोदयतीति तथोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगान्निर्भरमतिमात्रं

विधुरो दुःस्थोऽपि मनागीषत्कुतूहलाक्रान्तमनाः कौतुकितचित्तोऽभूत्, गृहीतकामोऽभूदित्यर्थः ॥११९॥

अन्वय—महीमहेन्द्रः स एकान्तमनोविनोदिनं तं शकुन्तं क्षणं अवेक्ष्य प्रियावियोगात् निर्भरं विधुरः अपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमना अभूत्।

संस्कृत-व्याख्या—महीमहेन्द्रः = भूदेवेन्द्रः, सः = नलः, एकान्तमनोविनोदिनम् = एकान्तं नितान्तं मनो विनोदयति रञ्जयतीति तथोक्तम्, तम् = पूर्वोक्तम्, शकुन्तम् = पक्षिणम्, क्षणम् = मुहूर्त्तम्, अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, प्रियावियोगात् = दमयन्तीविरहात् , निर्भरम् = अतिमात्रम्, विधुरः अपि = दुःस्थोऽपि, मनाक् = ईषत्, कुतूहलाक्रान्तमना = कुतूहलेन कौतुकेन आक्रान्तं अभिभूतम् मनः चित्तं यस्य तादृशः, अभूत् = जातः—गृहीतुकामः अभूदित्यर्थः ।

हिन्दीअनुवाद—महीमहेन्द्रः = पृथ्वी के इन्द्र अर्थात् महान् शासक, सः = वह (राजा नल), एकान्तमनोविनोदिनम् = अत्यधिक रूप से मनोरञ्जन करने वाले, तं शकुन्तम् = उस पक्षी (हंस) को, क्षणं अवेक्ष्य = क्षणभर देखकर, प्रियावियोगात् = प्रिया (दमयन्ती) के वियोग के कारण, निर्भरं विधुरः अपि = अत्यन्त व्याकुल होने पर भी, मनाक् = कुछ, कुतूहलाक्रान्तमना = उत्सुकता पूर्ण चित्तवाले, अभूत् = हो गये ।

भावार्थ—प्रिया (दमयन्ती) के विरह के कारण अत्यन्त दुःखी वे पृथ्वीपति नल अत्यन्त सुन्दर उस पक्षी (हंस) को क्षण भर के लिये देख कर (उसको पकड़ने की दृष्टि से) कुछ कुतूहलपूर्ण (उत्सुकतापूर्ण) हो गये अर्थात् उन्होंने उसे पकड़ लेने की इच्छा की ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में अनुप्रास अलङ्कार की छटा दृष्टिगोचर हो रही है ।

व्याकरण—**मनोविनोदिनम्** = मनस्—वि+नुद् + णिच् + णिनि (कर्त्ता में)—मनोविनोदी (द्वितीया एकवचन में) ।

समास—**महीमहेन्द्रः** = मह्यां वा मह्याः महेन्द्रः इति महीमहेन्द्रः । **महेन्द्रः** = महांश्चासौ इन्द्रः महेन्द्रः (कर्मधारय) । **एकान्त मनोविनोदिनम्** = मनोविनोदयितुं शीलमस्य इति मनोविनोदी । एकान्तेन मनो विनोदी इति एकान्तमनोविनोदी, तम् । **कुतूहलाक्रान्तमना** = कुतूहलेन आक्रान्तं मनो यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**महीमहेन्द्रः** = पृथ्वी का इन्द्र—स्वामी अथवा महान्

शासक। **एकान्तमनोविनोदिनम्** = अत्यधिक रूप से मन का विनोद करने वाले—पूर्णरूप से मनोरंजनकारी। **शकुन्तम्** = पक्षी को। **अवेक्ष्य** = देख कर। **निर्भरम्** = अत्यन्त = अत्यधिक। **विधुरः** = दुःखी। **मनाक्** = थोड़ा, कुछ-कुछ। **कुतूहलाक्रान्तमना** = जिसके मन में कुतूहल अथवा उत्सुकता उत्पन्न हो गयी हो। **अभूत्** = हो गया।

प्रसङ्ग—अत्यधिक कामपीड़ित एवं विरही राजा नल के मन में उस हंस को पकड़ने की उत्सुकता क्यों उत्पन्न हो गयी ? यह बतलाते हैं—

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥१२०॥

म०—कथमीदृशे चापलत्वे प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह-अवश्येति। अवश्यभव्येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये 'भव्यगेया'दिना कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः, अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिर्बन्धा निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे' इति विश्वः। वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्त्तते तयैव दिशा भृशावशात्मनाऽत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, 'पाशादिभ्यो यः' अनुगम्यते, वेधसः स्पृहा कर्म्म॥१२०॥

अन्वय—अवश्यभव्येषु अनवग्रहग्रहा वेधसः स्पृहा यया दिशा धावति तया भृशावशात्मना जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या इव (वेधसः स्पृहा) अनुगम्यते।

संस्कृत-व्याख्या—अवश्यभव्येषु = अवश्यं भाव्यर्थेषु विषये, अनवग्रहग्रहाः = अनवग्रहः अबाध्यमानः निरर्गलः ग्रहः अभिनिवेशः प्रसरो यस्याः—एतादृशीः, वेधसः = विधातुः, स्पृहा = इच्छा, यया दिशा = येन मार्गेण, धावति = प्रवर्त्तते, तया = एव दिशा, भृशावशात्मना = अत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन, जनस्य = लोकस्य, चित्तेन = मनसा, तृणेन, वात्या इव = वातसमूह इव [वेधसः स्पृहा], अनुगम्यते = अनुस्रियते।

हिन्दी अनुवाद—अवश्यभव्येषु = अवश्य होने वाले विषयों के सम्बन्ध में, अनवग्रहग्रहाः = बिना किसी प्रकार की बाधा के (निरङ्कुश) चलने वाली अथवा अबाधगति से चलने वाली, वेधसः = विधाता की, स्पृहा = इच्छा, यया दिशा = जिस दिशा की ओर, धावति = दौड़ती है, तया = उसी

दिशा की ओर, भृशावशात्मना = अत्यन्त परतन्त्र स्वभाव वाला, जनस्य चित्तेन = लोगों का मन, तृणेन वात्या इव = आँधी के पीछे तिनके के समान (ब्रह्मा की इच्छा), अनुगम्यते = चला करता है—अनुगमन किया करता है।

भावार्थ—अवश्यम्भावी ब्रह्मा की इच्छा निर्बाधगति से जिस ओर गमन किया करती है उसी ओर मनुष्य का मन भी वायुसमूह (अथवा आँधी) से तिनके के समान अनुगमन किया करता है। जैसे तिनके तीव्र वायु के झोंको के साथ उसी ओर गमन किया करते हैं जिस ओर को वायु बहा करती है। इसी प्रकार मनुष्यों का पराधीन मन भी उसी ओर चला जाया करता है जिस ओर ब्रह्मा की इच्छा (होनहार) का गमन हुआ करता है।

राजा नल तो धीर-प्रकृति थे। फिर उनका मन हंस को पकड़ने के लिये चञ्चल क्यों हो उठा ? एतद्विषयक प्रश्न का समाधान महाकवि ने यह किया है कि ब्रह्मा की इच्छा अथवा होनहार अत्यन्त प्रबल हुआ करती है। उसे कोई रोक नहीं सकता है। ब्रह्मा की इच्छा के अनुरूप ही मनुष्य भी परवश होकर उसी प्रकार के कार्य में प्रवृत्त हो जाया करता है। अतः राजा नल भी विधाता (ब्रह्मा) की इच्छा के आधार पर ही हंस को पकड़ने हेतु प्रवृत्त हुये। कहने का तात्पर्य यह है कि अवश्यम्भावी दमयन्ती के विवाह की अनुकूलता से विधि-प्रेरित हंस के विषय में राजा के मन में (उसको पकड़ने की) उत्सुकता उत्पन्न हुयी।

अलङ्कार—"वात्या इव" की दृष्टि से उक्त श्लोक में "उपमा" अलङ्कार है।

व्याकरण—वात्या = वात + य ("पाशादिभ्यो यः" से)—तदनन्तर 'टाप्' होकर।

समास— अनवग्रहग्रहा = अनवग्रहः ग्रहः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **भृशावशात्मना** = भृशं अवशः आत्मा स्वभावो यस्य तत् (बहुव्रीहि), तेन।

टिप्पणियाँ—अवश्यभव्येषु = अवश्य होने वाले विषयों में—अथवा= होनहार सम्बन्धी विषयों में। **अनवग्रहग्रहाः** = निर्बाधरूप से विचरण करने वाली। **वेधसः** = ब्रह्मा की। **स्पृहा** = इच्छा। **भृशावशात्मना** = अत्यधिक रूप से परतन्त्र स्वभाव वाले। **तृणेन वात्या इव**=तिनका, आँधी के समान—

जिस जिस ओर आँधी गमन करती है उसी उसी ओर तिनका भी गमन किया करता है। इसी प्रकार ब्रह्मा की इच्छा के अनुरूप ही लोगों के मन भी हो जाया करते हैं। **अनुगम्यते** = पीछे-पीछे चला करता है, अनुगमन किया करता है।

प्रसङ्ग—इसके अनन्तर रति-क्रीडा के परिश्रम से थका वह हंस उसी क्रीडा-सरोवर के पास ही सो गया—

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः।
सतिर्य्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः ॥१२१॥

म०—चिकीर्षितार्थे दैवानुकूल्यं कार्यतो दर्शयति-अथेति। अथ नलदृष्टि-प्राप्त्यनन्तरं रतिक्लमालसः स खगो हंसः तदा नलकुतूहलकाले क्षणमेकः पादो यस्यां क्रियायामित्येकपादिका एकपादेनावस्थानं मत्वर्थीयष्ठन्प्रत्ययः, 'तद्धि-तार्थे'त्यादिना सङ्ख्यासमासः, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन ताद्रूप्याभा-वान्न पादः पदादेशः, तामेकपादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः आवर्त्तितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं पल्वले निदद्रौ सुष्वाप। स्वभावोक्तिर-लङ्कारः 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात्॥ १२१॥

अन्वय—अथ तदा रतिक्लमालसः स खगः एकपादिकां अवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः पक्षेण शिरः पिधाय क्षणं उपपल्वलं निदद्रौ।

संस्कृतव्याख्या—अथ = अनन्तरम्, तदा = तस्मिन् समये, रतिक्ल-मालसः = रतिक्लमेन सुरतखेदेन अलसः आलस्ययुक्तः, स, खगः = हंसः, एक-पादिकाम् = एकपादेन अवस्थानम्, अवलम्ब्य = आश्रित्य, तिर्यगावर्जितक-न्धरः = तिर्यक् यथा स्यात्तथा आवर्तितग्रीवः (सन्) पक्षेण, शिरः = मस्त-कम्, पिधाय = आच्छाद्य, क्षणम्, उपपल्वलम् = सरोवरसमीपे, निदद्रौ = सुष्वाप।

हिन्दी-अनुवाद—अथ = इसके पश्चात्, तदा = उस समय, रतिक्ल-मालसः = रतिजन्य परिश्रम के कारण आलस्ययुक्त, स खगः = वह पक्षी (हंस), एकपादिकाम् = एक पैर का, अवलम्ब्य = सहारा लेकर, तिर्यगा-वर्जितकन्धरः = गर्दन को तिरछी करके, पक्षेण शिरः पिधाय = (अपने) पंख से सिर को ढककर, क्षणम् = क्षण भर के लिये, उपपल्वलम् = उस तालाब के समीप में, निदद्रौ = सो गया।

भावार्थ—इसके पश्चात् रतिक्रीडा के परिश्रम से खिन्न मन वाला वह

हंस अपनी गर्दन को तिरछा कर अपने सिर को पंख से ढक कर एक पैर पर स्थित होकर उस क्रीडा सरोवर के पास में ही सो गया।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है। "स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्"।

व्याकरण—एकपादिकाम् = "एक पाद जिस क्रिया में है" ऐसी क्रिया का सहारा लेकर "एकः पादः यस्यां क्रियायाम्" इस अर्थ में "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" सूत्र से 'एक' शब्द का "पाद" के साथ संख्या-समास होकर "अत इनिठनौ" से मत्वर्थीय "ठन्" (इक्) प्रत्यय होने के पश्चात् "एकपादिका" शब्द बनता है। **पिधाय** = अपि + धा + ल्यप्। विकल्प से 'अ' का लोप होकर 'पिधाय' तथा 'अपिधाय' दोनों ही रूप बनते हैं। **निदद्रौ** = नि + द्रा + लिट्।

समास—रतिक्लमालसः=रतिजन्यः क्लमः इति रतिक्लमः, तेन अलसः (तृतीया तत्पु०) इति। **एकपादिकाम्** = एकश्चासौ पादः इति एकपादः (कर्मधारय), सः अस्यां स्थितौ अस्ति इति एकपादिका, ताम्। **उपपल्वलम्** = पल्वलस्य समीपे इति उपपल्वलम् (अव्ययीभाव स०)।

टिप्पणियाँ—रतिक्लमालसः = रतिक्रीडाजन्य परिश्रम के कारण आलस्ययुक्त। **एकपादिकाम** = एक पैर पर खड़े होकर। वह स्थिति कि जिसमें एक पैर का सहारा लेकर खड़ा हुआ जाता है। **अवलम्ब्य** = आश्रय अथवा सहारा लेकर। **तिर्यगावर्जितकन्धरः** = तिरछी कर ली गयी है गर्दन जिसमें—अर्थात् गर्दन को तिरछा करके। **पिधाय** = ढक कर। **क्षणम्** = क्षणभर (अर्थात् थोड़ी देर अथवा कुछ समय) के लिये। **उपपल्वलम्** = (उस) क्रीडा–सरोवर के पास में ही। **निदद्रौ** = सो गया।

प्रसङ्ग—हंस को उपर्युक्त स्थिति में देखकर राजा नल ने समझा कि यह या तो सुनहरा कमल है अथवा यह सुनहरे वर्ण का वरुण का चामर है—

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम्।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम्?॥१२२॥

म०—सनालमिति। स नलः तं निद्राणं हंसम् आत्माननेन निर्जितप्रभं निजमुखनिराकृतशोभम् अत एव ह्रिया नतं सनालं नालसहितं काञ्चनं सौवर्णमम्बुजन्मांबुजं किम्? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डितं भूषितं पीतवर्णमम्भःप्रभोरपाम्पत्युः वरुणस्य चामरं किम्? इति शब्दोऽत्राहार्य्यः इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रे-

क्षितवानित्यर्थः। बुध्यतेर्लुङि तङः 'झषस्तथोर्धो ध' इति तकारस्य धकारः ॥ १२२ ॥

अन्वय—सः तं आत्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं सनालं काञ्चनं अम्बुजन्म किम् ? विद्रुमदण्डमण्डितं पीतं अम्भःप्रभुचामरं च किम् ? (इति) अबुद्ध।

संस्कृत-व्याख्या—सः = नलः, तम् = निद्राणं हंसम्, आत्माननिर्जितप्रभम् = आत्मनः स्वकीयस्य आननेन मुखेन निर्जिता विजिता प्रभा कान्तिः यस्य तादृशम् निजमुखनिराकृतशोभम्—इत्यर्थः, (अतएव), ह्रिया=लज्जया, नतम् = नम्रम्, सनालम् = नालसहितम्, काञ्चनम् = सौवर्णम् अम्बुजन्म = पद्मम् (एतत्), किम् ? विद्रुमदण्डमण्डितम् = विद्रुमदण्डेन प्रवालदण्डेन मण्डितं सुशोभितम्, पीतम् = पीतवर्णम्, अम्भःप्रभुचामरम् = अम्भः प्रभोः वरुणस्य चामरम्, च, किम् ? (इति) अबुद्ध=बुद्धवान्—उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—सः = उस राजा नल ने, तम्=उस (सोये हुए) हंस को, आत्माननिर्जितप्रभम्=मेरे मुख के द्वारा जीत ली गई है शोभा जिसकी (ऐसा), (अतएव), ह्रिया=लज्जा से, नतम्=झुका हुआ, सनालम् = नालदण्डसहित, काञ्चनम् = सुवर्णमय, अम्बुजन्म=कमल है, किञ्च = क्या ? (अथवा) विद्रुमदण्डमण्डितम् = मूँगों से निर्मित दण्ड से अलंकृत, पीतम् = पीले रंग का, अम्भःप्रभुचामरम् = जल के स्वामी वरुण का चँवर है, किम्=क्या ? (ऐसा) अबुद्ध = जाना।

भावार्थ—उस राजा नल ने उस सोये हुये हंस को एक चरण पर बैठा हुआ होने के कारण अपने मुख से पराजित कान्ति से युक्त, अतएव लज्जा के कारण नीचे की ओर किये हुए मुख से युक्त कमलदण्ड से युक्त या तो यह सुवर्णमय कमल है अथवा मूँगों से निर्मित दण्ड से सुशोभित पीले रंग का वरुण का चँवर है, ऐसा समझा।

चूँकि वह हंस एक पैर पर स्थित था। अतः नालसहित सुवर्णकमल जैसा प्रतीत हो रहा था। और चूँकि उसका चरण रक्तवर्ण का था—इस कारण वह मूँगों से निर्मित दण्ड से युक्त चँवर सा प्रतीत हो रहा था।

अलंकार—उक्त श्लोक में "सन्देह" अलङ्कार है। स्पष्ट ही है।

व्याकरण—**काञ्चनम्** = "काञ्चनस्य विकारः" इस विग्रह में "अनुदात्तादेश्च" से "अञ्" होकर काञ्चन् + अञ्। अबुद्ध = बुध (दिवादिगणी) + लुङ् (कर्तृवाच्य, आत्मनेपद, प्रथमपुरुष एकवचन का रूप)।

समास—आत्माननिर्जितप्रभम् = आत्मनः आननम् (षष्ठी तत्पु०) इति आत्माननम्—तेन निर्जिता प्रभा यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **अम्बुजन्म** = अम्बुनि जन्म यस्य तत् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—आत्माननिर्जितप्रभम् = अपने (राजा नल के अपने) मुख की कान्ति द्वारा जीत ली गयी थी कान्ति जिसकी ऐसा (कमल)। **काञ्चनम्** = सुवर्णनिर्मित अथवा सोने का अथवा सुनहरी कान्ति से युक्त। **अम्बुजन्म** = कमल। **विद्रुमदण्डमण्डितम्** = मूँगों से निर्मित दण्ड से सुशोभित। उस चँवर का दण्ड मूँगों से निर्मित होने के कारण लाल था। **अम्भःप्रभुचामरम्** = जल के स्वामी—वरुण का चँवर। **अबुद्ध** = जाना, समझा।

प्रसङ्ग—वन के वृक्षों के नवपल्लवों तथा जलीय कमलों के साथ युद्ध की इच्छा रखने वाले राजा नल के चरणों ने मानों जूतों के रूप में कवच ही बाँध रखा था—

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥१२३॥

म०—कृतेति। ततस्तन्निदर्शनानन्तरं हयादश्वात्कृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य नलस्योपानहौ वर्मणी पादत्राणे। 'पादत्राणे उपानहौ' इत्यमरः। पदे चरणे तयोर्वनयोः सलिलकाननयोः 'वने सलिलकानने' इत्यमरः। प्रवालैः पल्लवैः तथाम्बुजैः पद्मैश्चेत्यर्थः, 'सहार्थे तृतीया' नियोद्धुं कामोऽभिलाषो ययोस्तेनियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थः। 'तुं काममनसोरपी' ति तुमुनो मकारलोपः, अतो बद्धवर्म्मणी किमु बद्धकवचे इव ते रेजतुः किमित्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

अन्वय—ततः हयात् कृतावरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयोः प्रवालैः तथा अम्बुजैः नियोद्धुकामे बद्धवर्मणी किमु रेजतुः।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = तदनन्तरम्, हयात्=अश्वात् , कृतावरोहस्य= कृतावतरस्य अस्य = नलस्य, उपानहौ=पादत्राणे, बिभ्रती = धारयन्त्यौ, पदे = चरणौ, तयोः, वनयोः=सलिलकाननयोः प्रवालैः=पल्लवैः, तथा=च, अम्बुजैः = पद्मैश्च, नियोद्धुकामे=युद्धकामे—इत्यर्थः, बद्धवर्मणी = बद्धकवचे, किमु = इव, रेजतुः शुशुभाते।

हिन्दी-अनुवाद—ततः=तदनन्तर, हयात्कृतावरोहस्य=घोड़े से उतरे हुये, अस्य=इस राजा नल के, उपानहौ = जूतों को, बिभ्रती = धारण किये हुये, पदे =

दोनो पैर, तयोः वनयोः = उन दोनों वनों (उपवन तथा सरोवर) के (क्रमशः), प्रवालैः = नूतनपल्लवों, तथा = और, अम्बुजैः = कमलों के साथ, नियोद्धुकामे= युद्ध करने की इच्छा से, बद्धवर्मणी = कवच बाँधे हुये के, किमु = सदृश, रेजतुः = सुशोभित हुये।

भावार्थ—जूतों को धारण किये हुये राजा नल के चरण ऐसे प्रतीत होते कि मानों वन में उत्पन्न हुये नूतन पल्लवों तथा कमलों के साथ युद्ध करने के निमित्त (उन पैरों ने) कवच (जूता रूपी कवचों को) धारण कर रखा हो।

अलङ्कार—इस श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—**उपानहः** = उप + नह् + क्विप्—"नहिवृत्ति···" इत्यादि सूत्र से दीर्घ होकर। **नियोद्धुकामे** = नियोद्धुम् + कम् + णिङ् + अच्—यहाँ 'तुङ्काममनसोरपि' से तुमुन् के 'म्' का लोप हो जाता है। **रेजतुः** = राज + लिट्—(प्रथम पुरुष द्विवचन का रूप)।

समास—**कृतावरोहस्य** = कृतः अवरोहः येन सः (बहुव्रीहि)—कृतावरोहः तस्यः। **वनयोः** = वनं च वनं च इति वने—तयोः। **नियोद्धुकामे** = नियोद्धुं कामयेते इति नियोद्धुकामे।

टिप्पणियाँ—**हयात्** = घोड़े से, **कृतावरोहस्य** = उतरे हुये—(कर लिया है उतरना जिसने)। **उपानहौ** = (दोनों चरणों में धारण किये गये हुये) जूते। **बिभ्रती** = धारण किये गये हुये अथवा पहने हुये। **वनयोः** = यहाँ पर वन श्लिष्ट पद है। इसके दो अर्थ हैं (१) वन (कानन) (२) जल— "वने सलिलकानने" इत्यमरः। वन में उत्पन्न वृक्षों अथवा पौधों के नूतन किसलयों (पल्लवों) तथा जल में उत्पन्न कमलों के साथ युद्ध करने की इच्छा से राजा नल के दोनों चरणों ने, मानो, जूतों के रूप में कवच ही बाँध रखे थे। **नियोद्धुकामे** = युद्ध करने की इच्छा से। **बद्धवर्मणी** = कवचों को बाँधे हुये अथवा धारण किये हुये। **रेजतुः** = सुशोभित हुये।

प्रसंग—राजा नल ने चुपके से पास जाकर उस हंस को अपने हाथ से पकड़ लिया—

विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥१२४॥

स०—विधायेति। अयं नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं ह्रस्वां गौरादित्वात् ङीप्, बलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः,

मूर्तिं विधाय कायं सङ्कुच्येत्यर्थः। मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्त-हंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं पक्षिणं समधत्त, संधृतवान् जग्राहेत्यर्थः। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १२४ ॥

अन्वय—अयं नृपः स्वयं कपटेन बलिध्वंसिविडम्बिनीं वामनीं मूर्तिं विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वः पाणिना पतङ्गं समधत्त।

संस्कृत-व्याख्या—'अयम्, नृपः = नलः, स्वयम् = आत्मनैव, कपटेन = छलेन, बलिध्वंसिविडम्बिनीम् = बलिध्वंसी नारायणः तस्य विडम्बिनीं अनुकारिणीम्, वामनीम् = ह्रस्वाम्, मूर्तिम् = स्वरूपम्, विधाय = कृत्वा—स्वशरीरं संकोच्येत्यर्थः, मौनिना = निःशब्देन, चरणेन = पादेन, उपेतपार्श्वः = उपेतः पार्श्वः हंससामीप्यं येन तादृशः, पाणिना = हस्तेन, पतङ्गम् = पक्षिणं हंसम्, समधत्त = संधृतवान्—"जग्राह" इत्यर्थः, ।

हिन्दी-अनुवाद—अयं नृपः = इस राजा नल ने, स्वयम् = अपने आप ही, कपटेन = छल से, बलिध्वंसिविडम्बिनीम् = राजा बलि के दर्प को नाश करने वाले अथवा राजा बलि का ध्वंस करने वाले वामनावतार विष्णु की मूर्ति का अनुकरण करने वाले, वामनीम् = छोटे से, मूर्तिम् = स्वरूप को, विधाय=बनाकर, मौनिना = शब्द रहित—चुपचाप, चरणेन = (दबे) पैर से, उपेतपार्श्वः= पास जाकर, पाणिना = (अपने) हाथ से, पतङ्गम् = पक्षी (हंस) को, समधत्त= पकड़ लिया।

भावार्थ—इस राजा (नल) ने बलिध्वंसी (नारायण) के सदृश कपट से अपने शरीर को छोटा बनाकर शब्दरहित चरण से (हंस के) पास जाकर (अपने ही) हाथ से उस पक्षी अर्थात् हंस को स्वयं पकड़ लिया।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है।

व्याकरण—विडम्बिनीम्=वि + डम्ब् + णिच् + णिनि + ङीप् (द्वितीया एक वचन में)। वामनीम् = वामन + अण् + ङीप् अथवा गौरादित्वात् ङीप्। समधत्त = सम् + धा + लङ् (आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, एक वचन)

समास—बलिध्वंसिविडम्बिनीम् = बलिं ध्वंसयितुं शीलमस्य इति बलिध्वंसी, बलिध्वंसिनं विडम्बयतीति बलिध्वंसिविडम्बिनी ताम्। उपेतपार्श्वः = उपेतः पार्श्वः येन सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—कपटेन = कपट, छल या बहाने से। बलिध्वंसिविडम्बिनीम् = बलि का ध्वंस अथवा विनाश करने वाले (वामनावतार विष्णु)

का अनुसरण करने वाली। अथवा पाताल के राजा बलि के अभिमान का नाश करने वाले वामनावतार भगवान् विष्णु की मूर्ति का अनुकरण करने वाली। **वामनीं मूर्तिं विधाय** = छोटा या बौना सा स्वरूप धारण कर। इस विषय में एक पौराणिक कथा है कि पाताल के राजा बलि को अपनी दानवीरता का बड़ा अभिमान था। अतः विष्णु ने वामनावतार के स्वरूप को धारण-कर राजा बलि के समक्ष पहुँचकर उनसे तीन पग (चरण) भूमि माँगी। और स्वीकृति प्राप्त होने पर उन्होंने २ (ढाई) चरण में ही तीनों लोकों को नाप लिया और तदन्तर शेष आधे चरण में राजा बलि के शरीर पर भी अपना अधिकार कर लिया था। **मौनिना चरणेन** = दबे पैर से—शब्द रहित पैर से—अथवा चुपके से। **उपेतपार्श्वः** = प्राप्त कर ली है समीपता जिसने—अर्थात् समीप में जाकर उस हंस के पास पहुँचकर। **पतङ्गम्** = पक्षी (हंस) को। **समधत्त** = पकड़ लिया। वामनावतार में विद्यमान वामन की ही तरह राजा नल ने भी चुपके से (शब्द रहित पैरों से) हंस के पास जाकर उसे पकड़ लिया।

प्रसङ्ग—अपने को पकड़ा हुआ समझकर उस हंस ने बार-बार उड़ने का प्रयास किया और पकड़ने वाले के हाथों को काटने लगा—

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम्॥१२५॥

स०—तदिति। स हंसः आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान्। यसु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः। उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विक्रुश्य निरोद्धुः ग्रहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान्। अत्रापि स्वभावोक्तिरेव॥ १२५॥

अन्वय—तदा सः आत्मानं आत्तं अवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः उत्प्लवाय प्रायसत् उड्डयने निराशतां गतः विरुत्य निरोद्धुः करौ केवलं दशति स्म।

संस्कृत व्याख्या—तदा = तस्मिन् समये, सः = हंसः, आत्मानम् = स्वम्, आत्तम् = [तेन नलेन] गृहीतम्, अवेत्य = ज्ञात्वा, ससंभ्रमात् = भयस्य कारणात्, पुनः पुनः = भूयो भूयः, उत्प्लवाय = उत्पतनाय, प्रायसत् = प्रयत्नमकरोत्। उड्डयने = उत्पतने, निराशताम् = आशाराहित्यम्, गतः = प्राप्तः, विरुत्य = विक्रुश्य, निरोद्धुः = गृहीतुः, करौ—हस्तौ, केवलम् = मात्रम्, दशति स्म = दष्टवान्।

हिन्दी अनुवाद—तदा = तब, सः = वह हंस, आत्मानम्=अपने आपको आत्तम् = (राजा नल के द्वारा) पकड़ा हुआ; अवेत्य = जानकर, ससंभ्रमात् = घबराहट के कारण, पुनः पुनः = बार-बार, उत्प्लवाय = उड़ने के लिये, प्रायसत्—प्रयत्न करने लगा। उड्डयने = उड़ने में, निराशतांगतः = निराशा को प्राप्त हुआ [वह], विरुत्य = रो रोकर, निरोद्धुः = पकड़नेवाले के, करौ = दोनों हाथों को ही, केवलम् = केवल, दशति स्म = काटने लगा।

भावार्थ—तब उस हंस ने अपने को (राजा नल द्वारा) पकड़ा हुआ जानकर घबराहट के साथ बार-बार उड़ने का प्रयत्न किया [किन्तु उड़ न सका]। फिर उड़ने में निराश होकर वह रो रो कर पकड़ने वाले (राजा नल) के दोनों हाथों को ही काटने लगा।

अलङ्कार—इस श्लोक में भी "स्वभावोक्ति" अलङ्कार ही है।

व्याकरण—प्रायसत् = प्र + यस् + लुङ् (प्रथमपुरुष, एकवचन का रूप) **आत्तम्** = आ + दा + क्त—स्वरान्त उपसर्ग से परे 'दा' धातु को 'त्' हो जाता है। **निरोद्धुः**—नि + रुध् + तृच्—षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप।

टिप्पणियाँ—आत्मानम् = स्वयं अपने आपको। **आत्तम्** = पकड़ा हुआ। **अवेत्य** = समझकर–जानकर। **ससंभ्रमात्** = घबराहट अथवा हड़बड़ी के कारण। **उत्प्लवनाय** = उड़ने के लिये। **प्रायसत्** = प्रयास अथवा प्रयत्न किया। **विरुत्य** = रोने का विशेष शब्द करके। **निरोद्धुः** = पकड़ने वाले व्यक्ति के–राजा नल के। **दशति स्म** = काटने लगा। यहाँ "स्म" के योग में "लट् स्मे" सूत्र के नियमानुसार भूत अर्थ में ही लट् का प्रयोग हुआ है।

प्रसङ्ग—वह तालाब अपने कमलरूप हाथों द्वारा उस हंस को पकड़ने से राजा नल को मना सा कर रहा था—

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम्।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥१२६॥

म०—स इति। ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेनाकुलं सङ्कुलं सरः उत्कतया उन्मनस्तया 'उत्क उन्मना' इति निपातनादिविधानाच्च साधुः। अनुकम्पितांप्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः करैरिति व्यस्तरूपकम् पतगग्रहात्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिवेत्युत्प्रेक्षा वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्,

अतएवेवशब्दस्य उपमाबाधेनार्थानुसाराद्व्यवहितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति, रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १२६ ॥

अन्वय—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः उत्कतया अनुकम्पितां प्रपद्य ऊर्मिलोलैः वारिरुहैः करैः तं नृपं पतगग्रहात् न्यवारयत् इव ।

संस्कृत व्याख्या—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलम् = ससंभ्रमं सत्वरं उत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसमूहेन आकुलं व्याप्तम्, सरः, उत्कतया = उन्मनस्तया, अनुकम्पिताम् = सकम्पतां दयालुतां वा, प्रपद्य = प्राप्य, ऊर्मिलोलैः = तरङ्गचञ्चलैः, वारिरुहैः = कमलैः (एव), करैः = हस्तैः, तं नृपम् = राजानं नलम्, पतगग्रहात् = पक्षिग्रहात्, न्यवारयत् इव = न्यषेधयत् इव ।

हिन्दी अनुवाद—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलम् = घबराकर उड़नेवाले पक्षिसमूह से व्याप्त, सरः = सरोवर, उत्कतया=ऊपर उठते हुये जल के कारण अथवा उदासीन मन होने के कारण, अनुकम्पिताम् = दयालुता अथवा कम्पनशीलता को, प्रपद्य=प्राप्त करके, ऊर्मिलोलैः = तरंगों से चंचल, वारिरुहैः करैः= (अपने) कमलरूप हाथों के द्वारा, तं नृपम् = उस राजा नल को, पतगग्रहात् = पक्षियों के पकड़ने से, न्यवारयत् इव = मना सा कर रहा था ।

भावार्थ—[अपने सजातीय हंस के पकड़ जाने के कारण] भय से उड़ जाने वाले पक्षिसमूह से व्याप्त [अथवा—हंस विषयक उत्कण्ठा के कारण दयालुता को प्राप्त] वह सरोवर तरङ्गों से चंचल कमलरूप हाथों के द्वारा उस राजा नल को पक्षियों के पकड़ने से रोक सा रहा था ।

राजा ने जब उस हंस को पकड़ लिया तब उस तड़ाग में विहार करने वाले अन्य सभी पक्षी भय के कारण (कहीं हमको भी न पकड़ लिया जाय—इस भय से) एक साथ उड़ गये । उड़ते समय उनके पंखों की हवा से उस तालाब का जल चंचल हो गया और तालाब में उत्पन्न हुई लहरों से कमल हिलने, डुलने लगे । उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो कमल रूपी हाथों के हिलने-डुलने रूप माध्यम द्वारा वह तालाब ही राजा को पक्षियों के पकड़ने से रोक रहा है ।

अलङ्कार—यहाँ कमलों में हाथों का आरोप किया गया है । जड़ तालाब, वस्तुतः मना नहीं कर सकता है । अतः उसमें मना करने रूप क्रिया की उत्प्रेक्षा की गयी है । अतः उक्त श्लोक में रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

इसके अतिरिक्त श्लोक में अनुप्रास एवं स्वभावोक्ति अलङ्कारों की छटा भी स्पष्ट रूप से दर्शनीय है।

व्याकरण—ससंभ्रमोत्पाति = ससंभ्रम + उद् + पत् + णिनि ।

समास—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलम् = पततां कुलम् पतत्कुलम् (षष्ठीतत्पु०), संभ्रमेण सहितं ससंभ्रमम्, ससंभ्रमं उत्पतितुं शीलमस्य इति ससंभ्रमोत्पाति, ससंभ्रमोत्पाति, पतत्कुलं (कर्मधारय) इति ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलम्, तेन आकुलम् (तृतीया तत्पु० । **उत्कतया** = उत् उच्छलत्कं उदकं यस्य तस्य भावः तत्ता तया । **पतगग्रहात्** = पतगस्य ग्रहः (षष्ठीतत्पु०) इतिपतगग्रहः तस्मात् ।

टिप्पणियाँ—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलम् = घबराहट के कारण उड़ने वाले पक्षियों के समूह से व्याप्त । **उत्कतया** = जल में उत्पन्न हुये कंपन के कारण अथवा उन्मन होने के कारण । **अनुकम्पिताम्** = दयालुता, कृपालुता को । **प्रपद्य** = प्राप्त करके । **ऊर्मिलोलैः** = लहरों के कारण चंचल । **वारिरुहैः** = कमलों से—(कमलरूपी हाथों से) । **पतगग्रहात्** = पक्षियों (हंसों आदि) के पकड़ने से । **न्यवारयत् इव** = निषेध सा कर रहा था, रोक रहा था ।

प्रसङ्ग—राजा नल द्वारा उस हंस को पकड़ लिये जाने के कारण उसके साथी अन्य हंसों ने विवाद किया—

पतत्त्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥१२७॥

म०—पतत्त्रिणेति । रुचिरेण पतत्त्रिणा हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सरः विहाय प्रयान्त्याः गच्छन्त्याः श्रियो लक्ष्म्याश्चलन्त्यां पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा साम्यं यस्याः सा कलहंसमण्डली कूले चूकूज । यूथभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावस्तत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्याः सरः शोभायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्यां तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते । उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक इत्यवधेयम् ॥ १२७ ॥

अन्वय—रुचिरेण पतत्रिणा वञ्चितं तत् पल्वलं प्रविहाय प्रयान्त्याः श्रियः चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा कलहंसमण्डली कूले चुकूज ।

संस्कृत व्याख्या—रुचिरेण = मनोज्ञेन, पतत्त्रिणा = हंसेन, वञ्चितम् = विरहितम्, तत्, पल्वलम् = सरः, प्रविहाय = त्यक्त्वा, प्रयान्त्याः = गच्छन्त्याः,

श्रियः = लक्ष्म्याः—शोभायाः, चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा = चलद्भ्यां चरण-कमलनूपुराभ्यां उपमा साम्यं यस्याः सा, कलहंसमण्डली = राजहंससंहतिः, कूले = तीरे, चुकूज = निनादं चकार ।

हिन्दी-अनुवाद—रुचिरेण पतत्रिणा=सुन्दर पक्षी (हंस) से, वञ्चितम्= विरहितम्, तत् पल्वलम् = उस तालाब को, प्रविहाय = छोड़कर, प्रयान्त्याः = जाती हुयी, श्रियः = लक्ष्मी (शोभा) के, चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा = शब्द करते हुये कमल-सदृश चरणों के नूपुरों के समान, कलहंसमण्डली = राजहंस-समूह ने, कूले = किनारे पर, चुकूज = कूजन किया ।

भावार्थ—उस सुन्दर पक्षी (हंस) से रहित तालाब को छोड़कर गमन करती हुयी लक्ष्मी (तालाब की शोभा) के चञ्चल चरणकमल के नूपुरों के सदृश राजहंससमूह (उस तालाब के) किनारे पर शब्द करने लगा ।

अलङ्कार—महाकवि द्वारा यहाँ यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि वह कलहंसनिनाद, मानो, हंस के पकड़े जाने से रुष्ट होकर उस तालाब को छोड़कर जाती हुयी लक्ष्मी (तालाब की शोभा) के चरणों के नूपुरों की झङ्कार थी । इसके अतिरिक्त उक्त श्लोक में अनुप्रास तथा स्वभावोक्ति अलङ्कारों की भी छटा दर्शनीय है ।

समास—चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा = चलन्ती पदाम्भोरुहे (कर्मधारय) इति चलत्पदाम्भोरुहे, तयोः स्थितौ नूपुरौ—इति चलत्पदाम्भोरुह-नूपुरौ—ताभ्यां उपमा यस्याः सा (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—रुचिरेण = सुन्दर, मनोहर । **पतत्रिणा** = पक्षी से—हंस से । **वञ्चितम्** = विरहित—विहीन । **प्रविहाय** = छोड़कर । **प्रयान्त्याः** = जाती हुयी—गमन करती हुयी । **श्रियः** = लक्ष्मी (शोभा) की । **चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा** = चञ्चल चरणरूपी कमलों में धारण किये गये हुये नूपुरों के समान । **कलहंसमण्डली** = सुन्दर हंसों का समूह—राजहंसों के झुण्ड ने । **चुकूज** = शब्द किया—निनाद किया ।

प्रसङ्ग—उस तालाब को छोड़कर आकाश में गमन करते हुये पक्षियों ने अपने तीव्र शब्दों के द्वारा राजा नल की निन्दा की—

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥१२८॥

म०—नेति । इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न, कुतः अङ्ग भोः !

यस्या वसुधाया उज्झितस्थितिः त्यक्तमर्य्यादः ईदृशः अनपराधपक्षिधारकः त्वं पतिः पालकः, इत्थं खगाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैरुच्चध्वनिभिराचुक्रुशुः खलु। उक्तरीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा गम्या ॥१२८॥

अन्वय—'इयं वसुधा वासयोग्या न, यस्याः, अङ्ग !, उज्झितस्थितिः ईदृशः त्वं पतिः' इति क्षितिं प्रहाय नभः आश्रिताः खगाः तं आरवैः आचुक्रुशु खलु।

संस्कृत-व्याख्या—'इयम् = दृश्यमाना, वसुधा = पृथ्वी, वासयोग्या = निवासयोग्या, न = नहि, यस्याः = वसुधायाः अङ्ग ! = भोः ! उज्झितस्थितिः= त्यक्तमर्यादः, ईदृशः = अनपराधपक्षिधारकः, त्वम् = भवान् , पतिः = पालकः ! इति = इत्थम् , क्षितिम् = पृथ्वीम् , प्रहाय = त्यक्त्वा. नभः = आकाशम् , आश्रिताः = प्राप्ताः, खगाः = पक्षिणः, तम् = नलम् , आरवैः = उच्चध्वनिभिः, आचुक्रुशुः खलु = उक्त रीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुः इव।

हिन्दी अनुवाद—"इयम् = यह, वसुधा = पृथ्वी, वासयोग्या = निवास करने योग्य, न = नहीं है, यस्याः = जिस पृथ्वी का, अङ्ग ! = ओह, उज्झितस्थितिः = मर्यादा का त्याग करने वाले, ईदृशः = इस प्रकार के, त्वम् = तुम जैसे, पतिः = स्वामी अथवा रक्षक हों, इति = ऐसा कहकर, क्षितिम् = पृथ्वी को, प्रहाय = छोड़कर, नभः = आकाश का, आश्रिताः = आश्रय प्राप्त करने वाले, खगाः = पक्षियों ने, तम् = उस राजा नल की, आरवैः = उच्च स्वरों से, आचुक्रुशुः खलु = मानों निन्दा की।

भावार्थ—हे अङ्ग ! (हे राजन् नल !) यह पृथ्वी निवास के योग्य नहीं है, जिस पृथ्वी के मर्यादा का भंग करने वाले तुम जैसे (निरपराध हंस को पकड़ने वाले) पालक अथवा रक्षक हों। इस प्रकार पृथ्वी का त्याग कर आकाश का आश्रय प्राप्त करने वाले पक्षियों ने जोरदार शब्दों में मानो उस राजा नल की निन्दा की।

अलङ्कार—इसमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—उज्झित = उज्झ् (तुदादिगणी) + क्त। आरवैः = आ + रु अप् ("ऋदोरप" सूत्र से)।

समास—उज्झितस्थितिः = उज्झिता त्यक्ता स्थितिः मर्यादा येन सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—वासयोग्या = निवास करने योग्य-रहने योग्य। उज्झित-

स्थितिः = मर्यादा का त्याग कर दिया है जिसने। राजा का कर्तव्य था कि वह सभी प्राणियों की रक्षा करे—न कि हंस को पकड़ कर उसे और अधिक कष्ट प्रदान करे। ईदृशः = इस प्रकार का—निरपराध पक्षी (हंस) पकड़ लेने वाला। आरवैः = उच्चस्वरों से युक्त ध्वनि अथवा शब्दों द्वारा। आचुक्रुशुः = चिल्लाये—अर्थात् उपालम्भरूप में उस राजा की निन्दा की।

प्रसङ्ग—हंस की प्रशंसा करने वाले राजा नल से उस हंस ने कहा—

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥१२९॥

स०—नेति। इयमीदृग्जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्नसौन्दर्यत्वं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट -इत्यर्थः। इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथास्मिनन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति सः तेन मानसौकसा हंसेन 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस' इत्यमरः। अवादि उक्तः। वदेः कर्मणि लुङ् ॥ १२९ ॥

अन्वय—इयं जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथ करपञ्जरस्पृशा तेन मानसौकसा अवादि।

संस्कृतव्याख्या—इयम् = ईदृक्, जातरूपच्छदजातरूपता = जातरूपस्य सुवर्णस्य छदौ पक्षौ—ताभ्यां जातं रूपं सौन्दर्यं यस्य तस्य भावः तत्ता, द्विजस्य = पक्षिणः, न दृष्टा—हिरण्यमयः पक्षी न कुत्रापि दृष्टः—इत्यर्थः—इति = इत्थम्, मुहुः = वारंवारम्—, स्तुवन् = प्रशंसन्, जनाधिनाथः = सः राजा नलः, अथ = अस्मिन्नन्तरे, करपञ्जरस्पृशा = करतलगतेन, तेन, मानसौकसा—हंसेन, अवादि = उक्तः।

हिन्दी-अनुवाद—इयम् = यह (ऐसी), जातरूपच्छदजातरूपता = सोने के पंखों से उत्पन्न सुन्दरता, द्विजस्य = पक्षी (हंस) की, न दृष्टा = (कभी कहीं) नहीं देखी, इति = इस प्रकार, मुहुः स्तुवन् = वार-वार प्रशंसा करते हुये, स जनाधिनाथः = उस राजा नल से, अथ = उस समय, करपञ्जरस्पृशा = हाथरूपी पिंजड़े में स्थित, तेन मानसौकसा = उस मानसरोवर में निवास करनेवाले हंस ने, अवादि = कहा।

भावार्थ—ऐसा सोने के पंखों से उत्पन्न सौन्दर्य किसी भी पक्षी का पहले कभी भी नहीं देखा गया है, इस भाँति हंस की बार-बार प्रशंसा करते हुये राजा नल से वह मानसरोवर निवासी हंस बोला।

अलङ्कार—इस श्लोक में अनुप्रास तथा रूपक अलङ्कार है।

व्याकरण—जातरूपच्छदजातरूपता = जातरूपच्छदजातरूप + तल् + टाप्। **करपञ्जरस्पृशा** = करपञ्जर + स्पृश् + क्विन्—(तृतीया विभक्ति—एकवचन का रूप)।

समास—जातरूपच्छदजातरूपता = जातरूपस्य छदौ (षष्ठीतत्पु०) इति जातरूपच्छदौ ताभ्यां जातं रूपं यस्य (बहुव्रीहि) तस्य भावः। **करपञ्जरस्पृशा** = करौ एव पञ्जरं अथवा करः एव पञ्जरं—इति करपञ्जरम्, तत् स्पृशतीति करपञ्जरस्पृक् तेन। **मानसौकसा** = मानसं सरः ओकः स्थानं यस्य स मानसौकसः (बहुव्रीहि), तेन।

टिप्पणियाँ—जातरूपच्छदजातरूपता = स्वर्णनिर्मित पंखों से उत्पन्न सौन्दर्य को। **द्विजस्य** = पक्षी (हंस) का। **जनाधिनाथ** = लोकनाथ—राजा। **करपञ्जरस्पृशा** = हाथ रूपी पिंजड़े का स्पर्श करने वाला अथवा हाथों रूपी पिंजड़े में बन्द। **मानसौकसा** = मानसरोवर ही निवास स्थान हो जिसका—मानसरोवरनिवासी—हंस। **अवादि** = बोला, कहा।

प्रसङ्ग—सुवर्ण के पंखों के प्रति लोभी हे राजन्! तुमको धिक्कार है—

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥ १३० ॥

म०—तदेव चतुर्भिराह—धिगित्यादि। हेम्नो जन्म येषां तान् हेमजन्मनो हैमान् मम पक्षान् पतत्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशगं भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोरि' त्यमरः। 'धिगुपर्य्यादिषु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति द्वितीया। तुषारशीकरैः हिमकणैरर्णवस्येव तव एभिः पक्षैः कियान् कमलाया लक्ष्म्याः कमलस्य जलजस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत्, न कियानित्यर्थः ॥ १३० ॥

अन्वय—मम हेमजन्मनः पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरलं भवन्मनः धिक् अस्तु। तुषारसीकरैः अर्णवस्य इव तव अमीभिः कियान् कमलोदयः भवेत्।

संस्कृत-व्याख्या—मम = मे, हेमजन्मनः = सुवर्णप्रभवान्, पक्षान् = छदान्, समीक्ष्य = अवलोक्य, तृष्णातरलम् = आशावशगम्, भवन्मनः = तव मानसम्, धिक् अस्तु—निन्दनीयमस्तु। तुषारसीकरैः = हिमकणैः अर्णवस्य इव, तव = भवतः, अमीभिः = एभिः पक्षैः, कियान् = कियत् परिमाणः,

कमलोदयः = कमलायाः लक्ष्म्याः कमलस्य जलस्य च उदयः वृद्धिः आधिक्यं वा, भवेत् = स्यात्—न कियानपीत्यर्थः ।

हिन्दी-अनुवाद—मम = मेरे, हेमजन्मनः = स्वर्ण से उत्पन्न, पत्त्रान् = पंखों को, समीक्ष्य = देखकर, तृष्णातरलम् = लोभ से चंचल, भवन्मनः = आपके मन को, धिक् अस्तु = धिक्कार है। तुषारसीकरैः = हिम (तुषार) की बूँदों से, समुद्रस्य इव = समुद्र के समान, तव = आपकी, अमीभिः = उन पंखों से, कियान् = कितनी, कमलोदयः = लक्ष्मी की वृद्धि (आधिक्य) [समुद्र पक्ष में—जल की वृद्धि], भवेत् = हो सकती है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

भावार्थ—जिस भाँति अथाह जल से परिपूर्ण समुद्र के जल में ओस की बूँदों से कुछ भी वृद्धि होना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार समस्त ऐश्वर्यों से युक्त आपका धन मेरे इन स्वर्ण निर्मित पंखों से कुछ भी वृद्धि को प्राप्त न हो सकेगा। अतएव हे राजन् इन मेरे स्वर्ण पंखों के लिये उत्पन्न हुये लोभ से आपके चंचल मन को धिक्कार है।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उपमा" अलंकार है।

समास—हेमजन्मनः = हेम्नः जन्म येषां ते हेमजन्मानः तान् हेमजन्मनः । **कमलोदयः** = कमलायाः कमलस्य वा उदयः इति कमलोदयः ।

टिप्पणियाँ—**हेमजन्मनः** = सोने से हुआ है जन्म जिनका ऐसे मेरे (हंसके) पंख। अर्थात् सोने के। **समीक्ष्य**=देखकर। **तृष्णातरलम्** = तृष्णा अर्थात् लोभ के कारण चंचल। **भवन्मनः**—आपके मन को। यहाँ "मन" में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग "उभसर्वतसोः कार्या कार्या धिगुपर्यादिषुत्रिषु। द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥" इस नियम के आधार पर हुआ है। **तुषारसीकरैः** = हिम कणों से—ओस की बूँदों से अथवा पाले की बूँदों से। "सीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः"—इत्यमरः। **कमलोदयः** = लक्ष्मी की वृद्धि—(समुद्र-पक्ष में—जल की वृद्धि।) "कमला श्रीहरिप्रिया," सलिलं कमलं जलम्"—इत्यमरः। **भवेत्** = होगा।

प्रसङ्ग—तुम्हारे द्वारा मेरी हिंसा किया जाना अत्यन्त निन्दनीय होगा—

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥१३१॥

म०—नेति। हे नृप ! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो विस्रब्धचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थः मम वधः केवलं प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वा-

सघातपातकमित्यर्थः । ततः किमत आह—विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि निबर्हणं हिंसनं धर्म्मधनैर्धर्मपरैः मन्वादिभिः विशिष्यातिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

अन्वय—त्वदीक्षणाद् विश्वसितान्तरात्मनः मम वधः केवलं प्राणिवधः न, विश्वासजुषां द्विषामपि निबर्हणं धर्मधनैः विशिष्य विगर्हितम् ।

संस्कृत-व्याख्या—[हे नृप], त्वदीक्षणाद् = त्वन्मूर्त्तिदर्शनादेव, विश्वसितान्तरात्मनः = विश्वसितः विश्वासं प्राप्तः अन्तरात्मा मनो यस्य तादृशस्य, मम = मे, वधः = हननम्, केवलम्, प्राणिवधः न = प्राणिमात्र वधो न, किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः । ततः किमतः आह—विश्वासजुषाम्=विस्रम्भभाजाम् द्विषामपि = शत्रूणामपि, निबर्हणम् = हिंसनम्, धर्मधनैः = धर्मएव धनं येषां तैः मन्वादिभिः, विशिष्य = अतिरिच्य, विगर्हितम् = अत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः ।

हिन्दी-अनुवाद—[हे राजन्] त्वदीक्षणात् = आपके दर्शन मात्र से ही, विश्वसितान्तरात्मनः = विश्वस्त अन्तःकरण वाले, मम = मेरा, वधः = वध, केवलं प्राणिवधः न = प्राणिमात्र का वध नहीं है [अपितु विश्वासघात सम्बन्धी पाप भी आपको लगेगा ही] । विश्वासजुषाम् = विश्वास करने वाले, द्विषामपि = शत्रुओं का भी, निबर्हणम् = वध करना, धर्मधनैः = धर्म ही जिनका धन है ऐसे मनु आदि धर्मशास्त्रकारों द्वारा, विशिष्य विगर्हितम् = विशेषरूप से अत्यन्त निन्दनीय कर्म कहा गया है ।

भावार्थ—हे राजन् ! मैंने तुम्हारे दर्शनमात्र से ही तुम पर विश्वास कर लिया है । फिर ऐसे मुझ जैसे विश्वासी का तुम्हारे द्वारा वध किया जाना केवल जीवहिंसा मात्र ही नहीं कही जायगी अपितु विश्वासघात सम्बन्धी महान् पाप के भी आप भागी होंगे । क्योंकि मनु आदि धर्मशास्त्रकारों ने तो विश्वास में आये हुये शत्रु का वध करना भी अत्यन्त निन्दनीय कर्म कहा है । फिर मैं तो आपका शत्रु भी नहीं हूँ । आपका अपना ही व्यक्ति हूँ तथा आप पर पूर्ण विश्वास भी कर रहा हूँ अतः आप द्वारा मेरा वध किया जाना नितान्त अनुचित ही होगा ।

अलंकार—उक्त श्लोक में "अनुप्रास" अलङ्कार है ।

समास—विश्वसितान्तरात्मनः = विश्वसितः अन्तरात्मा यस्य सः (बहुव्रीहि), तस्य । धर्मधनैः = धर्म एव धनं येषां तैः ।

टिप्पणियाँ—त्वदीक्षणाद् = आपके दर्शन मात्र से ही । अर्थात् जैसे

ही मैंने आपका दर्शन प्राप्त किया वैसे ही मुझे आप पर विश्वास हो गया। **विश्वसितान्तरात्मनः** = विश्वास उत्पन्न हो गया है अन्तरात्मा (हृदय) में जिसके ऐसा मैं (हंस)। हंस के कहने का अभिप्राय यह है कि मैंने आपको देखकर ही एक अत्यन्त उदारचेता महानुभाव समझकर आप पर पूर्ण विश्वास कर लिया था। इसी कारण पूर्ण विश्वस्त होकर मैं सो भी गया था। सोने के कारण धोखे से आपने मुझे पकड़ लिया। **विश्वासजुषाम्**=विश्वसित-विश्वास में आये हुये। **निवर्हणम्** = हनन करना या मारना। **विशिष्य** = विशेषकरके विशेषरूप से। **विगर्हितम्** = अत्यधिक निन्दा की है।

प्रसङ्ग—हे राजन्! मैं आपकी कृपा का पात्र हूँ। ऐसे कृपापात्र पक्षी पर अपने पराक्रम का प्रयोग करना आपके लिये सर्वथा अनुचित एवं निन्दनीय ही है—

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ?।
धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥१३२॥

स०—पदे पद इति। रणोद्भटाः रणेषु प्रचण्डाः भटा योधाः पदे-पदे सन्ति सर्वत्र सन्तीत्यर्थः, वीप्सायां द्विर्भावः। एष हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु पूर्यते अत्र काकुः न पूर्यते किमित्यर्थः। नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवध-रूपं कुविक्रमं धिक् यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि क्रियत इति विशेषः॥ १३२॥

अन्वय—पदे पदे रणोद्भटाः भटाः सन्ति, एष हिंसारसः तेषु न पूर्यते। ते नृपतेः ईदृशं कुविक्रमं धिक्, यः कृपाश्रये कृपणे पतत्रिणि [दृश्यते]।

संस्कृत-व्याख्या—पदे-पदे = स्थाने-स्थाने, रणोद्भटाः = रणेषु युद्धेषु उद्भटाः प्रचण्डाः, भटाः = योद्धाः, सन्ति = विद्यन्ते। एषः, हिंसारसः = हिंसानु-रागः, तेषु = भटेषु, न पूर्यते = परिपूर्णो न भवति किम्? ते = तव, नृपतेः = राज्ञः, ईदृशम् = अवध्यवधरूपम्, कुविक्रमम् = कुत्सितं पौरुषम्, धिक्, यः = कुविक्रमः, कृपाश्रये = कृपाविषये—अनुकम्पनीये, कृपणे = दीने, [मयि] पतत्रिणि = पक्षिणि, दृश्यते।

हिन्दी-अनुवाद—पदे-पदे = स्थान-स्थान पर, रणोद्भटाः = रण में प्रचण्ड, भटाः = योद्धा, सन्ति = विद्यमान हैं। एष = यह, हिंसारसः = हिंसा प्रेम, [क्या] तेषु = उनमें, न पूर्यते = पूरा नहीं हो पाता है? ते नृपतेः = तुझ राजा के, ईदृशम् = इस प्रकार के [अवध्य प्राणी का वध कर देने वाले], कुविक्रमम् =

बुरे पराक्रम को, धिक् = धिक्कार है, यः = कि जो [बुरा पराक्रम], कृपाश्रये = कृपा के पात्र, कृपणे = दीन, [मुझ], पतत्रिणि = पक्षी पर, दृश्यते = दिखलाया जा रहा है।

भावार्थ—क्या पद-पद पर युद्ध में अत्यन्त पराक्रमी और वीर योद्धा नहीं है कि जिन पर तुम्हारा हिंसानुराग पूरा हो पाता। तुम्हारा यह हिंसानुराग नम्र प्राणियों [मुझ जैसे दीनों] पर पूरा हो रहा है। इससे ज्ञात होता है कि उन शूरवीरों के साथ युद्ध करने में असमर्थ होने के कारण तुम मुझ जैसे नतमस्तक दीनों पर अपनी हिंसा प्रवृत्ति को पूरा कर रहे हो जो कि तुम्हारे लिये नितान्त अनुचित है।

अलङ्कार—इस श्लोक में भी अनुप्रास की छटा स्पष्ट ही है।

समास—**रणोद्भटाः** = रणेषु, उद्भटाः रणोद्भटाः। **कुविक्रमम्** = कुत्सितं विक्रमम् इति कुविक्रमम्।

टिप्पणियाँ—**रणोद्भटाः** = युद्धों में उन्मत्त योद्धागण। **भटाः** = शूरवीर, योद्धा। **हिंसारसः** = हिंसा (मारना—हनन करना) के प्रति प्रेम। **ईदृशम्** = अवध्य प्राणी का वध करना जैसा। **कुविक्रमम्** = बुरा पराक्रम—निन्दनीय पराक्रम को। **कृपाश्रये** = कृपा करने के स्थान—दया किये जाने योग्य प्राणी पर। **पतत्रिणि** = पक्षी (हंस) पर।

प्रसङ्ग—जो राजा दुष्टों को दण्ड देता है और सज्जनों की रक्षा करता है वह प्रशंसनीय होता है। इसके विपरीत जो दण्ड का अनुचित प्रयोग करता है (जैसा कि आप मेरे साथ कर रहे हैं) वह स्वयं ही दण्ड का भागी बना करता है—

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥१३३॥

म०—फलेनेति। यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां जलरुहां पद्मादीनाम् अन्यत्र वारिरुहां भूरुहाञ्च फलेन मूलेन चेत्थमनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविकाः तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भावः। दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थः। पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थः, हृणीयते कण्ड्वादियगन्ताल्लट् तत्र हृणीङिति ङित्करणादात्मनेपदम्। अकार्यकारिणं भर्त्तारमपि हन्ते स्त्रिय इति भावः॥ १३३॥

अन्वय—यस्य मम मुनेः इव वारिभूरुहां फलेन मूलेन च इत्थं वृत्तयः, तस्मिन् अपि दण्डधारिणा त्वया पत्या अद्य धरणी कथं न ह्णीयते ?

संस्कृत व्याख्या—यस्य, मम = हंसस्य, मुनेः इव = ऋषेरिव, वारिभूरुहाम् = जलरुहां पद्मादीनाम् [अन्यत्र वारिरुहां भूरुहाञ्च], फलेन, मूलेन च = कन्दादिना मृणालेन च, इत्थम् = अनेन दृश्यमानप्रकारेण, वृत्तयः = जीविकाः तस्मिन् अपि = निरपराधेऽपि मयीत्यर्थः, दण्डधारिणा = दण्डकारिणा अदण्ड्य-दण्डकेनेत्यर्थः, त्वया = भवता, पत्या = स्वामिना, अद्य, धरणी = पृथ्वी, कथं न, ह्णीयते = जुगुप्सते एव—इत्यर्थः ।

हिन्दी अनुवाद—यस्य मम = जिस मेरी, मुनेः इव = मुनि के समान, वारिभूरुहाम् = कमलों के [मुनि पक्ष में—जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले आम्र आदि वृक्षों के], फलेन मूलेन च = फल तथा मूल (मृणाल, कन्द आदि) से, इत्थम = इस प्रकार, वृत्तयः = जीविका होती है, तस्मिन् अपि = उसको भी, दण्डधारिणा = दण्ड धारण करने वाले, त्वया पत्या = तुम्हारे जैसे स्वामी से, अद्य = इस समय, धरणी = पृथ्वी, कथं न = क्यों नहीं, ह्णीयते = लज्जित होती है ?

भावार्थ—[दण्ड देना राजा का धर्म है—इस सम्बन्ध में हंस कह रहा है—] जिसकी जीविका जल-भूमि में उत्पन्न कमलों के फल (कमल-गट्टा) तथा मूल (कमल-नाल की जड़) से [मुनिपक्ष में—जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि के तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले आम्र आदि के फल तथा कन्द आदि से] होने के कारण मुनियों के सदृश है ऐसे कृपा के पात्र मुझ पर भी [अनुचित] दण्ड का प्रयोग करने वाले तुम्हारे जैसे पालकों अथवा रक्षकों से यह पृथ्वी लज्जित क्यों नहीं होती है ।

राजा का कर्तव्य है कि वह दुष्टों को दण्ड दे तथा सज्जनों की रक्षा करे किन्तु आप तो इस प्रकार के राजा हैं कि जो मुझ जैसे निरपराध को ही दण्डित कर रहे हैं । अतः आप पृथ्वी के अधिपति हैं वह पृथ्वी आप जैसे स्वामी को पाकर लज्जित क्यों नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी ।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'उपमा' अलङ्कार है ।

व्याकरण—वारिभूरुहाम् = वारिभू + रुह् + क्विप् (षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में) । ह्णीयते = ह्णी (कण्ड्वादि) + लट् ।

समास—वारिभूरुहाम् = वारि एव भूः (उत्पत्ति स्थानं) इति वारिभूः, तस्यां रोहन्ति (उत्पद्यन्ते) इति वारिभूरुहाः, तेषाम् ।

टिप्पणियाँ—**मुनेः इव** = मुनि के समान–जैसे वन में रहने वाले मुनि लोगों की जीविका फलों तथा कन्दों पर आधारित रहा करती है उसी प्रकार से मेरी जीविका का आधार भी कमलगट्टा तथा कमलमूल ही है। **वारिभूरुहाम्** = [हंस के पक्ष में—] कमलों के। [मुनिपक्ष में—] जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले आम्र आदि वृक्षों के फल। **वृत्तयः** = जीविका। **धरणी** = पृथ्वी। **ह्रणीयते**= लज्जित होती है।

प्रसङ्ग—राजा नल सुवर्णमय हंस को देखने से आश्चर्यान्वित, अपनी निन्दा सुनने के कारण लज्जित, तथा हंस के वचनों का श्रवण कर दया से युक्त हो रहे थे—

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥१३४॥

म०—इतीति। इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशैर्दोषालम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्विकारैः 'एकाचो नित्यं मयटमिच्छती'ति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः। पक्षिकथनात् चित्रं, परैः स्वाकार्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यं, परार्त्तिदर्शनेन तन्निवर्त्तनेच्छा वा कृपा, ताभिः सह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृतं विरचय्य विधाय 'ल्यपि लघुपूर्वादि'त्ययादेशः। दयासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगा करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार प्रवेशयामासेत्यर्थः समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः॥१३४॥

अन्वय—इति ईदृशैः वाङ्मयैः तं नृपं सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य स खगः दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसापगाः गिरः अतिथीचकार।

संस्कृत-व्याख्या—इति = इत्थम्, ईदृशैः = एतादृशैः, वाङ्मयैः = वचनैः, तम्, नृपम् = राजानम्, सचित्रवैलक्ष्यकृपम् = चित्रं च वैलक्ष्यं च कृपा च तत्सहितम्, विरचय्य = विधाय, सः, खगः = हंसः, दयासमुद्रे = दयासागरे, तदाशये = तस्य नलस्य आशये हृदये, कारुण्यरसापगाः = करुणारसनदीः, गिरः = वाचः, अतिथीचकार = प्रवेशयामास–इत्यर्थः।

हिन्दी-अनुवाद—इति = इस प्रकार, ईदृशैः = ऐसे, वाङ्मयैः = वचनों से, तं नृपम् = उस राजा नल को, सचित्रवैलक्ष्यकृपम् = आश्चर्यान्वित, लज्जित तथा दयापूर्ण, विरचय्य = बनाकर, स खगः = उस पक्षी हंस ने, दयासमुद्रे = दया के सागर, तदाशये = राजा नल के हृदय में, कारुण्यरसापगाः = करुण रस की नदी रूपी, गिरः = वाणी को, अतिथीचकार = प्रविष्ट करा दिया।

भावार्थ—उस पक्षी हंस ने इस प्रकार के अपने वचनों (१।१३० से १।१३३ तक) द्वारा राजा नल को अपने सुवर्णमय स्वरूप द्वारा आश्चर्यान्वित अपने द्वारा की जाती हुयी निन्दा से लज्जित तथा अपने दया भरे वचनों से कृपालु बनाकर दया के सागर राजा नल के हृदय में कारुण्यरूपी जल की नदीरूपिणी वाणी को प्रवाहित कराया अर्थात् समुद्र में जल से भरी हुयी नदियों के समान दयार्द्र राजा नल के हृदय में अपने करुणा भरे वचनों को प्रविष्ट कराया—राजा नल से दया भरे वचनों को कहने लगा।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में 'रूपक' तथा 'अनुप्रास' अलङ्कार हैं।

व्याकरणः—**वाङ्मयैः**=वाच् + मयट्—"एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति" से विकार अर्थ में। **विरचय्य** = वि + रच् + णिच्=ल्यप्—"ल्यपि लघुपूर्वात्" सूत्र से णिच् के इ को अयादेश। **कारुण्य** = करुण + ष्यञ्। **अतिथीचकार** = अतिथि + च्वि, दीर्घ, कृ + लिट्।

समास—**सचित्रवैलक्ष्यकृपम्** = चित्रं च वैलक्ष्यं च कृपा च इति (द्वन्द्व समास), तैः सहितः इति सचित्रवैलक्ष्यकृपः (बहुव्रीहि) तम्। **कारुण्यरसापगाः** = कारुण्यमेवरसः (कर्मधारय) इति कारुण्यरसः, तस्य आपगाः (षष्ठी तत्पु०)।

टिप्पणियाँ—**वाङ्मयैः** = वाणी के विकारों, वचनों द्वारा। **सचित्रवैलक्ष्यकृपम्** = आश्चर्य, लज्जा और कृपा से युक्त। **विरचय्य** = बनाकर। **तदाशये** = उस राजा नल के हृदय में। **कारुण्यरसापगाः** = कारुण्यरस (रूपी जल) की नदी। **गिरः** = वाणी को–वचनों को। **अतिथीचकार** = अतिथि बनाया अर्थात् प्रविष्ट करा दिया।

प्रसङ्ग—अब हंस अपने भाग्य को उलाहना देता हुआ कहता है।

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो॥१३५॥

म०—तावद्गिरः प्रपञ्चयति—मदित्यादिना। तत्र तावद् दैवमुपालभते हे विधे! जननी अहमेवैकः पुत्रो यस्याः मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थः। जरातुरा स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः, वरटा स्वभार्य्या 'हंसस्य योषिद्वरटे'त्यमरः। नवप्रसूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या एव जनः स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्गतिः शरणं तं जनं मामित्यर्थः, अर्दयन् पीडयन्

हे विधे ! विधाता ! त्वां करुणा नो रुणद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः, न रुणद्धि किमित्यर्थः ॥ १२५ ॥

अन्वय—अहो ! जननी, मदेकपुत्रा जरातुरा, तपस्विनी वरटा नवप्रसूतिः, एष जनः तयोः गतिः, तं अर्दयन् हे विधे ! त्वां करुणा न रुणद्धि ? (किम्) ।

संस्कृत व्याख्या—अहो ! कष्टसूचकमव्ययमेतत्, जननी = (मम) माता, मदेकपुत्रा = अहमेव एकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा, जरातुरा = वार्धक्यपीडिता [च]—स्वयमप्यसमर्था इत्यर्थः [तस्याः गत्यन्तरं नास्तीति भावः ।] तपस्विनी = पतिव्रता दीना वा, वरटा = मम भार्या, नवप्रसूतिः = अचिरप्रसवा [अथवा—वरटा = मम भार्या, नवप्रसूतिः = अचिरप्रसवा, अतएव, तपस्विनी शोच्या] । एष जनः = स्वयमित्यर्थः, तयोः=जायाजनन्योः, गतिः = शरणम्–वृत्युपायः वा; तम् = जनं–मामित्यर्थः, अर्दयन् = पीडयन्, हे विधे ! हे विधातः !, त्वाम्, करुणा = दया, न रुणद्धि मत्पीडनात् न निवारयति [किम्] ?

हिन्दी-अनुवाद—अहो ! = हाय, जननी = [मेरी] माता, मदेकपुत्रा = मैं ही हूँ एकमात्र पुत्र जिसका ऐसी है [तथा], जरातुराः = वृद्धावस्था से पीड़ित है । तपस्विनी = पतिव्रता अथवा दीन अथवा बेचारी, वरटा = मेरी पत्नी, नवप्रसूतिः = नव प्रसव वाली [अर्थात् उसके शीघ्र ही बच्चा होने वाला है ।] (अथवा—वरटा = मेरी पत्नी, नवप्रसूतिः = शीघ्र ही सन्तान उत्पन्न करने वाली है अतएव तपस्विनी = शोचनीय है ।) एषजनः = यह व्यक्ति अर्थात् मैं ही, तयोर्गतिः = उन दोनों [माता और पत्नी] का सहारा हूँ [उन दोनों की जीवन-रक्षा के निमित्त मैं ही एकमात्र सहारा हूँ], तम् = [ऐसे] उस (मुझ) को, अर्दयन् = सताते हुये—पीड़ित करते हुये, हे विधे ! = हे विधाता !, त्वाम् = तुमको—आपको, करुणा = दया, न रुणद्धि = [क्यों] नहीं रोकती है ।

भावार्थ—हे भाग्य ! मैं ही जिसका इकलौता पुत्र हूँ ऐसी बुढ़ापे से पीड़ित मेरी माता है । तथा नवीन प्रसव वाली एवं पतिव्रता (अथवा दीन–बेचारी) मेरी पत्नी है । उन दोनों [मेरी माता पत्नी] का मैं ही एकमात्र शरण अथवा जीविका चलाने वाला हूँ । उस मुझको मारते हुये क्या करुणा (दया) तुमको नहीं रोकती है ? यह बड़े दुःख की बात है ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "परिकर" नामक अलङ्कार है।

समास—मदेकपुत्रा = अहमेव एकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा (बहुव्रीहि)। **नवप्रसूतिः** = नवाप्रसूतिः (कर्मधारय) इति नवप्रसूतिः ।

टिप्पणियाँ—मदेकपुत्रा = मैं ही हूँ एकमात्र पुत्र जिसका—इकलौते पुत्र वाली। **जरातुरा** = वृद्धावस्था से पीड़ित। **वरटा** = हंसी। "हंसस्य योषिद्वरटा" इत्यमरः। **नवप्रसूतिः** = नवप्रसूता अर्थात् जिसने शीघ्र ही बच्चे को जन्म दिया है। **तपस्विनी** = बेचारी, दीन, पतिव्रता। **अर्दयन्** = पीड़ित करते हुये, सताते हुये। **न रुणद्धि** = नहीं रोकती है।

प्रसङ्ग—हंस अपनी माँ को सम्बोधित करते हुये कह रहा है कि हे माता ! मेरी मृत्यु से तुमको जीवनपर्यन्त कष्ट सहन करना होगा—

मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥१३६॥

म०—अथ मातरं शोचयति-मुहूर्त्तेति । हे मातः ! सखायः सुहृदो दयासखाः सदयाः भवनिन्दया संसारगर्हणेन मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्रवदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तः दुःखेनोत्तीर्य्यत इति दुरुत्तरो दुस्तरः तरतेः कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः ॥ १३६ ॥

अन्वय—हे मातः ! मम दयासखाः सखायः स्रवदश्रवः मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया निवृत्तिं एष्यन्ति, परं त्वया एव सुतशोकसागरः दुरुत्तरः ।

संस्कृत-व्याख्या—हे मातः ! = हे जननि !, मम = मे, दयासखाः = दयालवः, सखायः = मित्राणि (अन्ये पक्षिणः), स्रवदश्रवः = स्रवन्ति गलन्ति अश्रूणि येषां तादृशाः, मुहूर्त्तमात्रम् = क्षणमात्रम्, भवनिन्दया = भवस्य संसारस्य निन्दया, निवृत्तिम् = शोकोपरतिम्, एष्यन्ति = प्राप्स्यन्ति । परम् = किन्तु, त्वया एव, सुतशोकसागरः = सुतशोकः पुत्रशोकः एव सागरः समुद्रः, दुरुत्तरः = दुस्तरः [दुःखेनापि तरितुं योग्यः न भविष्यति—इति भावः। अथवा दुःखेन एव तरितुं योग्यः भविष्यति ।]।

हिन्दी-अनुवाद—हे मातः = हे माता !, मम = मेरे, दयासखाः = दयालु, सखाः = मित्र, स्रवदश्रवः = अश्रुधारा बहाते हुये, मुहूर्त्तमात्रम् = क्षण भर के लिये, भवनिन्दया = "यह संसार अनित्य है, जीवन क्षणभंगुर है" इत्यादि रूप से संसार की निन्दा करके, निवृत्तिम् = शान्ति को अथवा दुखःविस्मृति

को, एष्यन्ति = प्राप्त कर लेंगे। परम् = किन्तु, त्वयाएव = केवल तुम्हारे द्वारा ही, सुतशोकसागरः = पुत्रशोकरूपी समुद्र, दुरुत्तरः = पार करना कठिन होगा।

भावार्थ—अश्रुधारा बहाते हुये तथा दयालु मेरे मित्र थोड़े समय तक संसार की (यह संसार अनित्य है, क्षणभंगुर है, यहाँ जन्म लेने के पश्चात् अन्त में सबकी यही गति (मृत्यु) होती है, काल किसी को नहीं छोड़ता—इत्यादि रूप से) की निन्दा कर दुःख को भूल जावेंगे। किन्तु हे माता ! पुत्र का शोकसागर तुम्हारे लिये ही दुःख से पार करने योग्य होगा। तात्पर्य यह है कि मेरी मृत्यु से मेरे मित्रों को तो थोड़ी सी देर के लिये ही कष्ट होगा किन्तु तुमको जीवन-पर्यन्त कष्ट सहन करना होगा।

अलङ्कार—इस श्लोक में "अनुप्रास" अलङ्कार है। "सुतशोकसागरः" में रूपक भी है।

व्याकरण—**मुहूर्त्तमात्रम्** = यहाँ पर "कालाध्वनोऽत्यन्तसंयोगे" सूत्र में वर्णित नियम के आधार पर द्वितीया विभक्ति हुयी है। **दुरुत्तरः** = दुर + उद् + तॄ + खल्।

समास—**दयासखाः** = दयायाः सखायः इति दयासखाः (षष्ठी तत्पु०)। "यहाँ पर 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ है। **स्रवदश्रवः** = स्रवन्ति अश्रूणि येषां ते (बहुव्रीहि)—स्रवदश्रवः।

टिप्पणियाँ—**दयासखाः** = दया के मित्र अर्थात् दयालु। **सखायः** = मित्र। **स्रवदश्रवः** = अश्रुधारा बहाते हुये। **मुहूर्त्तमात्रम्** = क्षणभर के लिये। थोड़ी सी देर के लिए। **भवनिन्दया** = संसार की निन्दा द्वारा (संसार की अनित्यता—नश्वरता–क्षणभंगुरता आदि दोषों को कहते हुये)। **निवृत्तिम्** = शोक से शान्ति को अथवा दुःख निवृत्ति को। **एष्यन्ति** = प्राप्त कर लेंगे। **परम्** = किन्तु। **सुतशोकसागरः** = पुत्र शोक रूपी सागर को। **दुरुत्तरः** = दुःख (महान कष्ट) के साथ पार करने योग्य।

प्रसङ्ग—अब वह हंस अपनी पत्नी को लक्षित कर विलाप करता हुआ कहता है—

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये! स कीदृग्भविता तव क्षणः ॥१३७॥

म०—अथ भार्यामुद्दिश्य विलपति—मदर्थेत्यादिनः। हे प्रिये ! मह्यमिमे मदर्थे 'अर्थेन सह नित्य समासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' तयोः सन्देश-

मृणालयोः वाचिकबिसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः प्रियः कियद्दूरे वर्त्तत इति त्वया उदिते उक्ते पृष्टे सतीत्यर्थः। अथ प्रश्नानन्तरं रुदतः अनिष्टोच्चारणाशक्त्या अश्रूणि विमुञ्चतः पक्षिणः इतो गच्छतो गतान्विलोकयन्त्यास्तव स क्षणः स कालः कीदृग्भविता भविष्यति ? वज्रपातप्राय इति भावः। कर्त्तरि लुट् ॥ १३७ ॥

अन्वय—प्रिये ! मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूरे इति त्वया उदिते, अथ रुदतः पक्षिणः विलोकयन्त्याः तव स क्षणः कीदृक् भविता।

संस्कृत-व्याख्या—हे प्रिये ! = हे वल्लभे !, मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः = मह्यं इमे मदर्थे ये सन्देशमृणाले—तयोः सन्देशमृणालयोः वाचिकबिसयोः विषये मन्थरः अलसः [तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः वा], प्रियः = वल्लभः, कियद्दूरे = कियति दूरे देशे वर्त्तते, इति, त्वया, उदिते = उक्ते—पृष्ठे सतीत्यर्थः, अथ = प्रश्नानन्तरम्, रुदतः = अनिष्टोच्चारणाशक्त्या अश्रूणि विमुञ्चतः, पक्षिणः = खगान्, विलोकयन्त्याः = पश्यन्त्याः, तव = ते, सः, क्षणः = कालः, कीदृक् = कीदृशः, भविता = भविष्यति ? वज्रपातप्राय—इतिभावः।

हिन्दी-अनुवाद—हे प्रिये !, मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः=मेरे लिये सन्देश तथा मृणाल (भेजने) के विषय में देर करने वाला—अथवा सुस्त, मेरा, प्रियः = प्रिय, कियद्दूरे = कितनी दूर रह गया है ? इति = इस प्रकार से, त्वया उदिते = तेरे द्वारा कहे जाने के, अथ = पश्चात, रुदतः रोते हुये, पक्षिणः= पक्षिओं को, विलोकयन्त्याः = देखती हुयी, तव = तुम्हारा, स क्षणः = वह क्षण, कीदृक् = कैसा, भविता = होगा ?

भावार्थ—हे प्रिये ! वन से वापिस लौटे हुये अन्य पक्षिओं से जब तुम यह पूछोगी कि मेरे लिये संदेश भेजने अथवा मृणाल लाने वाला मेरा प्रिय (हंस) कितनी दूर रह गया है ? तव वे पक्षी मुझ (हंस) के पकड़े जाने की बात मुख से न निकालेंगे तथा उनकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगेगी। यह देखकर हे प्रिये ! तुम्हारी दशा क्या होगी ? तुम किसी अनिष्ट को समझकर वज्राहत सी हो जाओगी।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "भावोदय" नामक अलङ्कार है।

समास—मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः = सन्देशं च मृणालं च इति सन्देशमृणाले (द्वन्द्व), मह्यं इमे मदर्थे (चतुर्थी तत्पु०), मदर्थे ये संदेशमृणाले तयोः मन्थरः (सप्तमी तत्पु०) इति मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः।

टिप्पणियाँ—मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः = मेरे लिये सन्देश भिजवाने तथा मृणालदण्ड को भेजने में देर करने वाला। **उदिते** = कहे जाने पर। **कीदृक्** = कैसा—किस प्रकार का ? **भविता** = होगा।

प्रसङ्ग—हंस को इस बात का आश्चर्य है कि ब्रह्मा ने अपने जिन कमल-सदृश सुकोमल हाथों से उसकी प्रिया (हंसी) के शरीर का निर्माण किया था उन्हीं हाथों से उसके ललाट पर ऐसे कठोर अक्षर कैसे लिख दिये—कि तू अपनी प्रिया से वियुक्त हो जायेगा—

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा॥१३८॥

म०—कथमिति। हे विधातः! प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनस्तादृक् तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्म्माणकात्तव पाणिपङ्कजात्पङ्कजमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः। मयि विषये वल्लभया सह वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा अतएव ललाटं तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि 'असूर्य्यललाटयोर्दृशितपोरि'ति खश् प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं निर्गता निःसृता ? अत्र कारणात् विरुद्धकार्य्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य भावयेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिर्मते' ति ॥ १३८ ॥

अन्वय—हे विधातः ! प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः तव पाणिपङ्कजात् मयि 'वल्लभया वियोक्ष्यसे' इति ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा लिपिः कथं निर्गता ?

संस्कृत-व्याख्या—हे विधातः ! = हे ब्रह्मन् !, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः = प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनः—तादृक्तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्माणकुशलात्, तव = ते, पाणिपङ्कजात् = कमलसदृशमृदुशिशिरात् पाणेः, मयि = मद्विषये, 'वल्लभया = दयितया, वियोक्ष्यसे = वियोगं प्राप्स्यसि' इति = एवंरूपा, ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा = ललाटं तपन्ति दहन्ति—इति ललाटन्तपानि तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि च अक्षराणि यस्या सा, लिपिः = अक्षरविन्यासः, कथम् = केन प्रकारेण, निर्गता = निसृता ?

हिन्दी-अनुवाद—हे विधातः ! = हे ब्रह्मन् !, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः = मेरी प्रिया (के शरीर) की शीतलता और कोमलता के निर्माण करने वाले, तव = तुम्हारे (आपके), पाणिपङ्कजात् = कमलसदृश हाथों से, मयि = मेरे विषय में (मेरे मस्तक पर) "वल्लभया वियोक्ष्यसे" = तुम प्रिया से वियुक्त

होओगे,' इति = इस प्रकार की, ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा = मस्तक को संतप्त करने वाले कठोर अक्षरों से युक्त, लिपिः = लिपि, कथम् = कैसे, निर्गता = निकली (अथवा मस्तक पर अंकित की गयी)।

भावार्थ—हंस आश्चर्य प्रकट करता हुआ कहता है कि ब्रह्मा ने अपने जिन कमलसदृश शीतल तथा कोमल हाथों से उसकी प्रिया (हंसी) के कोमल अङ्गों का निर्माण किया था उन्हीं हाथों से उसके मस्तक पर ऐसे कठोर अक्षरों को कैसे लिख दिया कि "तू अपनी प्रिया (हंसी) से वियुक्त हो जायेगा" ? कोमल हाथों से कोमल अक्षरों को ही लिखा जाना उचित था न कि कठोर।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में कारण के विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति का कथन किये जाने से "विषम" नामक अलङ्कार है। लक्षण—"विरुद्धकार्यस्योत्पत्ति-र्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिर्मता"। इसके अतिरिक्त रूपक अलङ्कार भी है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—**ललाटन्तप** = ललाट + तप् + खश् "असुर्यललाटयोर्दृशि-तपोः" से। तदनन्तर "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" से 'मुम्' का आगम।

समास—**प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः** = शैत्यं च मृदुत्वं च इति शैत्य-मृदुत्वे (द्वन्द्व), प्रियायाः शैत्यमृदुत्वे, तयोः शिल्पी (षष्ठी तत्पु०) इति प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पी तस्य। **पाणिपङ्कजात्** = पाणिः पङ्कजमिव इति पाणि-पङ्कजम् (उपमित समास), तस्मात्। **ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा** = ललाटं तपन्ति इति ललाटन्तपानि, ललाटन्तपानि निष्ठुराणि (कर्मधारय), ललाटन्तपनिष्ठु-राणि अक्षराणि यस्याःसा (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः** = प्रिया (हंसी) के शीतल एवं कोमल अङ्गों के रचयिता। **पाणिपङ्कजात्** = कमलसदृश हाथों से। **वियोक्ष्यसे** = वियुक्त (पृथक्) होओगे। **ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा** = मस्तक को सन्तप्त करने वाले अथवा मस्तक में सन्ताप को उत्पन्न करने वाले अत्यन्त कठोर अक्षरों से युक्त। **निर्गता** = निकली अथवा लिख दी गयी।

प्रसङ्ग—अपने झुण्ड वाले हंसों से मेरी मृत्यु का समाचार जानकर हे प्रिये ! तुम दशों दिशाओं को सूना ही देखोगी —

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता।
मुखानि लोलाक्षि ? दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि॥

म०—अपीति। अपि सत्यपैरथः। अद्यास्मिन् दिने 'सद्यःपरुदि, त्यादिना

निपातः स्वयूथ्यैः स्वसङ्गचरैर्हंसैः कर्तृभिरशनिक्षतोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमं वृत्तान्तम् अनर्थवार्त्ता उदिता उक्ता सती वदेर्ब्रूञर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः 'वचिस्वपीत्यादिना सम्प्रसारणं, हे लोलाक्षि ? दशदिशां मुखानि शून्यान्यलक्ष्याकाराणि विलोकयिष्यसि असंशयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः। अर्थाभावेऽव्ययीभावः, बतेति खेदे ॥ १३९ ॥

अन्वय—अपि लोलाक्षि ! अद्य स्वयूथ्यैः अशनिक्षतोपमं मम इमं वृत्तान्तं उदिता, बत असंशयं दिशां दशापि मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि ।

संस्कृत-व्याख्या—अपि = चेत्यपेरर्थः, लोलाक्षि ! = चञ्चलनेत्रे, अद्य = अस्मिन् दिने, स्वयूथ्यैः = स्वसङ्गचरैः, हंसैः, अशनिक्षतोपमम् = वज्रप्रहार-सदृशम्, मम = मे, इमम् = मरणरूपम्, वृत्तान्तम् = अनर्थ वार्त्ताम्, उदिता = कथिता, बत् = इति खेदे, असंशयम् = निःसन्देहम्, दिशाम् = ककुभम्, दश अपि, मुखानि, शून्यानि = रिक्तानि, विलोकयिष्यसि = अवलोकयिष्यसि ।

हिन्दी अनुवाद—हे लोलाक्षि ! हे चंचल नेत्रों वाली, अद्य = आज, स्वयूथ्यैः = अपने झुंड के हंसों द्वारा, अशनिक्षतोपमम् = वज्रप्रहार के समान, मम = मेरे, इमं वृतान्तम् = इस (मरणरूप) वृतान्त के, उदिता = कहे जाने पर, बत = हाय, असंशयम् = निःसन्देहरूप से, दिशां दश अपि = दशों दिशाओं के, मुखानि = मुखों को, शून्यानि = शून्य, विलोकयिष्यसि = देखोगी ।

भावार्थ—और, हे चंचल नेत्रोंवाली प्रिये ! (हंसी) आज अपने झुंड में रहने वाले हंसों के द्वारा वज्रप्रहार सदृश मेरे इस वृतान्त (मरण-समाचार) को कहे जाने पर खेद है कि तुम दशों दिशाओं को शून्य देखोगी ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में अनुप्रास तथा उपमा अलंकार हैं ।

व्याकरण—यूथ्याः = यूथ् + यत् । उदिता = वद् + क्त (कर्म में) । वद् धातु द्विकर्मक है । इसके गौणकर्म में 'क्त' प्रत्यय होता है । इसी कारण प्रधान कर्म 'वृतान्तम्' में द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुयी है ।

समास—लोलाक्षि=लोले अक्षिणी यस्याः सा (बहुव्रीहि) स्वयूथ्यैः—यूथे भवः यूथ्याः, स्वस्य यूथ्याः स्वयूथ्याः तै । अशनिक्षतोपमम् = अशनेः क्षतम् इति अशनिक्षतम् तदेव उपमा यस्य स अशनिक्षतोपमः (बहुव्रीहि) तम् ।

टिप्पणियाँ—लोलाक्षि = चंचल नेत्रों वाली । स्वयूथ्यैः = अपने झुंड के पक्षियों के द्वारा । अशनिक्षतोपमम् = वज्र के प्रहार के सदृश । उदिता =

कही जाने पर। **बत्** = खेदवाचक अव्यय है। **असंशयम्** = निःसन्देह। **शून्यानि** = शून्य, रिक्त। **विलोकयिष्यसि** = देखोगी।

प्रसङ्ग—हंस पुनः कहता है—हे प्रिये! मेरे न होने पर तुम बच्चों का पालन पोषण कर सकती हो। किन्तु यदि मेरे वियोग में तुमने भी प्राण-त्याग दिये तो बच्चों की निश्चित ही मृत्यु हो जायेगी—

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ? विपद्यते यदि।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥१४०॥

म०—ममैवेति। हे चित्राङ्गि ? लोहितचञ्चुचरणत्वाद्विचिगात्रे ? मम शोकेनैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियत्ते यदि तर्त्तहि दैवेन हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे, 'हा विस्मयविषादयोरि'ति विश्वः। कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरप्यभावे पोषकाभावान्मृताः, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ॥ १४० ॥

अन्वय—हे चित्राङ्गि! यदि मम एव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया विपद्यते, तत्, हा, दैवेन हतः अपि हतः अस्मि, यतः ते शिशवः स्फुटं परासवः।

संस्कृत-व्याख्या—हे चित्राङ्गि = (लोहितचञ्चुचरणत्वात्) हे विचित्रगात्रे, ! 'विचित्राङ्गि' इत्यपि पाठो लभ्यते। यदि = चेत्, मम एव शोकेन = मद्विपत्तिदुःखेनैव, विदीर्णवक्षसा = विदीर्णहृदया, त्वया, विपद्यते = म्रियते, तत् = तर्हि, हा = इति विषादे, दैवेन = भाग्येन, हतः = मारितः, अपि, हता अस्मि, यतः, ते = तव, शिशवः = बालकाः, स्फुटम् = व्यक्तम्, परासवः = मातुः अपि अभावे पोषकाभावात् मृताः; अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तम्—इति भावः।

हिन्दी-अनुवाद—हे चित्राङ्गि = हे विचित्र (नाना प्रकार के सुन्दर अंगों से युक्त) शरीर वाली ! यदि = अगर, मम एव शोकेन = मेरे ही शोक के कारण, विदीर्णवक्षसा = विदीर्णहृदयवाली, त्वया = तुम, अपि=भी, विपद्यते = मृत्यु को प्राप्त हो जाती हो, तत् = तो, हा = हाय, दैवेन = भाग्य से, हतः = मारागया हुआ मैं (फिर दुबारा), हतः अस्मि = मारा जाऊँगा; यतः= क्योंकि, ते शिशवः = तुम्हारे बच्चे, स्फुटम् = व्यक्त रूप से ही अर्थात् निश्चित रूप से, परासवः = (तुम्हारे द्वारा किये जाने वाले पालन-पोषण को न पाकर) निष्प्राण हो जावेंगे अथवा मर जावेंगे। अतः बच्चों के भी मरे जाने के कारण मेरा कष्ट दुगुना हो जायगा।

भावार्थ—हंस पुनः सोचता है कि उसके वियोग के कारण उसकी पत्नी निश्चित ही अपने प्राण त्याग देगी। और फिर माता-पिता दोनों के ही अभाव के कारण जब उसके बच्चों का पालन-पोषण करने वाला कोई भी नहीं रह जायगा तो वे बच्चे भी मृत्यु के ग्रास बन जावेंगे अथवा मर जावेंगे। इस भाँति उस हंस के मर जाने पर उसका वंश ही समाप्त हो जावेगा। यह सोचकर उस हंसका दुःख दूना (द्विगुणता को प्राप्त) हो रहा था।

अलङ्कार—इस श्लोक में "काव्यलिङ्ग' अलङ्कार की प्रतीति है। लक्षण—"स्यात्काव्यलिङ्गं वागर्थो नूतनार्थसमर्थकः।"

समास—विदीर्णवक्षसा = विदीर्णः वक्षः यस्याः सा (बहुव्रीहि) विदीर्णवक्षा तया। **परासवः** = परागताः असवः येषां ते परासवः।

व्याकरण—विपद्यते = वि + पद् + लट् (भाववाच्य)।

टिप्पणियाँ—चित्राङ्गि = हे सुन्दर अंगों तथा प्रत्यङ्गों से युक्त अर्थात् हे शोभन अंगों से युक्त शरीरवाली। **ममएवशोकेन**—मेरे वियोग से उत्पन्न शोक के कारण ही। **विदीर्णवक्षसा** = जिसका हृदय विदीर्ण हो गया हो (अथवा फट गया हो)—ऐसी (तुम)। **विपद्यते** = मृत्यु को प्राप्त हो जाती हो अथवा मर जाती हो। **हा**! यह विषाद अर्थ में प्रयुक्त अव्यय है। अर्थात्—बड़े ही दुःखकी बात है अथवा हाय। "हा विस्मयविषादयोः" इति विश्वः। **परासवः** = निकल गये हैं प्राण जिनके—मरे हुये—मृत। (स्वयं ही) मर जावेंगे—निष्प्राण हो जावेंगे।

प्रसङ्ग—हंस कहता है कि मेरे वे बच्चे जो कि बड़े मनोरथों के पश्चात्, बड़े भाग्य से, चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त उत्पन्न हुये थे, क्षणभर में ही मृत्यु के ग्रास बन जावेंगे—

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥१४१॥

म०—ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह—तवापीति। हे प्रिये! बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धाः कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः, अस्फुटितेक्षणाः अद्याप्यनुन्मीलितेक्षणा मम ते पूर्वोक्ताः शिशवः तवापि न केवलं ममैवेति भावः। क्षुधाकुलाः क्षुत्पीडिताः तेषु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, 'कुलायो नीडमस्त्रियामि'त्यमरः। विलुठ्य परिवृत्य क्षणेन गताः मृतप्रायाः, हा हेति खेदे ॥ १४१ ॥

अन्वय—हा हा, बहुभिः मनोरथैः चिरेण लब्धाः अस्फुटितेक्षणाः मम ते तव अपि विरहात् क्षुधाकुलाः तेषु कुलायकूलेषु विलुठ्य क्षणेन गताः।

संस्कृत-व्याख्या—हा हा=–इति खेदे; [हे प्रिये], बहुभिः = अनेकैः, मनोरथैः = कामनाभिः, चिरेण = बहुकालेन, लब्धाः = प्राप्ताः, अस्फुटितेक्षणाः= अधुनापि अनुन्मीलितनेत्राः, मम, ते = शिशवः तव अपि (न केवलं ममैवेति भावः), विरहात् = वियोगात्, क्षुधाकुलाः = क्षुत्पीडिताः, (सन्तः), तेषु = स्वसम्पादितेषु––इत्यर्थः, कुलायकूलेषु = नीडान्तिकेषु, विलुठ्य = परिवृत्य, क्षणेन गताः = मृतप्रायाः।

हिन्दी अनुवाद—हा हा = महान् दुःखकी बात है [कि––हे प्रिये], बहुभिः = अनेक मनोरथों से, चिरेण = बहुतकाल पश्चात्, लब्धाः = प्राप्त हुये–अथवा उत्पन्न हुये, अस्फुटितेक्षणः = जिनकी आँखे इस समय तक भी पूर्णरूपेण खुल नहीं सकी हैं, ऐसे, मम = मेरे, ते = वे बच्चे, तव अपि = तुम्हारे भी (वे बच्चे), विरहात् = (तुम्हारे) विरह के कारण, क्षुधाकुलाः = भूख से पीड़ित होकर, तेषु = (स्वयं निर्माण किये गये हुये) उन, कुलायकूलेषु = घोंसलों के किनारों पर, विलुठ्य = लोट–पोटकर––छटपटाकर, क्षणेन गताः = क्षणभर में ही मर जावेंगे।

भावार्थ—हे प्रिये ! मेरे अनेक मनोरथों से प्राप्त (उत्पन्न हुये,) अनुन्मीलित नेत्रों वाले, मेरे तथा तुम्हारे भी वे बच्चे तुम्हारे भी वियोग के कारण [किसी पालन-पोषणकर्त्ता के विद्यमान न होने के कारण] भूख से व्याकुल होकर हम दोनों द्वारा निर्मित घोंसलों के अन्दर ही छटपटाकर क्षणभर में ही इस संसार से चल बसेंगे अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जावेंगे––यह महान् दुःख एवं शोक की बात है।

अलङ्कार—"चिरेणलब्धा" तथा "क्षणेनगताः" में विद्यमान विरोध की दृष्टि से उक्त श्लोक में "विरोधाभास" अलङ्कार की प्रतीति हो रही है।

व्याकरण—क्षणेन = में कार्य समाप्ति के अर्थ में तृतीया-विभक्ति हुयी है।

समास—अस्फुटितेक्षणाः = अस्फुटितानि ईक्षणानि येषां ते (बहुव्रीहि)। **क्षुधाकुलाः** = क्षुधया आकुलाः (तृतीया तत्पु०)। **कुलायकूलेषु** = कुलायानां कूलानि (षष्ठी तत्पु०) इति कुलायकूलानि तेषु।

टिप्पणियाँ—बहुभिःमनोरथैः = अनेकबार की गयी अभिलाषाओं के परिणामस्वरूप। **चिरेण** = बहुत समय तक की गयी प्रतीक्षा के उपरान्त

(पश्चात्) । **लब्धाः** = प्राप्त अथवा उत्पन्न हुये । **अस्फुटितेक्षणाः** = जिनकी आँखे इस समय तक भी (पूर्णरूपेण) नहीं खुल सकी हैं ऐसे (मेरे बच्चे) । **विरहात्** = मैं तो मर ही चुका होऊँगा और मेरे वियोग में तुम भी मर जाओगी—फिर तुम्हारे भी वियोग के कारण (अनाथ हो जाने वाले मेरे बच्चे) । **क्षुधाकुलाः** = भूख से पीड़ित । **तेषु** = उन (स्वयं निर्माण किये गये हुये) घोंसलों में । **कुलायकूलेषु** = घोंसलों के किनारे अथवा छोरों पर । मेरे अथवा तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा में घोसलों के किनारों पर स्थित होकर । **विलुठ्य** = लोटपोटकर–तड़फड़ाकर–छटपटाकर । **क्षणेन गताः** = क्षण भर में ही (थोड़ी देर में ही) चल बसेंगे—मृत्यु को प्राप्त हो जावेंगे ।

प्रसङ्ग—इस भाँति अपनी प्रिया (हंसी) के प्रति कहकर हंस अपने बच्चों को सम्बोधित करते हुये कह रहा है—

सुताः कमाहूय चिराय चुङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ? ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य च स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः ॥१४२॥

म०—सुता इति । हे सुताः ? चूङ्कृतैश्चूङ्कारश्चिराय कं प्रति कमपि प्रति मुखानि कम्प्राणि चञ्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्वं कथामात्रशेषा भवत ? कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्वं, प्राप्तकाले लोट्, मरणकालः प्राप्त इत्यर्थः । इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । प्रमील्य मूर्च्छां प्राप्य स हंसः स्रुतस्य दयार्द्रभावात्प्रवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे । प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या ॥ १४२ ॥

अन्वय—सुताः चुङ्कृतैः कं चिराय आहूये कं प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय कथासु शिष्यध्वं इति प्रमील्य सः सुतस्य नृपाश्रुणः सेकात् बबुधे ।

संस्कृत-व्याख्या—सुताः = पुत्राः, चुङ्कृतैः = "चूँ, चूँ" इत्यव्यक्तशब्दैः, कम्, चिराय = बहुकालपर्यन्तम्, आहूय = आकार्य, कं प्रति, मुखानि, = आननानि, कम्प्राणि = चंचलानि, विधाय = कृत्वा, कथासु शिष्यध्वम् = कथामात्रशेषा भवत—कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्वम्—मरणकालः प्राप्त–इत्यर्थः, इति = इत्युक्त्वा–इत्यर्थः, प्रमील्य = मूर्च्छां प्राप्य, सः = हंसः, स्रुतस्य = दयार्द्रभावात् प्रवहतः, नृपाश्रुणः=नृपस्य राज्ञःनलस्यः अश्रुणः, सेकाद्=सेचनाद्, बुबुधे = संज्ञां लेभे ।

हिन्दी-अनुवाद—हे सुताः ! = हेपुत्रो, चूङ्कृतैः = चूँचूँ शब्द द्वारा, कं चिराय आहूय = किसको देर तक बुला-बुलाकर, [खाना माँगोगे ?], [तथा

बोलना सीखने के निमित्त] कं प्रति = किसकी ओर, मुखानि = मुखों को, कम्प्राणि = कम्पित अथवा कम्पनपूर्ण, विधाय = करके, कथासु शिष्यध्वम् = कथामात्र शेष रह जाओगे—(कहीं पर भी अपने मां बाप को न पाकर मृत्यु को प्राप्त हो जाओगे), इति = ऐसा कहकर, प्रमील्य = मूर्च्छा प्राप्त करके, सः = वह हंस, स्रुतस्य = बहते हुये, नृपाश्रुणः = राजा के आँसुओं के, सेकात् = सेक से, बुबुधे = चेतनता को प्राप्त हुआ ।

भावार्थ—हे पुत्रो ! चूँ-चूँ करते हुये बहुत समय तक किसे बुला-बुलाकर [खाना माँगोगे] ? तथा अपने मुखों को कँपाते हुये किससे बोलना सीखोगे ? [अर्थात् किसी से नहीं,] अतएव कथाशेष हो (मर) जाओगे । इतना कहकर वह हंस मूर्छित हो गया । हंस के उपर्युक्त वचनों को सुनकर तथा उसकी मूर्छित अवस्था को देखकर राजा का हृदय दया से भर गया और उसकी अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी । राजा के वे आँसू हंस के ऊपर गिरे और उनके सिंचन से हंस को चेतनता प्राप्त हुयी अर्थात् वह होश में आया ।

रस—हंस द्वारा किये गये उपर्युक्त विलाप-वर्णन (१।१३५ से १।१४२ तक) में "करुण-रस" की प्रतीति स्पष्टरूपेण हो रही है ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "स्वभावोक्ति" अलङ्कार की प्रतीति हो रही है ।

व्याकरण—शिष्यध्वम् = शिष् + लोट् (प्राप्तकाल अर्थ में) ।

समास—नृपाश्रुणः = नृपस्य अश्रुणः (षष्ठी तत्पु०) इति नृपाश्रुणः ।

टिप्पणियाँ—चूङ्कृतैः="चूँ चूँ" इस प्रकार के शब्दों द्वारा । **कम्प्राणि**= चंचल । **शिष्यध्वम्** = कथामात्रशेष रह जाओगे । **प्रमील्य** = मूर्छित होकर, मूर्छा को प्राप्त कर । **स्रुतस्य** = बहते हुये—प्रवाहित होते हुये । **नृपाश्रुणः** = राजा नल के आँसू से (अश्रुधारा से) । **बुबुधे** = जगा-होश में आया, चेतनता को प्राप्त किया—सचेत हुआ ।

प्रसङ्ग—इस प्रकार विलाप करते हुये उस हंस को राजा ने छोड़ दिया—

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥१४३॥

म०—अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्तैरि'ति काव्यलक्षणाद् वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह—इत्थमित्यादिना । इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसमवनिपालो

नलो दीनेष्वार्त्तेषु दयालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकितं, यस्मै यदर्थं रूपदर्शनार्थमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान् । 'दोधकवृत्तमिदम्भभभा गावि'ति लक्षणात् ॥ १४३ ॥

अन्वय—दीनदयालुतया अवनिपालः "यदर्थं धृतः असि (तत्) रूपं अदर्शि । अथ यथेच्छं गच्छ" इति अभिधाय इत्थं विपलन्तं अमुं अमुञ्चत् ।

संस्कृत-व्याख्या—दीनदयालुतया = दीनेषु आर्तेषु दयालुतया कारुणिकतया, अवनिपालः = राजा नलः, "यदर्थम् = यस्मै प्रयोजनाय, धृतः = गृहीतः, असि, (तत्), रूपम् = आकृतिः, अदर्शि = दृष्टम् , अथ = अतः परम्, यथेच्छम् = स्वेच्छानुसारम् , गच्छ", इति = इत्थम्, अभिधाय = उक्त्वा, इत्थम् = पूर्वोक्तप्रकारेण, विलपन्तम् = विलापं कुर्वन्तम्, अमुम् = हंसम्, अमुञ्चत् = मुक्तवान् ।

हिन्दी-अनुवाद—दीनदयालुतया = दीनों के प्रति दयालु होने के कारण, अवनिपालः = राजा नल ने, "यदर्थम् = जिस (उद्देश्य) के लिये, धृतः असि= तुमको पकड़ा था, (तत् = उस), रूपम् = रूप को, अदर्शि = देख लिया । अथ=अब, यथेच्छम्=अपनी इच्छानुसार, गच्छ = जाओ—विचरण करो ।" इति = ऐसा, अभिधाय = कहकर, इत्थम्=पूर्वोक्त प्रकार से, विलपन्तम् = विलाप करते हुये, अमुम्=उस हंस को, अमुञ्चत्=छोड़ दिया ।

भावार्थ—इस प्रकार (१।१३५–१४२) विलाप करते हुये उस हंस को, राजा नल ने यह कहकर "कि हे हंस ! मैंने तुम्हारे रूप को देखने के लिये ही तुमको पकड़ा था—वह मैंने देख लिया । अब तुम अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहो, वहाँ जाओ" छोड़ दिया ।

अलङ्कार—इस श्लोक में "अनुप्रास" अलङ्कार है ।

छन्द—उपर्युक्त वृत्त में—"दोधक" नामक छन्द है । लक्षण—"दोधकवृत्तमिदम्भभभागौ" ।

भगण	भगण	भगण	गुरु	गुरु
ऽ।।	ऽ।।	ऽ।।	ऽ	ऽ
इत्थम	मुंविल	पन्तम	मु	ञ्चत्
दीनद	यालुत	यावनि	पा	लः ।

व्याकरण—दयालुः = दय् + आलुच् । **दीनदयालुतया** = दीनदयालु + तल् + टाप् । **अदर्शि** = दृश् + लुङ् (कर्मवाच्य प्रथमपुरुष—एकवचन) ।

समास—दीनदयालुतया = दीनेषु दयालुः इतिदीनदयालुः, तस्य भावः दीनदयालुता तया। **यथेच्छम्**=इच्छामनतिक्रम्य इति यथेच्छम् (अव्ययीभाव)।

टिप्पणियाँ—दीनदयालुतया = दीनों (दुखियों-गरीबों) के प्रति कृपालु (दयालु) होने के कारण। **धृतःअसि** = पकड़े गये हो—पकड़ा था। **विलपन्तम्** = विलाप करते हुये।

प्रसङ्ग—हंस के पकड़ लिये जाने पर उसके साथियों द्वारा पहले अश्रुधारा प्रवाहित की गयी थी। अब हंस के छूट जाने पर हर्ष के कारण उनके अश्रु बह निकले—

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम्॥

म०—आनन्देति। हंसः चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजनाञ्जनयतां कुर्वतां निजबान्धवानां 'बन्धमुक्तं बान्धवा नीराजयन्ती'ति समाचारः। प्राङ्मोचनात्पूर्वं शोकेन निर्गलिता निःसृता नेत्रपयःप्रवाहा बाष्पपूरास्तानानन्दजाश्रुभिरानन्दबाष्पैरनुस्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान्। अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं बन्धमुक्तं स्वयूथ्यभ्रमणं छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्नवभेदः। अत्र चमत्कारित्वान्मङ्गलाचाररूपत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतश्लोकेष्वानन्दशब्दप्रयोगः, यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ती'ति। वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गा इति लक्षणात्। सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः, यथाह दण्डी—सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ॥' इति ॥ १४४ ॥

अन्वय—स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानां प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् आनन्दजाश्रुभिः अनुस्रियमाणमार्गान् चक्रे।

संस्कृत व्याख्या—सः = हंसः, चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन = चक्रनिभं मण्डलाकारं चङ्क्रमणं भ्रमणं तस्य छलेन व्याजेन, नीराजनाम् = आरार्तिकाम्, जनयताम् = कुर्वताम्, निजबान्धवानाम् = स्वीयमित्राणाम्, प्राक् = मोचनात् पूर्वम्, शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् = शोकेन शुचा निर्गलितान् (निर्गमित पाठोपि लभ्यते), निःसरितान् नेत्रपयःप्रवाहान् अश्रुपूरान् आनन्दजाश्रुभिः = आनन्दबाष्पैः अनुस्रियमाणमार्गान् = अनुगम्यमानमार्गान्, चक्रे = कृतवान्।

हिन्दी-अनुवाद—सः = उस (हंस) ने, चक्रनिभसङ्क्रमणच्छलेन = मण्डलाकार भ्रमण के बहाने से, नीराजनां = आरती, जनयताम् = करते हुये, निजबान्धवानाम् = अपने बंधुओं के, प्राक् = छोड़ दिये जाने से पहले वाले, शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् = शोक के कारण निकले हुये आँसुओं के प्रवाह को, आनन्दजाश्रुभिः = (अब छूट जाने के पश्चात्) हर्ष से उत्पन्न आँसुओं से, अनुस्रियमाणमार्गान् = अनुसरण किये जाते हुये मार्ग वाला, चक्रे = कर दिया—बना दिया।

भावार्थ—राजा नल द्वारा हंस के पकड़लिये जाने पर उसके साथी बन्धुओं ने रोकर तथा उस हंस के बंधनमुक्त (छूट जाना) हो जाने पर आँसू बहाने लगे तथा उस बंन्धनमुक्त हंस के चारों ओर आ-आकर बैठते हुये ऐसे प्रतीत हो रहे थे कि मानों उस बंन्धनमुक्त हंस की आरती सी उतार रहे हों।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में अनुप्रास अलङ्कार तो स्पष्ट ही है यद्यपि पक्षियों का यह स्वभावसिद्ध धर्म है कि वे अपने साथी के बन्धनमुक्त हो जाने पर हर्षित हो होकर उसके समीप आ-आकर चारों ओर बैठा करते हैं किन्तु इस मण्डलाकार बैठने में महाकवि 'छल' शब्द द्वारा उसका अपह्नव करके आरती किये जाने का आरोप किया है—अतः यहाँ अपह्नुति अलङ्कार भी है।

व्याकरण—चङ्क्रमणम् = क्रम् + यङ् + ल्युट्। **अनुस्रियमाण** = अनु + सृ + शानच् (कर्मवाच्य)।

समासः—चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन = चक्रेण निभं (सदृशम्) चक्रनिभम् (तृतीया तत्पु०), चक्रनिभं चङ्क्रमणं (कर्मधारय)—इति चक्रनिभचङ्क्रमणम्, तस्य छलम् (षष्ठी तत्पु०)—इति चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलम्—तेन। **प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्** = शोकेन निर्गलिताः शोकनिर्गलिताः (तृतीया तत्पु०), प्राक् शोकनिर्गलिताः (सुप्सुपा समास), प्राक्शोकनिर्गलिताः नेत्रपयःप्रवाहाः (कर्मधारय) इति प्राक्शोकनिर्गलितपयःप्रवाहाः, तान्।

टिप्पणियाँ—चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन = मण्डलाकार रूप में किये गये भ्रमणों के बहाने से। **नीराजनाम्** = आरती को। **जनयताम्** = उत्पन्न करते हुये—करते हुये। **निजबान्धवानाम्** = अपने ही झुंड में रहने वाले बन्धु सदृश पक्षियों के। **प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्** = छोड़े जाने से पहले (जब हंस राजा नल द्वारा पकड़ लिया गया था उस समय पकड़े जाने से उत्पन्न हुये) शोक के कारण निकले हुये आँसुओं के प्रवाह को—अथवा

अश्रुधारा को। **आनन्दजाश्रुभिः** = [हंस जब राजा द्वारा छोड़ दिया गया तब उसकी मित्रमंडली में रहने वाले पक्षियों द्वारा हर्ष के कारण अश्रुधारा को प्रवाहित किया] (इस भाँति के) आनन्द के कारण उत्पन्न हुये आँसुओं से। **अनुस्रियमाणमार्गान्** = अनुसरण किये जाते हुए मार्ग से युक्त अथवा मार्ग वाला। **चक्रे** = किया—कर दिया—बना दिया।

नैषध महाकाव्य के सभी सर्गों के अन्तिम श्लोक में "आनन्द" पद का प्रयोग किया गया है जो कि चमत्कारोत्पादक तथा मङ्गलपूर्ण भावना का द्योतक है। अतः इस काव्य को "आनन्दाङ्क काव्य" भी कहा जाता है। ऐसा करके महाकवि श्री हर्ष ने शिष्टाचार का ही पालन किया है जैसा कि भगवान् नामक भाष्यकार ने कहा भी है—"मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्तीति"।

छन्द—काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार महाकाव्य के अन्त में छन्द-परिवर्त्तन हो जाना भी आवश्यक कहा गया है। जैसा कि महाकवि दण्डी ने कहा भी है :—"सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ॥" इसी आधार पर १४३ वें तथा १४४ वें श्लोकों में छन्दपरिवर्त्तन किया गया है। उक्त वृत्त में "वसन्ततिलका" नामक छन्द है। लक्षण—"उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौगाः"। अर्थात् यह १४ वर्णों का वृत्त होता है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण तथा दो गुरु वर्ण आते हैं :—

तगण	भगण	जगण	जगण	गुरु	गुरु
ऽऽ।	ऽ।।	।ऽ।	।ऽ।	ऽ	ऽ
आनन्द	जाश्रुभि	रनुस्रि	यमाण	मा	र्गान्
प्राक्छोक	निर्गलि	तनेत्र	पयःप्र	वा	हान्। इत्यादि ॥

प्रसङ्ग—अब महाकवि प्रथम सर्ग की समाप्ति का वर्णन भी श्लोक द्वारा ही करते हैं—

> श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
> श्रीहीरः सुषवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
> तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
> काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

म०—अथ कविःकाव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्तिं श्लोकबन्धेनाह—श्रीहर्षमिति । कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वज्रमणिःहीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामानं यं सुतं सुषुवे जनयामास, मामल्लदेवी नाम स्वमाता सा च यं सुतं सुषुवे, तस्य श्रीहर्षस्य यश्चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते 'शृङ्गारभङ्ग्या' शृङ्गाररसेन चारुणि निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्त इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ १४५ ॥

इति 'मल्लिनाथसूरि-विरचितायां समाख्यायां नैषधटीकायां
प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

अन्वय—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः श्री हीरः मामल्लदेवी च यं जितेन्द्रियचयं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयं आदिः सर्गः गतः ।

संस्कृत व्याख्या—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः = कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणिमौलीनां अलङ्कारः अलङ्कारभूतः हीरः वज्रमणिः, श्रीहरिः=श्री हीरो नाम पिता, मामल्लदेवी = एतदाख्या माता, च, यम् , जितेन्द्रियचयम् = जितः इन्द्रियचयः इन्द्रियसमूहः येन तादृशम् , श्री हर्षम् = श्री हर्षनामानम्, सुतम् = पुत्रम् , सुषुवे = जनयामास, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले = तस्य श्री हर्षस्य यः चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनं उपासना तस्य फले फलभूते, शृङ्गारभङ्ग्या=शृङ्गाररसवृत्त्या, चारुणि = रमणीये, नैषधीयचरिते=नैषधीयं नलसम्बन्धि चरितं विद्यते यस्मिन् एवंविधे [अथवा–निषधानां राजा नैषधः नलः तदीयचरिते नलचरितनामके], महाकाव्ये, अयम्, आदिः = प्रथमः, सर्गः, गतः = समाप्तः ।

हिन्दी-अनुवाद—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः = श्रेष्ठकवियों की पंक्ति के मुकुटों के आभूषणस्वरूप हीरे (के सदृश), श्री हीरः=श्री हीर (नामक पिता तथा), मामल्लदेवी च=और मामल्लदेवी (नाम की माता) ने, यम् = जिस, जितेन्द्रियचयम्=सम्पूर्ण इन्द्रियों के विजेता, श्रीहर्षं सुतम् = श्री हर्ष नाम के पुत्र को, सुषुवे=उत्पन्न किया, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले = उसके चिन्तामणि नामक मन्त्र की उपासना के फलस्वरूप, शृङ्गारभङ्ग्या=शृंगार रस की प्रधानता से, चारुणि = मनोहर, नैषधीयचरिते = नैषधीयचरित नामक, महाकाव्ये = महाकाव्य में, अयम् = यह, आदिः = प्रथम, सर्गः, गतः = समाप्त हुआ ।

व्याकरण—नैषधीय = निषधानां राजा नैषधः (नलः), तस्य इदं नैषधीयम्—नैषध + छ ("वृद्धाच्छः" सूत्रसे) तदनन्तर छ के स्थान पर "ईय्" आदेश होकर।

समास—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः = कवीनां राजानः कविराजाः, कविराजानां राजिः इति कविराजराजिः, तस्याः मुकुटानि—इति कविराजराजिमुकुटानि, तेषां अलङ्कारहीरः अलङ्कारभूतः हीरः (मध्यलो० स०)—इति। **जितेन्द्रियचयम्** = जितः इन्द्रियचयः येन तादृशम्। **चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले** = चिन्तामणिमन्त्रस्य ब्रह्मणः मन्त्रस्य चिन्तनं उपासना तस्य फले। **नैषधीयचरिते** = निषधानां राजा नैषधः, तस्य इदं नैषधीयम्, नैषधीयं चरितं यस्मिन् तत् नैषधीयचरितम्—तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः = श्रेष्ठकवियों के समूह के मुकुट के अलङ्कारभूत हीरकमणि के सदृश (अर्थात् अतिश्रेष्ठ एवं सुयोग्य महाकवि)। **श्री हीरः** = महाकवि श्री हर्ष के पिता का नाम श्री हीर था। **मामल्लदेवी** = यह श्री हर्ष की माता का नाम था। **जितेन्द्रियचयम्** = जिसने इन्द्रियसमूह (अथवा सभी इन्द्रियों) पर विजय प्राप्त कर ली थी ऐसे। **सुषुवे** = उत्पन्न किया। **चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले** = चिन्तामणि नामक मन्त्र के चिन्तन के फलस्वरूप। अर्थात् महाकवि श्रीहर्ष ने चिन्तामणि नामक मन्त्र का चिन्तन किया था और उसके फलस्वरूप इस महाकाव्य का निर्माण हुआ था। **शृङ्गारभङ्गया** = शृंगार रस (की प्रधानता) से परिपूर्ण। **नैषधीयचरिते** = निषध देश के राजा नल से सम्बन्धित "नैषधीयचरित" नामक महाकाव्य में। **गतः** = समाप्त हुआ।

उक्त श्लोक में महाकवि श्री हर्ष ने अपने माता-पिता का परिचय दिया है। उनके पिता का नाम श्री हीर तथा माता का नाम मामल्लदेवी था। श्री हीर श्रेष्ठकवियों के मुकुट की मणि के सदृश थे। महाकवि श्रीहर्ष को "चिन्तामणि" नामक मन्त्र सिद्ध था जिसके फलस्वरूप उन्होंने "नैषधीयचरित" नामक महाकाव्य की रचना की।

छन्द—इस अन्तिमवृत्त में शार्दूलविक्रीडित" नामक छन्द है। **लक्षण—** "सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्"। अर्थात् यह १९ वर्णों का

वृत्त है। इसमें १२,७ पर विश्राम होता है। इसमें क्रमशः "मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण" और गुरु वर्ण आते हैं।

मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण, गुरु

रूप— ऽऽऽ ।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ऽऽ। ऽऽ। ऽ

श्री हर्षं कविरा जराजि मुकुटा लङ्कार हीरः सु तम्।

श्री हीरः सुषुवे जितेन्द्रि यचयं मामल्ल देवी च यम्॥ इत्यादि।

इत्युत्तरप्रदेशस्थ 'मैनपुरी' मण्डलान्तर्गत 'महावतपुर' ग्रामनिवासिनः

श्रीमतो दयानन्दमहोदयस्य श्रीमत्याः सुखदेव्याश्च तनुजनुषा

वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधीतविद्येन,

पी० एच० डी० इत्युपाधिधारिणा

आचार्यसुरेन्द्रदेवशास्त्रिणा

विरचिता "आशुबोधिनी" व्याख्या समाप्ता।

॥ समाप्तश्चायं प्रथमः सर्गः॥

श्लोकानुक्रमणिका